अनेकान्तवाद

एक समीक्षात्मक अध्ययन

181·4
DOS

डॉ० राजेन्द्रलाल डोसी

Rashtriya Sanskrit Sansthan

(Under the auspices of the Ministry of Education and Culture, Govt. of India)

Delhi

Ganganatha Jha

Kendriya Sanskrit Vidyapitha

STUDIES

General Editor

Dr. G. C. Tripathi

No. 1

ANEKĀNTAVĀDA

(The Theory of Anekānta : A critical study)

by

Dr. Rajendralal Dosi

ALLAHABAD

1982

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(केन्द्रीयशिक्षामन्त्रालयस्याङ्गभूतम्)
देहली

—•—

गंगानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठप्रबन्धमाला
प्रधानसम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

—•—

प्रथमं प्रसूनम्

अनेकान्तवाद : एक समीक्षात्मक अध्ययन

लेखकः
डॉ० राजेन्द्रलाल डोसी

—•—

गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्
चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क
प्रयागः-२

अनेकान्तवाद

एक समीक्षात्मक अध्ययन

(आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, हरिभद्र एवं यशोविजय के विशेष संदर्भ सहित)

लेखक

डॉ० राजेन्द्रलाल डोसी

एम० ए०, पी-एच० डी०

न्यायशास्त्री, व्याकरण-साहित्य विशारद

न्याय-जैनन्याय-साहित्य तीर्थ

LIBRARY
Accession No. F 1137
Classification No.
AC Date 19-2-58
p.56F

गंङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठ

चन्द्रशेखर आज़ाद पार्क

इलाहाबाद–२

१९६२

समर्पण

पंडितरत्न श्रीपादशास्त्री हसूरकर

न्यायतीर्थ, वेदान्ततीर्थ, मीमांसातीर्थ, सांख्यसागर

गुरुवर्य,

आपने समस्त भारतीय दर्शनों का समन्वय की भावना पूर्वक
यथार्थ ज्ञान देकर मुझमें पदार्थों को वास्तविक रूप में
देखने की शक्ति रूप सम्यग्दृष्टि प्रदान की, जिस
दृष्टि के परिणाम स्वरूप यह शोध ग्रन्थ
अप्रतिबद्ध भाव से तुलनात्मक अध्य-
यन करके लिखने में समर्थ हो
सका हूँ। अतः यह शोध
ग्रन्थ आपको ही
समर्पित
करता हूँ।

त्वदीयं वस्तु श्रीपाद, तुभ्यमेव समर्पये

श्रीमच्चरण चंचरीक
राजेन्द्र लाल डोसी

आमुख

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैन आगम निश्चय और व्यवहार इन दो धर्मचक्रों पर आरूढ़ होकर मार्गदर्शन कराता है। जब वह व्यवहार का आश्रय लेता है, जब 'स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति', 'स्याद् अवक्तव्य' इत्यादि अनेकान्त वस्तु धर्म का उत्तम प्रतिपादन करता है। यह प्रतिपादन संसार के सविकल्प दृष्टिकोण से समीचीन है। निश्चय रूप से निर्विकल्प अवस्था में आत्मा के समुपासन को सर्वोपरि निरूपण करता हुआ भी अपने आप में पूर्ण है।

यह अनेकान्तवाद 'स्यात्' पद से व्यक्त किया जाता है और वस्तुनिष्ठ अनंतता का प्रकाशक है, क्योंकि सामान्य से सामान्य वस्तु में, रजःकण में भी अनेक गुण धर्म विद्यमान हैं। अनेकान्तवाद स्याद्वाद वस्तु एवं तत्त्वज्ञान का यथार्थ निर्णायक है। सर्वोच्च न्याय (Full Bench) उसकी तुला है, जिसकी माप कभी अशुद्ध नहीं होती। सच यह है कि अनेकान्तवाद विश्व-जीवन का निष्पक्ष निर्णायक है। उसके निर्णय पक्ष-विपक्ष के मोह के ऊपर उठ कर होते हैं। यही उसका गौरवपूर्ण शानदान अध्याय है।

अनेकान्त दर्शन अहिंसा को पुष्ट करने वाली विचारधारा है। अनेकान्त का अभिप्राय है—अनेक धर्म वाला पदार्थ। वस्तु सर्वधर्ममय नहीं, अनेक धर्ममय है। उसे सर्वथा एक धर्मात्मक भी नहीं कहा जा सकता। यथा—अग्नि, जल, आदि। अग्नि ज्वलनशील है, प्रकाशप्रद है, उष्ण आदि गुण वाली है। जल

शीतल है, प्रवाहयुक्त है, रूप, रस, गंध, वर्णयुक्त है, भारी है, हल्का है, पुद्गल है इत्यादि। प्रत्येक पदार्थ इसी प्रकार विविध स्वधर्म गुणों का निकाय है। यदि उसे किसी एकधर्म से अविच्छिन्न और कूटस्थ माने तो इतर विद्यमान धर्मों को अस्वीकार करना होगा। स्वीकारने अथवा अस्वीकारने मात्र से पदार्थों का निर्णय सिद्ध नहीं होता। जब वस्तु स्वयं अपने अनेक धर्मों की विद्यमानता का डिंडिम-घोष कर रही है, उसे नकारने का आयुक्त साहस कौन करेगा। धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्तिक न्याय ग्रंथ में इस बात को स्वीकार किया है— 'यदिदं स्वयमर्थानां' रोचते तत्र के वयम् ? २-२०८'। 'यदि पदार्थों को स्वयं यह अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष बताने वाले कौन होते हैं ?' अनेकान्त दर्शन इसी वस्तुगत सद्भूत मान्यता पर अवस्थित है। उस अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के वाचिक विधान को 'स्याद्वाद' कहते हैं।

'स्यात्' विधिपरक अव्यय है। एकवाक्य में जब वस्तु के अनेक धर्मों का कथन नहीं किया जा सकता, तब उसके निर्वचन व्यवहार को अबाधित करने के लिये 'स्यात्' पद की योजना सहायक सिद्ध होती है। जैसे—यह मणि है, प्रकाशमान है, शुक्लवर्ण, बहुमूल्य है, आदि। मणिगत, इन स्वधर्मों को भी युगपत् (एक साथ) कहना शक्य नहीं। 'स्यात्' जिसका अर्थ 'कथंचित्' (किसी एक अपेक्षा-दृष्टिकोण से) होता है, इन अनेक धर्मों की अभिव्यक्ति में साहाय्यकारी होता है। स्यात् यह प्रकाशमान है, 'स्यात्' यह बहुमूल्य है।

पदार्थ के साथ इस स्यात् पद के सात भंग हैं। इन भंगों को 'सप्तभंग' कहते हैं। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यावद्क्तव्यं इत्यादि आपेक्षिक भंगों द्वारा पदार्थ स्थित अनेकान्त को स्फुट करना सप्तभंग का विषय है। इस अनेकान्त दर्शन से मनुष्य सद्विचार का आविर्भाव होता है और पूर्वाग्रह अथवा एकान्त हठवाद का अन्त हो जाता है। अनेकान्त दृष्टिमान् यह विचारता है कि पदार्थ में एक मात्र वही गुणधर्म नहीं है, जिसे मैं जानता हूँ, अपितु दूसरा व्यक्ति उसमें जिस

अपर गुण की स्थिति बता रहा है, वह भी उसमें है। यह विचारों की प्राजंलता, दर्शन की व्यापकता तथा सहिष्णुता को प्रसारित कर समन्वय मार्ग को प्रशस्त करता है।

'स्यात् यह कौव्वा काला है' इस पद में 'स्यात् पद होने से कव्वे के शरीर में और विभिन्न गुण (जैसे रक्त लाल है, हड्डी सफेद है) वक्ता के विवक्षित विषय न होने से गौण हो जाते हैं और विवक्षित काला रंग मुख्य हो जाता है। 'स्यात् पद सुनिश्चित वाचक है और अपेक्षा को लिये हुये है संशयवाचक नहीं।' स्याद्‌वाद—'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से बना है। 'स्यात्' विधि लिंग में बना हुआ तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। न तो यह 'शायद' न सम्भावना और न कदाचित् का प्रतिपादक है किन्तु 'सुनिश्चित' दृष्टिकोण का वाचक है (A particular point of view).

जैन तत्त्वज्ञान के बारे में डा० सम्पूर्णानन्दजी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—(जैन धर्मावलंबियों की संख्या भी बहुत थोड़ी है फिर भी इनकी परम्पराओं ने भारतीय तत्त्ववेत्ताओं के मन पर गहरी छाप लगाई है, और न केवल आस्तिक विचारों को अपने सिद्धान्तों में संशोधन परिवर्तन करने के लिये ही बाध्य किया है, प्रत्युत ये दर्शन हमारी सार्वजनिक विचारधारा के अभिन्न अंग बन गये हैं। किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि केवल कुछ भारतीय पंडित ही इन दर्शनों का अनुशीलन करते हैं।)

पदार्थ विचार तथा यथार्थ तात्विक निर्णय स्याद्वाद द्वारा ही होता है। एक ही दृष्टिकोंण से विचार करना जहाँ पारस्परिक विवाद का मूल कारण रहता है, वहीं वह अधूरा एवं असत्य भी रहता है, ये त्रुटियाँ स्याद्वाद से दूर हो जाती हैं।

धर्मानुरागी श्री डा० राजेन्द्रलाल डोसी का अनेकान्तवाद अन्वेषणात्मक

प्रसूत प्रबन्ध पढ़ने से ज्ञानगरिमा का सहज ही परिचय मिलता है। वर्णवर्तिका पर उनका अधिकार प्राप्त है। पुस्तक अनुसन्धानात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली में लिखी है। अनेकान्तवाद अन्धविश्वास को सहज निराकरण करता है। अतः छद्मस्थों को आंशिक सत्य का साक्षात्कार कराता हुआ पूर्ण सत्य की ओर ले जाने में मदद करता है। इस शोध प्रवंध से अनेक नवीन रहस्यों पर प्रकाश पड़ेगा। इस कृति के विद्वान लेखक को अनेक शुभाशीर्वाद।

मुनि विद्यानन्द
मुडबिड्री जैनमठ
(कर्नाटक)

अनेकान्तवाद :
एक समीक्षात्मक अध्ययन

भूमिका

गंभीर शास्त्रीय पठन एवं चिन्तन के बाद अनेकान्त के बारे में दो बातों की जानकारी मिलती है—अनेकान्त के सदृश या समानधर्मा विचारधारा और अनेकान्तवाद। अनेकान्त की विचारधारा बहुत प्राचीन एवं व्यापक है। वेद, उपनिषद्, अन्य दर्शनों, अन्य वैचारिक संप्रदायों, परवर्ती चिन्तकों और परवर्ती दार्शनिक संप्रदायों में भी यह विचारधारा अथवा इसके समानधर्मा विचारों का उल्लेख देखने में आता है। इसका उनके प्रसंगों पर प्रबन्ध में विचार किया गया है।

इसका नामकरण, व्याख्या, अन्वेषण द्वारा इस तत्त्व की अलग से स्थापना जैन दर्शन ने की है। तभी से इसका नाम अलग से अनेकान्तवाद हुआ। जैन दर्शन का और अनेकान्तवाद का निकटतम सम्बन्ध है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन का प्राण है। इसीलिये उस दर्शन का नाम ही अनेकान्तदर्शन हो गया है।

अनेकान्त की विचारधारा चाहे जितनी प्राचीन हो, या व्यापक रही हो, जैन दर्शन के विशिष्ट विचार के रूप में स्थापित होने के बाद आज तक अनेकान्तवाद दर्शन क्षेत्र में अथवा इसके बाहर के क्षेत्रों में भी विचित्र रूप में देखा जाता रहा है। यह बात आश्चर्यजनक एवं विचारणीय है जब तक यह विचारधारा के रूप में रही, तब तक इसका विरोध नहीं हुआ, परन्तु जब से यह वाद के रूप में मानी जाने लगी, तब से इसका बहुत एवं दृढ़ रूप से विरोध किया जाने लगा। कारण इसका कुछ भी रहा हो, किन्तु यह बात स्पष्ट है। इसकी प्रतिकूल आलोचनाएँ प्राचीन प्रकांड विद्वानों ने की है और नये विद्वान भी आलोचनाएँ करते हैं।

ऊपर लिखे अनुसार यह व्यापक विचारधारा रही है, और है, अनेकों ने स्थान-स्थान पर इसके सदृश विचारधारा बतलाई है। इससे इस विचारधारा की उपादेयता स्पष्ट है। इस उपादेयता को विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से प्रकाश में लाना और इसके विरोधी तर्कों एवं जैनाचार्यों द्वारा किये गये समाधान की समीक्षा करना आवश्यक है।

आधुनिक युग में इस सिद्धान्त की अनेक परिवेशों में उपादेयता है। इस पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। इस वाद के विषय में विद्वानों में बहुत विचार भ्रम है, उसे दूर कर इसके यथार्थ स्वरूप को सबके सम्मुख रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। अतः इस विषय पर शोध कार्य करना उपयुक्त प्रतीत हुआ।

इस पर प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने पर्याप्त लिखा है, किन्तु जो विरोधी तर्क एवं समाधान यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं, उनको व्यवस्थित रूप से एकत्र कर प्रकाश में लाना भी आवश्यक है। इनमें कुछ विरोधी तर्क नये हैं, उनका भी समाधान ढूंढना उपयोगी होगा। इन सब दृष्टियों से इस विषय को ग्रहण करना समीचीन समझा गया।

अन्य दर्शनों तथा विचारकों के लेखों में अनेकान्त दृष्टि एवं अनेकान्त के समान धर्मा उल्लेख मिलते हैं। उनको भी प्रकाश में लाना बहुत ही आवश्यक अनुभव हुआ। यह बात अलग है कि जिनकी विचार धाराओं में उपर्युक्त बातें मिलती हैं, उन्होंने अनेकान्त को उसके मूल रूप में अधीन किया या नहीं। स्वाभाविक रूप से आवश्यकता पड़ने पर स्थान-स्थान पर इसका उपयोग किया जाना स्पष्ट है।

इस कार्य की यह भी एक विशेषता है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द, समन्त-भद्र, सिद्धसेन, हरिभद्र एवं यशोविजय—इन गृहीत पाँच आचार्यों के विशेष सन्दर्भ में लिखा गया है। ये आचार्य जैन दर्शन के माने हुए उद्भट विद्वान् और अनेकान्त को विकसित करने वाले आचार्यों के रूप में बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

इन कारणों से इस विषय में शोध कार्य किया जाना उपयोगी प्रतीत हुआ, और यह कार्य पूर्ण तटस्थ वृत्ति से किया गया है।

प्रथम अध्याय में अनेकान्त का उद्भव, तथा इस दर्शन के प्रतिष्ठित उद्भट विद्वानों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में इस सिद्धान्त के स्वरूप का निर्धारण, विकास, प्राचीन आगमों में इसका स्वरूप तथा गृहीत आचार्यों द्वारा विवेचन प्रस्तुत किया गया

है। नय सिद्धान्त, नय के प्रकार, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि अनेकान्त के संबंधित विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में विभिन्न भारतीय दर्शनों के उद्भट विद्वानों के अनेकान्त विरोधी तर्कों को एकत्रित कर, उनकी तालिका देकर उनका क्रमशः विवेचन है।

आगे जैनाचार्यों द्वारा उनका जो समाधान यत्र तत्र उपलब्ध है, उन्हें क्रमशः व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ संभावित दोष, जिनका उल्लेख आचार्यों के विरोधी तर्कों में नहीं है, उनकी भी उद्भावना तथा समाधान विवेचित कर अनेकान्त की ग्राह्यता एवं उपादेयता निरूपित की गई है।

चतुर्थ अध्याय में विभिन्न दर्शनकारों के इस दृष्टि के अनुकूल विचार, इसके समानधर्मा उल्लेखों को उनके ग्रंथों से ढूंढकर उपस्थित किया गया है। इसी अध्याय में आगे, परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों एवं आधुनिक चिन्तकों पर अनेकान्त के प्रभाव को प्रकाश में लाया गया है।

पाँचवे अध्याय में आधुनिक युग में अनेकान्त की प्रासंगिकता पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है।

अन्त में उपसंहार के रूप में सम्पूर्ण सामग्री का पुनः आकलन किया गया है।

अनेकान्त पर महान् आचार्यों ने पर्याप्त लिखकर उसको पूर्ण विकसित किया है, ऐसी स्थिति में उस पर कुछ मौलिक स्थापना की सम्भावना अत्यल्प है।

इस अध्ययन में अनेकान्त की विभिन्न दृष्टिकोणों से उपयोगिता और महत्व व्यवस्थित रूप से प्रमाणित एवं विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

अनेकान्त प्रत्येक व्यवहार के मूल में रहता ही है। ज्ञात और अज्ञात रूप में इस तथ्य को अनेक प्रकार से उपस्थित किया गया है। राजनैतिक क्षेत्र में भी अनेकान्त की उपयोगिता का प्रस्तुतीकरण, जैनेतर मतों में भी अनेकान्त की उपस्थिति, प्राचीनतम काल से उसकी उपलब्धि, अनेकान्त सम्बन्धी प्राचीन

तथा अर्वाचीन भ्रान्तियों पर विचार, अनेकान्त विरोधी उपलब्ध और सम्भावित तर्कों का विवेचन एवं समाधान, आधुनिकता तथा आधुनिक विद्वानों के संदर्भ में अनेकान्त तथा प्रमुख जैन आचार्यों के मंतव्यों का पर्याप्त अपेक्षित विश्लेषण का प्रयास आदि कदाचित् पहली बार इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से किया गया है।

इस कार्य में मुझे महीदपुर ज्ञान भंडार एवं इन्दौर के कांच मन्दिर के ऊपर स्थित ज्ञान भंडार से प्राचीन पुस्तकों, शास्त्रों आदि के पढ़ने का सुअवसर मिला तथा पूर्ण सुविधा मिली, इसके लिये महीदपुर के ज्ञान भंडार के व्यवस्थापकगणों तथा कांच मन्दिर के ज्ञान भंडार के व्यवस्थापक पं० नाथूलालजी का हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिये जिन-जिन पुस्तकों को पढ़ा, उनसे सन्दर्भ लिया और जिनकी प्रेरणा से मुझमें यह दृष्टिकोण आया, उन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

डा० श्रीनाथ हसूरकर, प्राचार्य शासकीय महाविद्यालय, धार की प्रेरणा से यह कार्य सम्पन्न हुआ, इसके लिये हृदय से उनका आभार मानता हूँ।

डा० कृष्णकान्त चतुर्वेदी जी, रीडर संस्कृत, पालि की हृदय से कृतज्ञता का अनुभव करता हूँ, जिन्होंने अपने परिष्कृत दृष्टिकोण से आवश्यकतानुसार हर समय मार्गदर्शन किया।

श्री परमपूज्य सद्धर्मरत्नाकर सिद्धान्त चक्रवर्ती एलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी महाराज का अत्यंत कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पदयात्रा में रत रहते हुए भी मेरी प्रार्थना पर प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना लिखकर भेजी।

अन्त में मैं गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग के प्राचार्य डा० गया चरण त्रिपाठी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपने विद्यापीठ की अध्ययन-माला के प्रथम पुष्प के रूप में इसे प्रकाशित करके मेरा तथा ग्रंथ का सम्मानवर्द्धन किया है।

विनम्र,

राजेन्द्र लाल डोसी

विषय-सूची

अध्याय —१

आचार्य के अन्य नाम, परिचय, प्रो० चक्रवर्ती द्वारा लिखित जीवन गाथा। पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा वर्णित जीवन गाथा, प्रथम जीवन गाथा की प्रामाणिकता, आचार्य द्वारा प्राप्त सिद्धि, संशय के निवारण में उसका उपयोग, आचार्य का समय, कृतियाँ, समयसार में आत्मा के विवेचन की विशेषता, आचार्य की प्रतिभा एवं विद्वता, आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य शंकर के द्वारा आत्मतत्व के विवेचन का साम्य।

आचार्य समन्तभद्र, युगसंस्थापक आचार्य, परिचय, जीवनवृत्त, समय, कृतियाँ, कृतियों का परिचय, प्रतिभा, वैदुष्य एवं वाद-विवाद विद्या में निपुणता।

आचार्य सिद्धसेन, जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप देकर उसका विकास करने वाले, वाद निपुण, बड़े कवि, जीवन वृत्त, दिवाकर पदवी के धारक, समय, कृतियाँ, अन्य दर्शनों के खंडन कर्तृत्व को त्याग कर, स्वदर्शन के निरूपणात्मक शैली के प्रमुख पुरस्कर्ता, वेदवाद द्वात्रिंशिका—वेद मान्य तत्त्वज्ञान के रचयिता।

आचार्य हरिभद्र, दर्शनों में समभाव के साथ समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने वाले प्रथम दार्शनिक आचार्य, जीवन वृत्तान्त, समय, जैन साध्वी याकिनी के सूनु रूप में अपने को मानने वाले, विशेषताएँ, गुणग्रहणवृत्ति के धारक अद्वितीय विद्वान्, अन्य दार्शनिक वादों की परिभाषाओं को उदात्त एवं व्यापक अर्थ प्रदान कर समन्वय मार्ग में योजित करने वाले, उदात्त दृष्टि, असांप्रदायिक दृष्टि के सर्वप्रथम एवं अद्वितीय रूप से पुरस्कर्ता, दर्शनों में तुलनात्मक दृष्टि के प्रथम प्रयोजक, मतैक्य के अधिकाधिक समीप पहुँचने के अनुपम

प्रयत्नकर्ता, परवाद के पुरस्कर्ताओं के प्रतिबहुमान एवं आदरभाव के प्रस्तोता, विभिन्न वादों में अन्तर मिटाने का कौशल, रचनाएँ।

आचार्य यशोविजय, जैन दर्शन में नव्यन्याय शैली के प्रवर्तक, समन्वय के पोषक, जीवन वृत्त, कृतियाँ, प्रतिभा एवं विद्वता, अन्य दर्शनों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण समन्वयात्मक दृष्टि।

अध्याय—२

ग्रहीत आचार्यों से भिन्न, अनेकान्त के मूल स्तंभ, अनेकान्त वैचारिक अहिंसा का विकसित रूप, तत्वान्वेषक के गुण, पूर्वकालिक दर्शन क्षेत्र की परस्पर विरोधी दृष्टि का मूल, पारस्परिक रागद्वेष एवं संघर्ष के शमन के लिये अनेकान्त, वस्तु के विराट् स्वरूप को जानने का प्रकार, अनेकान्त शब्द का अर्थ, अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद की विभिन्नता और एकता, स्याद्वाद के दो अर्थ, 'स्यात्' शब्द का स्वरूप और व्याख्या, धर्म और गुण का भेद, वस्तु में अनन्त धर्म, वस्तु के स्वरूप एवं गुण की नित्यता तथा पर्यायों की अनित्यता, वस्तु के दर्शन के अनुसार कथन में स्यात् शब्द की आवश्यकता, अनेकान्तमयी वस्तु के कथन की पद्धति का नाम स्याद्वाद, अनेकान्त में भी अनेकान्त, अनेकान्त दृष्टि में संभाव्यमान धर्म ही द्रष्टव्य, वस्तु धर्म को देखकर पूर्ण सतर्कता के साथ अनेकान्त का प्रयोग करने की अनिवार्यता, अन्यथा मूलनाश की संभावना, स्याद्वाद की केवल ज्ञान से तुलना, उत्पादादि त्रयात्मकता वस्तु के प्राण, वस्तु की त्रयात्मकता की पातंजल महाभाष्य, योगभाष्य आदि में मान्यता का कथन, अनेकान्त का विकास, ग्यारह अंग एवं दृष्टिवाद के संबंध में

श्वेतांबर तथा दिगंबर संप्रदाय की मान्यता, अंगों की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप, समवायांग सूत्र में अनेकान्त का स्वरूप, भगवती सूत्र में अनेकान्त का स्वरूप, नंदी सूत्र में अनेकान्त का स्वरूप, संबंध के दो प्रकार, वस्तु में अस्तित्व के साथ नास्तित्व का भी संबंध, वस्तु का स्वपर्याय के साथ परपर्याय का भी संबंध, वस्तु की सामान्य विशेषात्मकता, उभयरूप में ही अर्थ क्रिया का संभव ।

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप, समयसार आत्मा के निरूपण में अनेकान्त दृष्टि, प्रवचन सार में आत्मा की त्रयात्मकता, निश्चयनय की भूतार्थता, व्यवहारनय की अभूतार्थता, व्यवहार के अभूतार्थ होने पर भी व्यवहार की आवश्यकता, निश्चय एवं व्यवहारनय से श्रुतकेवली का अर्थ, शुद्ध नय से आत्मा का शुद्ध रूप, व्यवहार नय से आत्मा का बद्धादि अशुद्ध रूप, आत्मा में अद्वैत एवं द्वैत की भावना, निश्चय नय से आत्मा की सच्चिदानंदमय एवं एक, व्यवहार नय से आत्मा मलिन एवं अनेक, संसार का कारण अज्ञान, समीक्षा ।

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप, प्रत्येक वस्तु में सत्त्व एवं असत्त्व की विद्यमानता, एकान्त सत्त्व एवं असत्त्व मानने में दोष, बौद्ध दर्शन की मान्यता, सांख्य दर्शन की मान्यता, अनेकान्त-दर्शन दोनों में सामंजस्य देखता है, न केवल द्रव्य ही वस्तु है, न केवल पर्याय ही वस्तु है, अपितु उभयात्मक तत्त्व है, सप्तभंगी ।

आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप, अन्य आचार्यों के समान अनेकान्त का स्वरूप, वस्तु के तीन प्रकार, द्रव्य, गुण, पर्याय, द्रव्यास्तिक एवं पर्यायास्तिक नय की तरह गुणा-

स्तिक नय की प्रसक्ति की अशंका, इसका निराकरण, आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य सिद्धसेन की उक्ति में अन्तर की आशंका, इसका निराकरण, भट्ट अकलंकदेव का मत, गुण शब्द अन्य दर्शनकारों का है, जैन दर्शन के अनुसार दो ही तत्त्व द्रव्य एवं पर्याय, दोनों आचार्यों के मत की अभिन्नता, अनेकान्त की व्यापकता, अनेकान्त में भी अनेकान्त, अनेकान्त में सप्तभंगी नय की व्याप्ति, अनेकान्त को व्यापक मानने में दोष, उसका परिहार, वस्तु की त्रयात्मकता का भिन्न काल एवं अभिन्न काल में होना।

आचार्य हरिभद्र की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप, वस्तु में सत्त्वासत्त्व, स्व और पर पर्यायों का वस्तु से सम्बन्ध वस्तु की त्रयात्मकता, त्रयात्मकता एवं सत्त्व एक ही वस्तु है, वस्तु का त्रयात्मकता साधक अनुमान, उत्पाद, विनाश एवं ध्रौव्य का अर्थ, तीनों की परस्पर सापेक्षता, अन्य प्रकार से वस्तु की त्रयात्मकता की सिद्धि।

यशोविजयजी की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप, निश्चय के साथ व्यवहार नय की भी प्रतिष्ठा, दोनों की आवश्यकता का प्रतिपादन, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अविनाभावि हैं, तीनों का विवेचन त्रयात्मकता ही वस्तु हैं, परस्पर विरोध का परिहार, जैन दर्शन के अनुसार नित्यत्व का अर्थ, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के विभिन्न अवच्छेदक, विभिन्न अवच्छेदक की अपेक्षा विरोधी धर्मों के एकाधिकरण में विरोध का अभाव न्यायदर्शन में भी अभिमत है, अनेकान्त में भी अनेकान्त मानने में अनवस्था दोष का परिहार, अनेकान्त में भी अनेकान्त की नव्य शैली से सिद्धि, नय की एकान्त बुद्धि में भी अनेकान्त रहता है, अनेकान्त दृष्टि से माध्यस्थ्य भावना की उत्पत्ति, यह दृष्टि सर्व दर्शनों में समानता देखती है।

तुलनात्मक समीक्षा

आचार्य कुन्दकुन्द के मत में निश्चय नय के द्वारा ही चिन्तन की आवश्यकता, सिद्धन्ताचार्य कैलाशचन्दजी के विचार, नय के विषय में शास्त्रीय दृष्टि व आध्यात्मिक दृष्टि से विचार, नयों के निरूपण में बतलाये गये दो प्रकारों का विवेचन, चिन्तन में दोनों की उपयोगिता, निश्चय एवं व्यवहार—इन दो दृष्टियों का विवेचन, निश्चयनय अद्वैत का व व्यवहारनय द्वैत का पोषक, आचार्य कुन्दकुन्द की निश्चय दृष्टि से आत्मा की व्याख्या, अद्वैत दर्शन से समानता, यशोविजय द्वारा कुन्दकुन्द के समर्थक होकर भी व्यवहार नय की आवश्यकता को मान्यता, आचार्य समन्तभद्र की समीक्षा, आचार्य सिद्धसेन के विवेचन की समीक्षा, आचार्य हरिभद्र के विचारों की समीक्षा, आचार्य सिद्धसेन समन्वय की कल्पना के जनक, आचार्य हरिभद्र उसको पूर्ण विकसित करने वाले, आचार्य यशोविजय नव्य-युग के प्रतिनिधि, नव्यन्याय शैली में अनेकान्त का प्रतिपादन, नव्य शैली द्वारा परिष्कृत रूप से अपने मंतव्य का स्पष्टीकरण, नव्यशैली द्वारा प्रतिपादन में शंका की गुंजाइश का अभाव, यशोविजय भी समन्वय दृष्टि के अनुपम समर्थक अनेकान्त में नित्यत्व-अनित्यत्व की मर्यादा, अनेकान्त के प्रयोग की मर्यादा, इसके प्रयोग में पूर्ण जागरुकता की आवश्यकता।

नय [पृष्ठ १२०–१३८]

नय की आवश्यकता, नय का विकास, जैन दार्शनिकों की विविध मतों में सामंजस्य की ओर दृष्टि, अन्य दार्शनिकों से मतैक्य की ओर प्रवृत्ति, नय सिद्धान्त की समयानुकूल व्याख्या, अन्य दर्शनों का संबंध नय के सिद्धान्त से जोड़ना, नय एक ही वस्तु के

जानने के नाना तरीके, इस नानात्व में विरोध का अभाव मानना, नयों का विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से साम्य होने से पारस्परिक विरोध के शमन का प्रयत्न, इस प्रयत्न में आचार्य सिद्धसेन की अग्रसरता, नय में रत्नावलि का दृष्टान्त, नय का समुदाय अनेकान्तवाद, आचार्य हरिभद्र द्वारा नयवाद के विकास में योगदान, दर्शनों के विरोध को दूर करने में उनका दृष्टिकोंण और अपेक्षित संशोधन, नय का स्वरूप, उनका अनेकान्त दर्शन में स्थान, प्रमाण सर्वग्राही, नय अंशग्राही, नय प्रमाण तक पहुँचने की सीढ़ी, बाद में अनेकान्त को सर्वनयात्मक मानने की मान्यता।

नयों के प्रकार, प्रारम्भ में नय के दो प्रकार, उन्हीं के सात भेद, सात नयों की अलग अलग व्याख्या, दुर्नय की व्याख्या, अन्य दर्शनों के 'ही' छोड़कर 'भी' अपना लेने के विरोध का शमन, सामंजस्य एवं समन्वय का मार्ग प्रशस्त होना, नयों का मंतव्य।

सप्तभंगी **[पृष्ठ १३८-१६२]**

सप्तभंगी, अलग-अलग संप्तभंगों की सिद्धि, प्रधान भंग दो हैं, उन्हीं का विकास ७ है, भंग सात ही हो सकते हैं, भंगों का साहित्यिक इतिहास, ऋग्वेद काल में, उपनिषत् काल में, बुद्धकाल में, संजयवेलट्ठिपुत्त का मत, जैन आगमों में भी चार विकल्प से वर्णन, अवक्तव्य के दो प्रकार, प्रथम ऋग्वेदकालीन, द्वितीय उपनिषत्कालीन, अवक्तव्य को तीसरा स्थान इतिहास की दृष्टि से संगत, आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन इस पक्ष को मानने वाले, अवक्तव्य को चौथा स्थान के पक्ष को मानने वाले आचार्य देवसूरि व मल्लिषेण, आचार्य समन्तभद्र व कुन्दकुन्द दोनों पक्षों के वर्णनकर्ता, भगवती सूत्र में एक जगह तीन भंग, वहाँ अवक्तव्य को तीसरा

स्थान, अन्यत्र सात भंगों का प्रयोग, स्यात् अनेकान्त प्रतिरूपक अव्यय, इसका अर्थ अनेकान्त, प्रत्येक भंग में एवकार का प्रयोग, सप्तभंगी का अर्थ, उसके सात वाक्य, भंगों के वाक्यार्थ व शाब्द-बोध, सप्तभंगी के प्रकार, सकलादेश, विकलादेश, इनके अर्थ, कालादि आठ के स्वरूप, अभेदोपचार में प्रमाणत्व आरोपित नहीं है, प्रथम मत में विकलादेश में स्यात् का प्रयोग नहीं, दूसरे मत में उसका प्रयोग, अस्तिपद की सार्थकता।

अध्याय—३

(अ) भारतीय दर्शनों में अनेकान्त विरोधी तर्क [पृष्ठ १६३–१९२]

स्थूल दृष्टि से अनेकान्त में भ्रम, आचार्य धर्मकीर्ति के विरोधी अनेकान्त तर्क, आचार्य वसुबंधु के विरोधी तर्क, आचार्य कर्णकगोमि के विरोधी तर्क, आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त के विरोधी तर्क, आचार्य अर्चट के विरोधी तर्क, आचार्य जयराशि भट्ट के विरोधी तर्क, आचार्य शान्तिरक्षित के विरोधी तर्क, आचार्य व्योमशिव के विरोधीतर्क, शंकराचार्य के विरोधी तर्क, आचार्य भास्कर के विरोधी तर्क, रामानुजाचार्य के विरोधी तर्क, निंवार्काचार्य के विरोधी तर्क, श्री निवासाचार्य के विरोधी तर्क, श्री कंठाचार्य के विरोधी तर्क, श्री कंठाचार्य के टीकाकार अप्पय दीक्षित के विरोधी तर्क, वल्लभाचार्य के विरोधी तर्क, विज्ञानभिक्षु के विरोधी तर्क, डा० सम्पूर्णानन्द के विरोधी तर्क, डा० बलदेव उपाध्याय के विरोधी तर्क, डा० राधाकृष्णन् के विरोधी तर्क, डा० देवराज के विरोधी तर्क, प्रो० हिरियन्ना के विरोधी तर्क, श्री दामोदरन के जैनाचार्यों द्वारा सम्भावित विरोधी तर्क—सन्मति तर्क व अभय

देवीय टीका के अनुसार, भट्ट अकलंक के अनुसार, आचार्य हरिभद्र के अनुसार, सप्तभंगीतरंगिणी के अनुसार, कुल आठ संभावित दोष, दोषों की तालिका ।

विरोधी तर्कों का मूल, धर्मकीर्ति के विरोधी तर्कों का समाधान, जयराशि भट्ट के तर्कों का समाधान, शान्तिरक्षित के द्वितीय तर्क का समाधान, कर्णकगोमि एवं शांतिरक्षित के अवशिष्ट तर्कों का समाधान, संशय की व्याख्या, विभिन्न जैन एवं अजैन आचार्यों के संशय के लक्षण, उनके अनुसार अनेकान्त की संशयरूपता का निराकरण, भास्कर के तर्कों का समाधान, रामानुज के तर्कों का समाधान, निम्बार्क के तर्कों का समाधान, निम्बार्क के टीकाकार श्री निवासाचार्य के तर्कों का समाधान, श्री कंठाचार्य के तर्कों का समाधान, अप्पय दीक्षित के तर्कों का समाधान, वल्लभाचार्य के तर्कों का समाधान, विज्ञानभिक्षु के तर्कों का समाधान, संभावित विरोधी तर्कों एवं दोषों का समाधान, संभावित दोष—वैयधिकरण्य, अप्रतिपत्ति, मिथ्यात्व-दोष, रूपान्तरप्रसक्ति, छल आदि दोषों का समाधान, डा० बलदेव उपाध्याय के तर्कों का समाधान, डा० राधाकृष्णन के तर्कों का समाधान, 'स्यात' शब्द का गलत अर्थ, उसका निराकरण, उसका वास्तविक अर्थ, डा० देवराज के तर्कों का समाधान, प्रो० हिरियन्ना के तर्कों का समाधान, दामोदरन के तर्कों का समाधान, डा० सम्पूर्णानन्द के कथन का समाधान, सन्मति तर्क के टीकाकार अभयदेव सूरि के सम्भावित तर्कों का उनके अनुसार समाधान, अनेकान्त के प्रयोग की मर्यादा ।

अध्याय—४

(अ) विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि [पृष्ठ २५९-२८९]

अनेकान्त दृष्टि का अर्थ—दृष्टि की समन्वयशीलता एवं विरोध परिहार, चार्वाक दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। बौद्ध दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। न्यायभाष्यकार एवं प्रशस्तपदाभाष्यकार ने इस दृष्टि को अपनाया है। सांख्य दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। योग दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। मीमांसा दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण मीमांसा दर्शन अनेकान्त दृष्टि की दृष्टि से अनेकान्त के अधिक निकट है, दोनों के उदाहरण। अद्वैत दर्शन में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। उपनिषद् के शांकर भाष्य में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। रामानुज वेदान्त में अनेकान्त दृष्टि उदाहरण। वल्लभ वेदान्त में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। सर्वदर्शनों में अनेकान्त दृष्टि के समान उदाहरण। वेद और उपनिषद् में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण। विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त के मूल बिन्दुओं के समानधर्मा उल्लेख। व्याकरण महाभाष्य में अनेकान्त दृष्टि, उदाहरण।

(आ) अनेकान्त का परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों एवं आधुनिक चिन्तकों पर प्रभाव [पृष्ठ २९०-३१६]

उपर्युक्त प्रभाव का दो प्रकार से होना, दोनों प्रकारों से विचार, व्याकरण-महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि के अनेकान्त के समानधर्मा विचारों के उल्लेख, पतंजलि के विचारों में स्पष्ट अनेकान्त का सादृश्य, भास्कर भट्ट का विवेचन अनेकान्त की विचारधारा के सदृश, आचार्य रामानुज के विचारों की अनेकान्त से तुल्यता, आचार्य

निंबार्क के अनेकान्त के समान विचार, श्रीनिवासाचार्य के अनेकान्त के समान कथन, आचार्य श्रीकण्ठ के तत्समानधर्माविचार, अप्पय दीक्षित के तत्सदृश विचार, आचार्य वल्लभ, आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनेकान्त के समान पदार्थ विवेचन, बलदेव उपाध्याय के अनेकान्त के समान, गीता की दृष्टि से समन्वयात्मक विचार, प्राचीन श्लोक का उदाहरण, हेमचन्द्र का श्लोक, इनमें अनेकान्त के विचारों के दर्शन, जर्मन दार्शनिक हेगेल के विचारों में अनेकान्त की समानधर्मता, रशियन विद्वान शर्बेत्सकाय के तत्समान कथन, संत कबीर की उक्ति में तत्समानता।

रामकृष्ण परमहंस के अनेकान्त के समान विचार, पश्चिम के प्रसिद्ध चिन्तक रोमां रोलां के अनुसार रामकृष्ण के तत्समानधर्मा विचार, स्वामी विवेकानन्द के तत्सदृश विचार, रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचारों में अनेकान्त की तुल्यता, महात्मा गांधी के विचारों में अनेकान्त की प्रभावशीलता, जवाहरलाल नेहरू के विचारों में स्पष्ट रूप से तत्समानता, रामधारी सिंह दिनकर के अनेकान्त सम्बन्धी विचार, दिनकर की दृष्टि से भारतीय संस्कृति में अनेकान्तवाद का महत्वपूर्ण स्थान, उनकी दृष्टि से व्यवहार में अनेकान्त की आवश्यकता, व भारत में उसका प्रभाव, उनके अनुसार अकबर की अनेकान्तवादिता, म० म० गिरिधर शर्मा के अनेकान्त सम्बन्धी विचार, डा० मंगलदेव शास्त्री के अनेकान्त के विषय में विचार, उनके द्वारा अनेकान्त का समर्थन, डा० सम्पूर्णानन्द द्वारा अनेकान्त के विचारों का पोषण, डा० आदित्यनाथ झा के विचारों से अनेकान्त की अन्य दर्शनों से समन्वय एवं सामंजस्य बिठाने में महान् उपयोगिता, डा० भगवानदास के द्वारा अनेकान्त दृष्टि का समर्थन, हरिमोहन भट्टाचार्य द्वारा स्याद्वाद एवं सप्तभंगी की उपादेयता पर प्रकाश, विनोबा भावे, काका कालेलकर द्वारा अनेकान्त दृष्टि का समर्थन।

• • •

प्रथम अध्याय

(अ) अनेकान्तवाद का उद्भव

सत्य की खोज-एक ऐसा विषय है, जो आदि काल से हर मानव के लिए आकर्षण का स्रोत रहा है। आदि काल में जब मानव सांसारिक वस्तुओं के ज्ञान से अपरिचित था, तब उसे जीवन में कई कठिनाइयाँ तथा कई समस्याएं उठ खड़ी मालूम हुईं। हिंसक जन्तुओं से अपनी तथा अपने परिवार की रक्षा का जब प्रश्न उठा, तब शस्त्र की खोज प्रारंभ हुई। उसी का क्रमशः परिणाम है—पत्थर के शस्त्रों से लेकर अणुबम तक के अस्त्रों का अन्वेषण। खोज का परिणाम नये-नये ज्ञान की उपलब्धि एवं नये-नये ज्ञान के आयाम हैं। इसी प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक क्षेत्रों में खोज प्रारम्भ हुई और उनके परिणाम आज हमारे सामने हैं। प्रत्येक क्षेत्र में ५० वर्ष पहले के विश्व से आज का विश्व बहुत ऊपर उठ चुका है।

गंभीर चिंतन से मालुम होता है कि सत्य याने यथार्थ ज्ञान। इसीलिए महर्षियों ने सत्य को ईश्वर का स्वरूप माना। ईश्वर सच्चिदानंदमय है। अतः सत्य और ज्ञान एक ही वस्तु के दो स्वरूप हैं। ज्ञान की खोज में मानव आदि काल से प्रयत्नशील है। आजतक सभ्यता की, संस्कृति की, ज्ञान की, विज्ञान की जो जो उपलब्धियां मानव को प्राप्त हुई हैं, वे सब इस खोज के फल हैं। आज विज्ञान चन्द्र पर और मंगल पर पहुँच गया, वहाँ के ज्ञान के लिये मानव तीव्र जिज्ञासु है। जिज्ञासा ज्ञान की खोज का मूल कारण है। सभी क्षेत्र में यही बात हैं।

ऊपर जो वर्णन हुआ है, वही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में या दर्शन के क्षेत्र में भी संलग्न होती है। दर्शन क्षेत्र में भी सत्य की खोज में आदि काल से मानव प्रयत्नशील है। कठोपनिषद् में नचिकेता की कथा है। नचिकेता ने प्रसन्न हुए यमराज द्वारा दिये गये तीन वरों में से अंतिम वर आत्मिक ज्ञान देने के लिए

मांगा[१]। यह भी सत्य की खोज का प्रकरण है। यम ने नचिकेता को कई सांसारिक सुख-भोग के साधन देने का बहुत प्रलोभन दिया, लेकिन नचिकेता अपने दृढ़ निश्चय से विरत नहीं हुए। अंत में यम ने उसे आत्मिक ज्ञान दिया।

इस कथा में एक महत्त्वपूर्ण तत्व यह प्रतीत होता है कि सफलता के लिए दृढ़ निष्ठा का होना अत्यन्त आवश्यक है। नचिकेता की निष्ठा दृढ़तम थी, वह किसी भी प्रलोभन या बहकावे में नहीं आया और निष्ठा पर दृढ़ रहा। उसको अपने ध्येय में सफलता मिली।

ऋग्वेद में नासदीय सूक्त, जिसको सृष्ट्युत्पत्ति[२] कहते हैं, प्रसिद्ध है। प्राचीन काल के महर्षि परम सत्य की खोज में संलग्न थे। वे चिन्तन में अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करके विचार करते हैं कि आखिरकार सत्य क्या है ? अभिप्राय यह कि आध्यात्मिक क्षेत्र या दर्शन क्षेत्र में भी प्राचीन काल से खोज का प्रयत्न चलता रहा है।

जैसे-जैसे खोज का कार्य आगे बढ़ता है, चिन्तन करते करते मन में कई समस्याओं का उदय होता है और वह जगत् के आपाततः प्रतीयमान रूप से, जिसमें कि उसे कई प्रकार की उलझनें प्रतीत होती है, संतुष्ट न रहकर उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये और उसके द्वारा अपनी उलझनों के समाधान के लिये प्रवृत्त होता है। इसी तथ्य का प्राचीन ग्रन्थों में 'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः[३]' इत्यादि शब्दों में प्रायः वर्णन किया गया है।

दर्शनों का विकास भी इसी खोज का सुफल है। भारतीय दर्शनों का जो समूह है, वह चिन्तन की क्रमिक खोज का इतिहास है। प्रारंभ में आध्यात्मिक खोज प्रारंभ हुई, उसका पहला परिणाम है भौतिकवाद। बाद में विश्व दृष्टि-कोण के रूप में आदर्शवाद का उदय तभी हुआ, जब समाज वर्गों में विभाजित हो गया था और बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम से अलग कर दिया गया था। जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है, श्रम का विभाजन वास्तव में उस क्षण से होता है, जब भौतिक और मानसिक श्रम में अंतर प्रकट हो जाता है। इस

---

१. कठोपनिषद् १।१।१ से २० तक।

२. ऋग्वेद मंत्र १०।१२९।१ से ७।

३. कठोपनिषद् २।१।१।

क्षण से ज्ञान-चेतना वास्तव में इस बात पर गर्व कर सकती है कि वह भी कुछ है, अर्थात् प्रचलित व्यवहार की चेतना से अधिक कुछ है। इस समय से चेतना ऐसी स्थिति में पहुँच जाती है कि वह संसार से अपने को पृथक् कर ले और शुद्ध सिद्धान्त, धर्मशास्त्र, दर्शन, नैतिकता इत्यादि की रचना की ओर आगे बढ़े।[1]

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वर्ग समाज में केवल आदर्शवाद विद्यमान था। नहीं, इसका अर्थ यह है कि भौतिकवाद केवल वर्गहीन समाज में विद्यमान था। प्रत्येक वर्गसमाज ने न केवल आध्यात्मिक विचारों को अपितु भौतिकवादी विचारों को भी जन्म दिया है। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर, अपने व्यावहारिक क्रिया कलाप में मनुष्य के लिए यह आवश्यक हुआ कि वह भ्रान्ति और यथार्थ के बीच अन्तर करे। अनेक महान् विचारकों ने समय-समय पर आदर्शवादी परिकल्पनाओं की अपर्याप्तता को और वस्तुगत यथार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता को लक्षित किया है। श्रेष्ठतर जीवन के लिए जनता की आकांक्षा, विभिन्न वर्गों के बीच मुठभेड़ें और टकराव प्रायः उनकी विचार धाराओं में परिलक्षित हुए हैं। भौतिकवाद के प्रबुद्ध सिद्धान्तों ने समाज की प्रगति को सामान्य रूप से और चिकित्सा, ज्योतिष, गणित इत्यादि विषयों की प्रगति को विशेष रूप से, सुगम बनाया।

इस प्रकार भौतिकवाद ने भारतीय इतिहास में एक प्रगतिशील भूमिका अदा की है। उसने सदा सामाजिक प्रगति का साथ दिया है और जीवन के प्रति प्रेम तथा मानवतावाद का पक्ष लिया है।

भारत के आदिकालीन दार्शनिक, जो उस समय रह रहे थे, जब दास प्रथा अपने उच्चतम बिन्दु तक पहुँच चुकी थी, और फलस्वरूप सामाजिक असंतोष तथा अव्यवस्था में वृद्धि हो रही थी; मानव दुःख और पीड़ा की समस्याओं के प्रति अत्यधिक चिन्तित थे, जैसे कि मनुष्य दुःख क्यों भोगता है? उसकी पीड़ा का वास्तविक कारण क्या है, उसे दूर अथवा कम कैसे किया जा सकता है?

इन विचारधाराओं ने तत्कालीन चिन्तकों की विचारधाराओं को अंतर्मुखी फलतः आध्यात्मिकता की ओर अभिमुख किया। क्रमशः वैचारिक विकास होता

---

१. मार्क्स और एंगेल्स : जर्मन आइडियालोजी पृ० २०।

गया और विभिन्न दार्शनिक प्रणालियां अस्तित्व में आईं। वे अध्यात्मवादी प्रणालियाँ कहलाईं।

भारत की वे महान् दार्शनिक प्रणालियां, जो सबके पहले दृश्य पट पर आईं, जैसे लोकायत, सांख्य, न्याय और वैशेषिक, सभी भौतिक वादी विचारों से अभिभूत थीं। ये सभी प्रणालियां विश्व के प्रति रहस्यवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध संघर्ष के दौरान उभरी थीं[1]। इनमें आध्यात्मिक चिन्तन के साथ साथ भौतिक चिन्तन भी प्रमुख था। सामान्य रूप से देखा जाय तो बौद्ध और अद्वैत वेदान्त को छोड़कर सभी दार्शनिक प्रणालियों में आध्यात्मिक चिन्तन के साथ साथ भौतिक चिन्तन भी देखा जाता है। इन दो प्रणालियों में यह चिन्तन गौण है।

इसका कारण है। ये दार्शनिक प्रणालियाँ आत्मा व आत्मिक विकास के साथ-साथ जगत् पर तथा जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध में भी विचार करती हैं। जगत् भौतिक है, अतः भौतिक चिन्तन भी उसमें समाविष्ट रहा।

इन दार्शनिक प्रणालियों में दो बातों का चिन्तन है। एक तो प्रमाण रूप में, जिसकी कि विचार में सर्वप्रथम आवश्यकता होती है, दूसरी प्रमेय के रूप में। प्रमाण के बिना प्रमेय पर विचार यथार्थ नहीं हो सकता। इसलिए प्रमाण पर प्रथम चिन्तन होना आवश्यक था। अतः सभी दार्शनिक प्रणालियों के चिन्तन में प्रमाण पर प्रमुख रूप से प्रथम चिन्तन है। इस चिन्तन से प्रमाणों का विकास हुआ।

प्रमाण का मतलब है—वस्तु के पूर्ण यथार्थ ज्ञान का कारण। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा ही हमें उसका ज्ञान होना, यथार्थ ज्ञान कहलाता है। दार्शनिक भाषा में उसको प्रमा कहा जाता है, यह प्रमाण का फल है या कार्य है।

प्रमाणों के प्रयोग के बाद भी वस्तु स्वरूप की अनेकता तथा विचारों की जटिलता के कारण चिन्तन के फल में विविधता दिखाई पड़ती है। यही कारण है भारत की विभिन्न दार्शनिक विचारों में विविधता है।

बात यह है कि किसी भी वस्तु का पूर्ण यथार्थ ज्ञान विविध नहीं हो सकता,

---

१. भारतीय चिन्तन परंपरा (के० दामोदरन्) पृ० ९० ।

वह एक ही रहेगा। उसके अंतरंग ज्ञान, वस्तु के स्वरूप की विविधता के कारण विविध हो सकते हैं, पर वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान तो एक ही होगा। उसमें विभिन्नता का मतलब है, उसमें पूर्ण विकसितता नहीं है। विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के विविध विचारों का यही ऐतिहासिक कारण है।

यथार्थ ज्ञान के लिए चिन्तन के क्षेत्र में सत्य की तीव्र जिज्ञासा, समभाव एवं तटस्थ दृष्टि—ये तीन तत्व बहुत ही आवश्यक हैं। तत्व-जिज्ञासु को किसी भी भावना विचार या वाद से प्रतिबद्ध नहीं होना चाहिये। अपनी अपनी विचार परम्परा के प्रति मानव-मन असाधारण आदर भाव रखे और उसकी ओर सहज पवित्रता की श्रद्धा रखे, तब तक तो वे सत्य शोधन में विशेष रूप से बाधक नहीं होते, परन्तु जब जिज्ञासु सत्य-शोधक व्यक्ति वस्तु-स्थिति का यथार्थ ज्ञान करना चाहता है और उसके लिए प्रयत्न करता है, तब ये वाद, विचार या भावनाएँ बहुत बड़ा विघ्न खड़ा करते हैं। साधारण अनुयायी वर्ग अपनी परंपरा को सर्वथा भिन्न माने और दूसरी परम्परा अथवा दूसरे विचारक के पास से अपनी परम्परा में कुछ भी नई बात आने का निषेध करे, तब सत्य की दृष्टि अवरुद्ध हो जाती है। सत्य की शोध में निकला हुआ मनुष्य आग्रह एवं अभिनिवेश का पूर्ण परित्याग किये बिना तथा अपनी दृष्टि को पूर्ण रूप से उन्मुक्त एवं निर्मल लिये बिना सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

प्राचीन समय में भी एक तत्व चिन्तक और स्वतंत्र परम्परा का पुरस्कर्ता ऐसा हुआ है, जिसका झुकाव उक्त वादों से अलग पड़ता दिखाई देता है, वह है महात्मा तथागत बुद्ध। तथागत ने अपने दार्शनिक एवं योग विषयक सिद्धान्तों के बारे में अपने शिष्यों के समक्ष अपने ही श्रीमुख से जो कहा था, उसका उल्लेख पिटक में हमें मिलता है। उन्होंने कहा था—'मैं जो कुछ कहता हूँ, वह न तो अपौरुषेय है, न ईश्वर प्रणीत है और न सर्वज्ञ प्रणीत ही। मैं तो सिर्फ एक धर्मज्ञ हूँ। जो धर्म में तुम्हें समझाता हूँ, उसकी जानकारी तक ही मेरी मर्यादा है। उस धर्म-विषयक अनुभव से अधिक जानने का या कहने का मेरा दावा भी नहीं है। इसीसे तुम मेरे कथन को तर्क और स्वानुभव से जाँचो और कसो। मैंने कहा है, इसीलिए उसे मत मानो।'[1] बुद्ध का यह कथन हमें अपने

---

१. **अंगुत्तरनिकाय भाग १, ३।६५।३ पृ० १८६ (पाली टैक्स्ट सोसायटी)। डा० राधाकृष्णन कृत गौतम, दि बुद्ध का गुजराती अनुवाद, पृ० १३।**

विषय में, स्वतन्त्र रूप से विचार करने की दिशा में प्रबल प्रोत्साहक हो सकता है।

बुद्ध पूर्ण श्रद्धालु, फिर भी तर्क प्रधान थे। अतः जो जो वस्तु बुद्धि एवं तर्क की कसौटी पर खरी न उतरे, उसे वे हटा देते थे। उनकी इस वृत्ति का आज अनेक गुना विकास हुआ है। जब से विज्ञान ने अपनी कलाएं विकसित कीं और पंख पसारे तथा उसके साथ ही इतिहास एवं तुलना की दृष्टि विकसित हुई, तब से संशोधन एवं चिन्तन के नये नये प्रकार, मार्ग एवं आयाम अस्तित्व में आये हैं। प्राचीन दार्शनिक चिन्तन पद्धति की अपेक्षा नई वैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति अधिक अप्रतिबद्ध और शुद्ध तटस्थवृत्ति से ओत-प्रोत है। इसीलिए उसके चिन्तन के बहुत बड़े बड़े सुफल दृष्टिगत हो रहे हैं। दर्शन क्षेत्र में भी चिन्तन में नये वैज्ञानिक चिन्तन के आयामों का ग्रहण करना सत्य की खोज की दृष्टि से बहुत आवश्यक तथा अनिवार्य भी है।

दर्शन प्रणालियों में चिन्तन के दो दृष्टिकोण हैं, एक एकान्तवादी और दूसरा अनेकान्तवादी। प्रथम दृष्टिकोण में एक को छोड़कर सभी दर्शन-प्रणालियाँ आ जाती हैं। दूसरा दृष्टिकोण अकेली एक प्रणाली का है। एकान्त-वादी और अनेकान्तवादी शब्द से किसी वाद या प्रतिबद्धता का अर्थ नहीं लेना चाहिये। एकान्तवादी का मतलब है, एक ही दृष्टिकोण से चिन्तन का आयाम, तथा अनेकान्तवादी से मतलब है अनेक दृष्टिकोणों से चिन्तन का आयाम। अब यह स्पष्ट है कि विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन सत्यशोधक एवं सत्य की खोज करने वाले के लिए सत्य के निकट जाने हेतु अत्यन्त आवश्यक है। एक दृष्टि-कोण से देखने पर हम कई बार अन्य मनुष्यों के साथ उनको गलत समझकर अन्याय कर बैठते हैं, जब कि वे सही होते हैं। वास्तविक बात का पता चलने पर हमें उसके लिये खिन्न होना पड़ता है। एक वस्तु का एक ही पहलू से ज्ञान पूर्ण नहीं रहता, क्योंकि संभव है, उसका दूसरा पहलू कुछ और हो और उसका ज्ञान हमें नहीं हुआ हो।

वाइकिंग यान ने मंगल ग्रह के फोटो भेजे, वे विभिन्न एक दो स्थानों से या एक दो तरफ से लिए गए हैं। अतः एक दो फोटो से मंगल की ठीक जान-कारी नहीं मिल सकती। मंगल के दूसरे स्थान और दूसरे भाग या पार्श्व भी हैं, जो पहले से भिन्न हों। अतः मंगल की ठीक जानकारी के लिए विभिन्न स्थानों के एवं विभिन्न पार्श्वों से लिए गये फोटो का अध्ययन करना होगा।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू होते हैं। वस्तु की ठीक जानकारी के लिए उसे विभिन्न पहलुओं से देखना होगा। तभी उसका वास्तविक व पूर्ण ज्ञान हो सकता है। वस्तु को विभिन्न पहलुओं से देखने की आवश्यकता उसकी वास्तविक जानकारी व उसके पूर्ण ज्ञान के लिए है। वस्तु को विभिन्न पहलुओं से देखना ही अनेकान्त दृष्टि या अनेकान्त है। यह अनेकान्त के उद्‌भव का व्यावहारिक पक्ष है।

अब अनेकान्त के उद्‌भव के दार्शनिक पक्ष की ओर दृष्टिपात करें। दर्शन में प्रमेयों का जो वर्णन किया जाता है, वे हैं जागतिक पदार्थ। जागतिक पदार्थों में से किसी भी वस्तु को हम लें, वह भी अनेक रूपवाली मालुम पड़ती है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं। जैसे मनुष्य, अपनी बाल, युवा वृद्ध आदि अवस्थाओं की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अनुभव में आता है, लेकिन है वह एक देवदत्त। घट, घट की दृष्टि से अनित्य है, क्योंकि वह नश्वर है, लेकिन घट के नष्ट होने पर भी उसका मूल कारण मिट्टी स्थायी है। अतः मृतिका की दृष्टि से घट नित्य है। घट में दो अंश हैं, एक मृतिका द्रव्य और दूसरा घट का आकार। घट के आकार के नष्ट होने पर भी मृतिका कायम रहती है। इस तरह घट दो अंशों का समुच्चय है, एक मृतिका, दूसरा वैसा आकार। इसको यह भी कह सकते हैं कि आकार नष्ट होता है और मृतिका कायम रहती है। अतः घट मृतिका के अंश से स्थायी है, और आकार के अंश की दृष्टि से अस्थायी है।

इस प्रकार वस्तु हमको अनेक रूपात्मक मालुम होती है। उसका पूर्ण और यथार्थ ज्ञान अनेक रूपों को देखने पर ही हो सकता है। एक दृष्टिकोण से उसका ज्ञान आंशिक सत्य होगा, पूर्ण नहीं। एकान्त दृष्टि से हम आंशिक सत्य का साक्षात्कार कर लें, लेकिन पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते। पूर्ण सत्य के साक्षात्कार के लिए हमें अनेकान्त दृष्टि को ही अपनाना पड़ेगा। यह अनेकान्त के उद्‌भव का दार्शनिक पक्ष हुआ। मतलब यह कि जब वस्तु ही अनेक रूपात्मक है तो उसके ज्ञान के लिए हमें अनेकान्त दृष्टि ही अपनानी होगी। हमारे विचार से तो वस्तु नहीं बन सकती। वस्तु का स्वरूप उसका अपना है। यहाँ आचार्य धर्मकीर्ति का यह श्लोकांश ध्यान में आ जाता है—

'यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते, तत्र के वयम् ?'[1]

---

१. प्रमाणवार्तिक २।२१०।

यदि यह अनेक धर्मता वस्तु को स्वयं को अच्छी लग रही है, उसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है, तो हम बीच में काजी बनने वाले कौन होते हैं ?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वस्तु का स्वरूप अनेक धर्म वाला है, तो उसके ज्ञान के लिए ऐसी दृष्टि की आवश्यकता है, जो उसके पूर्ण स्वरूप का ज्ञान करा सके। इस पूर्ण ज्ञान के लिए अनेकान्त का उद्भव हुआ है। उसके बिना विभिन्न पहलुओं से वस्तु का पूर्ण ज्ञान असम्भव है।

विज्ञान में क्रमिक विकास होता है तो वे क्रमिक विकास, विकास के सोपान हैं। उन्हें परस्पर विरुद्ध नहीं माना जाता। उनको साथ में लेकर ही व्यक्ति उनमें सुधार करता हुआ आगे पढ़ता है। उसी तरह दार्शनिक क्षेत्र में भी क्रमशः विकास के इन सोपानों को हमें परस्पर विरुद्ध न मानकर परस्पर के पूरक मानना चाहिए, और सब में समन्वय और सामंजस्य कायम करके आगे बढ़ना चाहिए। इन सोपानों के परस्पर संघर्ष एवं विरोध से हम उनमें ही उलझे रहेंगे और आगे का हमारा विकास अवरुद्ध हो जायगा। अतः उनमें परस्पर समन्वय और सामंजस्य कायम करने के लिए ऐसी दृष्टि की आवश्यकता है, जो इन सबमें विरोध को समाप्त कर समन्वय और सामंजस्य स्थापित करे और आगे चिन्तन के मार्ग को प्रशस्त करे। यह दृष्टि अनेकांत दृष्टि ही हो सकती है। दूसरी सब दृष्टियाँ एकान्त का अनुसरण करके परस्पर विरोध उत्पन्न करती हैं, और पारस्परिक खंडन मंडन के संघर्ष में उतर कर आगे के चिन्तन के मार्ग को रोक देती हैं। अतः हमें अनेकान्त दृष्टि की आवश्यकता अनुभव में आती है। समन्वय की वृत्ति से उत्पन्न अनेकान्त अथवा सर्व-समन्वय-वाद दार्शनिक चिन्तन के विकास का सर्वोपरि परिणाम है।

अब अनेकान्त के उद्भव का जैन दर्शन से सम्बन्धित आगमिक स्वरूप से हम परिचय करें। जैन आगम में भी और गीता में भी यह कहा गया है कि जब जब धर्म का नाश होता है और अधर्म बढ़ जाता है, तब महापुरुष का अवतार होता है।[1] इस उक्ति के अनुसार पृथ्वी पर जब बहुत अधर्म बढ़ जाता है, और धर्म का नाश हो जाता है, तब अधर्म का नाश करने के लिए तथा

---

१. 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्—गीता ४।७।

धर्म की वृद्धि करने के लिए महापुरुषों का अवतार हुआ करता है। इस अनादि नियम के अनुसार प्रत्येक काल[1] में २४ तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं। तीर्थंकर याने धर्म की स्थापना करके तीर्थ यानें संघ को प्रवृत्त करने वाले महापुरुष। इस काल (युग) में भी २४ तीर्थंकर हुए हैं और उन्होंने धर्म की स्थापना की है। यहाँ यह बात भी देखने की है कि इन २४ तीर्थंकरों में से कइयों के नाम वैदिक धर्म के २४ अवतारों में परिगणित हैं, उनके नाम वेदों में भी उल्लिखित हैं।'[2]

जन्म के बाद तीर्थंकर यौवन में पदार्पण करते हैं, उन्हें वैराग्य आता है और वे संसार को छोड़कर दीक्षा याने सन्यास ले लेते हैं। कठोर तप, साधना एवं ध्यान के द्वारा अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों का विनाश कर वे अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। इसको जैन दर्शन में केवल ज्ञान होना कहते हैं। केवल ज्ञान याने सर्वज्ञता की स्थिति। उन्हें संसार की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान होने लगता है। केवल ज्ञान, यह अन्य वस्तु नहीं, जिसकी प्राप्ति तीर्थंकर को होती है यह तो आत्मा का स्वरूप ही है। जैन-दर्शन में आत्मा सच्चिदानंदमय माना जाता है। आत्मा में अनंत ज्ञान एवं अनंत आनंद है, वह उसका स्वरूप ही है। मतलब यह कि उन्हें अपने पूर्ण आत्म स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। तब वे सत्य के प्रचार के लिए उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं। प्रथम उपदेश में उनके शिष्य बनते हैं। शिष्य पूछते हैं कि तत्व क्या है ? तीर्थंकर का प्रथम वाक्य यह रहता है—'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा'[3]। यह तीर्थंकर का त्रिपदी रूप उपदेश है। इस त्रिपदी से शास्त्रों

---

१. जैन शास्त्रों में काल दो प्रकार के होते हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी।

२. ऋषभदेव के विषय में—ऋग्वेद १०।९१।१४, १. १. २, ४५,३, ८, ४३, १२।

वैदिक इन्डेकस भाग १, पृ० १२९

नेमि के विषय में—ऋग्वेद १, ३२, १५; १४१, ९, २; २, ५, ३; ५, १३, ६;

वैदिक इन्डेक्स भाग १, पृ० ५१८।

३. ठानांगसुत्तम्, स्थान १० षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ३४७।

की रचना होती है। सबके मूल में यह त्रिपदी है। इसका अर्थ है—'उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव है याने नित्य है'। इसमें प्रत्येक वस्तु को त्रिलक्षण परिणाम रूप बतलाया। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और उसमें स्थिर एवं नित्य तत्व है। यह त्रिलक्षण परिणामवाद कहा जाता है। यह त्रिपदी अनेकान्तवाद की विचार पद्धति का सार तत्व है। अनेकान्त, स्याद्वाद एवं नयवाद विषयक विपुल साहित्य इसी का विस्तार है। यह त्रिपदी ही तीर्थंकर द्वारा बोया बीज है, उसी से विकसित यह अनेकान्त का वटवृक्ष है। त्रिपदी ही वह नींव है, जिस पर बाद के आचार्यों ने जैन दर्शन का भव्य प्रासाद निर्मित किया,[1] जिसके आधारभूत विशाल स्तम्भ हैं—उत्पादादि त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद भाषा और आत्म द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता।

अनेकान्त के उद्भव के दो आधार हैं, इतिहास और परम्परा। परम्परा की दृष्टि से इस युग में अनेकान्त के उद्भावक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। सर्वप्रथम यह उपदेश ऋषभदेव ने दिया[1]। अतः अनेकान्त का उद्भव इस युग के प्रारम्भकाल में हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से अनेकान्त का उद्भव तेतीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के द्वारा हुआ।[2] उनके २५० वर्ष के बाद महावीर अनेकान्त के प्रवर्तक हुए। इस युग के अन्तिम तीर्थंकर महावीर हैं। महावीर का भी प्रथम उपदेश त्रिपदी रूप से ही हुआ है।

कुछ विद्वान अनेकान्त के उद्भव के इतिहास को पार्श्वनाथ के भी पहले ले जाते हैं। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के भारतीय विद्या संस्थान के निर्देशक डा० बुद्धप्रकाश डी० लिट० लिखते हैं[3]:—

---

१. श्रमण संस्कृति का विकास एवं विस्तार—डा० पुष्यमित्र (अमर भारती—मार्च-एप्रिल, १९७१)।

२. भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० ९१।
पार्श्वनाथ के चतुर्याम (धर्मानन्द कोशांबी) पृ० १४।

३. अमर भारतीय श्रमण संस्कृति विशेषांक—लेख-'अनेकान्त की प्राचीनता'।

महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में श्रेयस्, अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनंत और धर्म नाम मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है। वेद में ऋषभ[1] और नेमि[2] के नाम आते हैं। कलकत्ता के आधुनिक विद्वानों ने लिखा है कि महाभारत ऐतिहासिक पुस्तक है। वैदिक काल तो सबसे प्राचीन है। वेद में तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख आता है, तो यह निश्चित है कि अनेकान्त का उद्भव वैदिक काल के पहले का है।

किसी परम्परागत मान्यता के संमुख नतमस्तक न होकर स्वतन्त्र दृष्टि से वस्तु को देखने की तथा उसके सम्बन्ध में अन्यान्य मतवादों के मर्म को निष्पक्ष भाव से समझने और उन्हें उचित मान्यता प्रदान करने की प्रवृत्ति ही अनेकान्त की जन्मस्थली है। विभिन्न दर्शनों से दृष्ट सत्यों में एक रूपता लाने, उनमें समन्वय एवं समंजस्य स्थापित करने तथा दुराग्रह एवं अभिनिविष्ट वृत्ति को छोड़कर निर्मल और तटस्थ भाव से सत्य की खोज करने के प्रयत्न ही अनेकान्त के उद्भव के हेतु हैं। यहाँ आचार्य हरिभद्र का श्लोक ध्यान देने योग्य है :—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र, यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र, तत्र मति रेति निवेशम्।[3]

अनाग्रही एवं समभाव वाला व्यक्ति नितान्त निष्पक्ष दृष्टि से वस्तु को देखने का प्रयत्न करता है। वह वस्तु के कतिपय अंशों को ही देख कर अपने को कृत-कृत्य नहीं मानता, किन्तु वह वस्तु के समग्र स्वरूप का आकलन करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि वस्तु के किसी आंशिक सौन्दर्य के चकित हो पथभ्रष्ट नहीं होती, किन्तु उसके सम्पूर्ण स्वरूप को देखने के लिए आकुल रहती है। इस वृत्ति का प्रतिफल ही अनेकान्त का उद्भव है।

---

१. ऋग्वेद १०।६१।१४, १।१।२, ४५, ३; ८, ४३, १३, वैदिक इंडेक्स, पृ० १२६।
२. ऋग्वेद १, ३२, १५; १४१, ९; २, ५, ३; ५, १३, ६, वैदिक इंडेक्स, पृ० ५१८ बृहदारण्यकोपनिषत् २।५।१५।
३. न्यायखण्डनखाद्य की भूमिका से उद्धृत।

(आ) प्रमुख जैन आचार्यों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्य कुन्दकुन्द

श्रुत केवली की परम्परा के बाद श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान महत्त्वपूर्ण है। युगसंस्थापक आचार्यों में इनकी गणना है। इनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध है। किसी भी शुभ कार्य के प्रारम्भ में मंगल रूप में इनका स्तवन किया जाता है। मंगल स्तवन का प्रसिद्ध पद्य इस प्रकार है :—

> मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
> मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन-धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

यह श्लोक दिगंबर परम्परा में है। श्वेतांबर परम्परा में इस श्लोक से कुछ भिन्नता है। श्वेतांबर संप्रदाय में श्लोक निम्न प्रकार से है :—

> मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमः प्रभुः।
> मंगलं स्थूलिभद्राद्या जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द के नाम के स्थान पर स्थूलिभद्र मुनि का नाम है। श्वेतांबर आम्नाय के अनुसार स्थूलिभद्र मुनि दशपूर्वधारी थे। अस्तु।

इस विवाद में न पड़ते हुए यदि तटस्थ दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो भी आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान जैन दार्शनिकों में प्रमुख पंक्ति में आता है। इनके जैसे प्रतिभाशाली, स्वतंत्र दृष्टि से विचारक एवं लेखक जैन दर्शन में विरले ही हैं।

इनकी रचनाओं में इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती। अपने स्वयं के बारे में ये बिलकुल मौन है। इन्होंने अपने

ग्रन्थ 'वारस अणुवेक्खा' में अपने नाम का निर्देश किया है। वह गाथा इस प्रकार है :—

'इदि णिच्छय ववहारे जं भणियं कुन्दकुन्दमुणिणा हे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परमणिव्वाणं ।।'[1]

स्पष्ट है कि इस 'बारस अणुवेक्खा' की गाथा में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख मिलता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेन और श्रुतसागर सूरि ने भी इसे कुन्दकुन्द की रचना बतलाई है।[2]

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में 'कसायपाहुड़' और 'षटखंडागम' नामक सिद्धान्तग्रंथों की रचना का इतिवृत्त अंकित करने के बाद लिखा है कि ये दोनों सिद्धान्तग्रन्थ कोंडकुन्दपुर में पद्मनंदि मुनि को प्राप्त हुए, और उन्होंने षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक ग्रंथ की रचना की।[3] दर्शन सार में देवसेन ने भी आचार्य पद्मनंदि की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

'जई पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।।'[4]

कुन्दकुन्द के दर्शन ग्रंथों के टीकाकार दो आचार्य हैं—अमृतचन्द्र और जयसेन। अमृतचन्द्र ने अपने मूलग्रंथकर्ता के सम्बन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं किया है। पर जयसेन ने लिखा है :—

'जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्च पाहुड़ सेलो
बुद्धिसिरेणुद्धारिओ समप्पिओ भव्वले यस्स ।।'[5]

---

१. वारस अणुवेक्खा गाथा ९१ (कुन्दकुन्द भारती संस्करण)।
२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—पृ० १११ (डा० नेमिचंद शास्त्री)।
३. श्रुतावतार पद्य १६०, १६१।
४. दर्शनसार गाथा ४३।
५. समयसार टीका अंतिम पद्य, पृ० ५३४। (परमश्रुत प्रभावन मंडल बंबई द्वितीयावृत्ति)।

पंचास्तिकाय की टीका प्रारम्भ करते हुए जयसेन[1] ने कुन्दकुन्द का अमर नाम पद्मनंदि बताया है। इन्होंने टीका के प्रारम्भ में इस कथा की ओर भी संकेत किया है कि 'कुन्दकुन्द पूर्व विदेह क्षेत्र में विराजमान वीतरागसर्वज्ञ सीमंधर स्वामी के पास गये थे, और उनके मुखकमल से निस्सृत दिव्यवाणी को सुनकर अध्यात्म तत्त्व का सार ग्रहण करने के बाद लौटे थे।'

कुन्दकुन्द के जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त सूचनाओं में दो कथाएं उपलब्ध हैं, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। कथाओं में कितना अंश सत्य है, यह तो प्रमाणों के अभाव से नहीं कहा जा सकता है, पर इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द अध्यात्मशास्त्र के महान् प्रणेता एवं युगसंस्थापक आचार्य थे।[2]

कुन्दकुन्द के जीवन के बारे में प्रो० चक्रवर्ती 'पुण्यसारकथा' के आधार पर कहते हैं—'भरतखण्ड के दक्षिण देश में 'पीडथनालु' जिले में 'कुरुमराई' नामक गाँव में, जिसका दूसरा नाम 'कौण्डकुन्दपुर' था, एक कमंडु नामक समृद्ध व्यापारी रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके पास गायों का समूह था, जिसको माथीवरण नामक बालक चराया करता था। एक दिन बालक ने बड़े आश्चर्य से जंगल के बीच हरे पत्ते वाले कुछ वृक्षों को देखा, जब कि सारा जंगल आग से नष्ट हो चुका था। उस बालक ने उस स्थान का निरीक्षण किया। उसने वहाँ किसी साधु का निवास और 'आगमों' से भरी पेटी देखी। उस बालक ने इसकी उपस्थिति से ही इस स्थान को आग से सुरक्षित समझा। वह उन पुस्तकों को घर ले गया और उनको पवित्र स्थान पर रखकर उनकी प्रतिदिन पूजा करने लगा। एक दिन एक धार्मिक साधु वहाँ आये। उस व्यापारी ने उन्हें भोजन दिया और उस बालक ने वे पुस्तकें उन्हें भेंट की। इस कार्य से व्यापारी और उस बालक ने साधु के आशीर्वाद पाये। व्यापारी के कोई सन्तान नहीं थी। ऐसी घटना हुई कि वह ईमानदार बालक मर गया और उस व्यापारी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम आगे

---

१. पंचास्तिकाय जयसेन टीका ग्रंथारंभ, पृ० १ (परमश्रुत प्रभावनमंडल बम्बई) द्वितीयावृत्ति।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, पृ० १००।

चलकर ग्राम के नाम पर कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हुआ। बाल्यावस्था से ही कुन्दकुन्द प्रतिभाशाली थे। इनकी विलक्षण स्मरणशक्ति और कुशाग्रबुद्धि के कारण अध्ययन में इनका समय अधिक नहीं व्यतीत हुआ। युवावस्था में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर आचार्यपद प्राप्त किया। दो चारण संतों की सीमंधर स्वामी के समवसरण की भेंट से यह बात प्रमाणित हुई कि कुन्दकुन्द अत्यन्त बुद्धिमान हैं। बाद में स्वयं कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामी के पास पूर्व विदेह में गये। सर्वज्ञ के दर्शन एवं उपदेश से कुन्दकुन्द का भ्रम दूर हुआ। शास्त्रदान के गुण ने इनको अत्यन्त विचारशील एवं संगठनकर्ता बनाया।'[1]

इनके बारे में दूसरी कथा इस प्रकार है, पं० नाथूलाल जी प्रेमी ने 'ज्ञान प्रबोध' के आधार पर इसे दिया है[२]—मालवा के बारापुरा गाँव में कुमुदचन्द्र राजा था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दसेठ नाम का व्यापारी कुन्दलता नाम की पत्नी के साथ रहता था। उनके एक लड़का था, उसका नाम उन्होंने कुन्दकुन्द रखा। एक दिन उस बालक को मित्रों के साथ खेलते हुए बगीचे में एक साधु को देखने का अवसर मिला। बालक ने साधु का धर्मोपदेश बहुत ध्यान से सुना। साधु के शब्दों और आचरण ने बालक को इतना प्रभावित किया कि ग्यारह वर्ष की आयु में ही उसकी धार्मिक चेतना प्रादर्भूत हुई और वह साधु जिनचन्द्र का शिष्य बन गया। कुन्दकुन्द ने अल्पकाल में ही इतनी श्रेष्ठता प्राप्त की कि वह ३३ वर्ष की आयु में आचार्य हो गये। उन्होंने आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। एक बार उनको जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों में कुछ संशय हुये। इसके लिये क्या किया जाय—यह नहीं जानते हुए धार्मिक आचरण में अपने आपको लगा दिया। एक दिन ध्यान में मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक शुद्धि के साथ विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी को प्रणाम किया। उसका परिणाम इतना प्रामाणिक था कि उन्हें सीमंधर स्वामी से उत्तर का आव्हान मिला कि उन्होंने समवसरण में आशीर्वाद के शब्द 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' उच्चारित किये। वहाँ श्रोताओं ने इसका मतलब नहीं

---

1. Introduction to Pravachansar Page VII as referred by Dr. A. N. Upadhye in Introduction of Pravachansar Page V. VI.
२. जैन हितैषी भाग १०, पृ० ३६६।

समझा कि किसी ने भी उनको नमस्कार नहीं किया, फिर इस आशीर्वाद का अभिप्राय क्या है ? सीमंधर स्वामी ने इसकी व्याख्या की कि यह आशीर्वाद भरत क्षेत्र के कुन्दकुन्द से सम्बन्ध रखता है । बाद में कुन्दकुन्द अपनी सिद्धि के बल से सीमंधर स्वामी के पास गये । एक सप्ताह वहाँ ठहरे । सीमंधर स्वामी से अपने संशय दूर किये और वापस लौटे । अन्त में अपना स्थान उमास्वाति के लिये रिक्त करते हुए वे दिवंगत हुए ।

इस द्वितीय कथा में 'जंबूदीवपन्नत्ती' के कर्ता पद्मनंदि को कुन्दकुन्द से अभिन्न समझकर उनका स्थान बारांपुर नगर बताया है । माता व पिता के नाम भी कल्पित प्रतीत होते हैं । विदेहगमन की प्रचलित कथा को इससे जोड़कर इसमें प्रामाणिकता लाने का प्रयास किया गया है । प्रथम कथा के अंशों को विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया है ।[1]

सर्वप्रथम कुन्दकुन्द के बारे में संदर्भ हमें श्री देवसेन के 'दर्शनसार'[2] में मिलता है, जो कि विक्रम संवत् ९९० में लिखा गया, जिसमें कहा गया है कि महान् साधु पद्मनंदि सीमंधर स्वामी के आत्मिक ज्ञान से प्रकाशित हुए थे ।

बाद में श्री जयसेन ने[3] पंचास्तिकाय की टीका के प्रारंभ में कहा है कि कुन्दकुन्दाचार्य देव, जिनका अपरनाम पद्मनंदि था, पूर्व विदेह क्षेत्र में जाकर वहाँ वीतराग सर्वज्ञ सीमंधर स्वामी से 'शुद्धात्मतत्त्वादिसार्थ' ग्रहण कर वापस लौटे ।

१२वीं शताब्दी के श्रवण बेलगोला के शिलालेख से ज्ञात है कि श्री कुन्दकुन्द भव्य, धार्मिक चरित्र वाले थे । उनको चारणलब्धि प्राप्त थी, अर्थात् वायु में[4]

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० १०१ ।

२. दर्शनसार श्लोक ४३ ।

३. पंचास्तिकाय, जयसेनवृत्ति प्रारम्भ पृ० १ ।

4. See-Epigraphia Carnatica 11, 127, 117, 140, 64, 66 etc.

आश्चर्यजनक ढंग से जा सकते थे तथा पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर वायु में चलते थे ।[1]

प्रवचन सार की तृतीय गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द मनुष्य क्षेत्र में वर्तमान तीर्थंकर को वंदन करते हैं ।[2] इससे कदाचित् यह आभास मिलता है कि आचार्य पूर्व विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के पास गये थे । इस परम्परा का समर्थन संभवतः दूसरी गाथा में मिलता है ।

आचार्य स्वयं अपनी आत्मिक शक्ति के बारे में मौन हैं, लेकिन बाद के लेखक इस बात को बतलाते हैं ।

समयासार में आचार्य ने आत्मतत्व का जिस प्रकार निरूपण किया, तथा निश्चय एवं व्यवहार नय का स्वरूप प्रदर्शन के साथ जैसा विवेचन किया वह प्रकार और वह रूप जैन दर्शन के अन्य ग्रन्थों में नहीं है । वह अपूर्व है । इसी निरूपण के आधार पर प्रो० चक्रवर्ती,[3] डा० गंगानाथ झा[4] जैसे विद्वान् जैन दर्शन को श्री शंकर के ब्रह्मैकत्ववाद के निकटतम मानते हैं । इस विवेचन पर गंभीरतया चिंतन करने से यह मालूम होता है कि संभवतः आचार्य को यहीं कहीं सन्देह था, जिसका निवारण करने के लिये वे महाविदेह गये थे । वहाँ से आने के बाद स्पष्ट रूप से उन्होंने इस विषय का विवेचन किया ।

आचार्य कुन्दकुन्द को कलिकाल-सर्वज्ञ कहा जाता था । यह उल्लेख आचार्य के ग्रन्थ 'मोक्खपाहुड़' की टीका के अन्त में आचार्य श्रुतसागर ने किया है ।

---

१. Ibid., 351.
श्रवणबेलगोला शिलालेख नं० ४७, जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग लेख, ४, पृ० २४
चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख-जैन शिलालेख पृ० १०२,
विन्ध्यगिरि शिलालेख-जैन शिलालेख, पृ० १९७,

२. 'वंदामि य वट्टंते अरहन्ते माणुसेखेत्ते' प्रवचनसार गाथा ३ ।

३. समयसार की भूमिका पृ० १०३-१०५ ।

४. भारतीय दर्शनों का समन्वय पृ० १२९, १३० ।

आचार्य ने अपने गुरु का नाम 'भद्रबाहु' बतलाया है।[1] पं० प्रेमीजी 'ज्ञान प्रबोध' के आधार पर इनको मुनि जिनचन्द्र का शिष्य बताया है। पंचास्तिकाय की टीका में श्री जयसेन ने इनको श्रीकुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य बतलाया है।[2] नीचे के दोनों मत विचारणीय है। क्योंकि आचार्य स्वयं ने अपने ग्रंथ 'मोक्खपाहुड़' में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य बताया है।

समय—

आचार्य कुन्दकुन्द के जन्मकाल के विषय में काफी मतभेद हैं। फिर भी विद्वान् लोग जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह संक्षेप में इस प्रकार है—

जैन परंपरागत आचार्यों की सूची से ज्ञात होता है कि श्री कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ (लगभग ८ बी० सी०) में ३३ वर्ष की आयु में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। लगभग ५२ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और ८५ वर्ष की लगभग आयु में दिवंगत हुए।[3] श्री हार्नल ने स्वसंपादित पट्टावली के अनुसार उनके आचार्य प्राप्ति का काल वि० सं० १४९ (९२ ए० डी०) बतलाया।[4] पं० प्रेमीजी की राय में आचार्य कुन्दकुन्द संभवतः विक्रम की तीसरी शताब्दी के दूसरे हिस्से में हुए।[5] डा० पाठक की सम्मति में इनका समय शाके ४५० (५२८ ए० डी०) है।[6] प्रो० चक्रवर्ती के अनुसार इनका समय ५० बी० सी०[7] है। डा० उपाध्ये के अन्तिम निष्कर्ष के अनुसार इनका समय ईस्वी सन् का प्रारम्भ काल है।[8]

भगवान महावीर की परम्परा में गुणधर नामक बड़े आचार्य हुए हैं। उनको ज्ञानप्रवाह की दसवीं वस्तु के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। ज्ञान का

---

१. बोधपाहुड़ गाथा ६०, ६१।

२. जैन हितैषी भाग १०, पृ० ३६९।

३. डा० उपाध्ये, प्रवचन सार की भूमिका, पृ० १०।

४. Indian Antiquary XXI, p. 57.

५. जैन हितैषी भाग १०, पृ० ३७८।

६. डा० उपाध्ये प्रवचनसार की भूमिका पृ० ११।

७. वही, पृ० १२।

८. वही, पृ० २२।

परिणाम जैन दर्शन में चतुर्दश पूर्व[1] बतलाया है। उनमें ज्ञान प्रवाह नामक पूर्व है। उसमें से कुछ ज्ञान गुणधर आचार्य को प्राप्त था। उस ज्ञान में से उनके पीछे के आचार्यों ने अनुक्रम में से सिद्धान्तग्रन्थ रचे। इस प्रकार महावीर से प्रवाहित होता हुआ ज्ञान आचार्यों की परम्परा से श्री आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त हुआ।

कृतियाँ—

आचार्य ने निम्न ग्रन्थ बनाये हैं :—

(१) प्रवचनसार,
(२) पंचास्तिकाय,
(३) समयसार,
(४) नियमसार,
(५) बारस अणुवेक्खा ९१ गाथा,
(६) देसण पहुड़ ३६ गाथा,
(७) चरित्र पाहुड़ ४४ गाथा,
(८) सुत्त पाहुड़ २७ गाथा,
(९) बोध पाहुड़ ६२ गाथा,
(१०) भाव पाहुड़ १६३ गाथा,
(११) मोक्ख पाहुड़ १०६ गाथा,
(१२) लिंग पाहुड़ २२ गाथा,
(१३) सील पाहुड़ ४० गाथा,
(१४) रयणसार १६२ श्लोक,
(१५) षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक टीका ग्रंथ।[2]

---

१. चतुर्दशपूर्व का ज्ञान आचार्य भद्रबाहु के बाद क्रमशः नष्ट हो गया। उसके बिखरे अंश में से कुछ अंशों पर बाद में ग्रन्थ लिखे गये हैं।

२. श्रुतावतार, पद्य १६०, १६१।

(१६) दशभक्ति ग्रंथ, जिसमें बहुत छोटे ग्रंथ भी हैं, ७ व ८ गाथा के भी इनमें ग्रंथ हैं। जिनमें डा० उपाध्ये ने ८ भक्ति नामतः प्रदर्शित की है।

इन ग्रंथों में तीन नंबर तक के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनको 'नाटकत्रय' या 'प्राभृतत्रय' कहते हैं। इन ग्रन्थों में जैन दर्शन के तत्त्वों के बीज आ जाते हैं। प्रवचनसार को (१) ज्ञान, (२) ज्ञेय, (३) चारित्र, इन तीन अधिकारों में विभाजित किया है। पंचास्तिकाय में छह द्रव्यों का और नव तत्त्वों का स्वरूप बतलाया है। समयसार अलौकिक ग्रंथ है। समयसार में नव तत्त्वों का शुद्धनय की दृष्टि से निरूपण है। इसमें निश्चय और व्यवहार नय का स्वरूप बतलाकर निश्चय नय से जीव या आत्मा का विवेचन किया गया है। व्यवहार नय की व्याख्या केवल संभव अज्ञान को छोड़ने के लिए की है। अज्ञान, कार्मिक सम्बन्ध को आत्मा में कराते हुए उसके चैतन्य स्वरूप में आवरण का कार्य करता है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी ने इन सबसे ऊपर उठकर आत्मा को शुद्ध चैतन्यानन्दमय तथा अजीव पदार्थों से अलग मानना चाहिये। यह जैन दर्शन का उच्चतम शिखर है। समयसार ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए आचार्य स्वयं कहते हैं— 'काम-भोग-बंधन की कथा सबने सुनी है, परिचय किया है, अनुभव किया है, लेकिन पर से भिन्न एकत्व की प्राप्त ही केवल दुर्लभ है। उस एकत्व की– पर से भिन्न आत्मा की बात में इस शास्त्र में समस्त निज वैभव से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव) कहूंगा।'[1] इस प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्य इस शास्त्र में आत्मा का एकत्व—पर द्रव्य और पर भावों के भिन्नता समझाते हैं। वे कहते हैं— 'जो आत्मा को अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखते हैं, वे जिन शासन को देखते हैं। ऐसा नहीं देखने वाले अज्ञानी के सर्वभाव अज्ञानमय हैं।'[2] समयसार में आचार्य ने आत्मैकत्व बतलाया है, अन्य सब भावों को मिथ्या बतलाया है। आचार्य की निरूपण की इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए प्रो० चक्रवर्ती[3] और श्री गंगानाथ झा ने जैन दर्शन को अद्वैत के निकट बतलाया है।

---

१. समयसार गाथा ४,५।

२. समयसार गाथा १५।

३. प्रो० चक्रवर्ती की समयसार की प्रस्तावना, पृ० १०५।

प्रतिभा एवं वैदुष्य—

श्री शंकराचार्य ने संसार को अविद्याजन्य मानकर मिथ्या बतलाया है, आचार्य कुन्दकुन्द ने भी संसार को अज्ञान जन्य माना है। श्री शंकर ने पारमार्थिक और व्यावहारिक शब्दों का विवेचन किया है। श्री कुन्दकुन्द ने इन दोनों की निश्चय एवं व्यवहार शब्द से विवेचना की है। इस प्रकार दोनों आचार्यों की निरुपण शैली एक ही मार्ग से प्रवाहित होती हुई आगे बढ़ती है। थोड़ा शब्द का भेद है, अभिप्राय दोनों का एक है। प्रो० चक्रवर्ती कहते हैं कि शब्दों में परिवर्तन के बिना भी श्री शंकर के निरूपण को श्री कुन्दकुन्द का निरूपण कहा जा सकता है। दोनों के विवेचनात्मक अध्ययन से पाठक को विवश होकर मानना पड़ता है कि श्री शंकराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य के दर्शन से या तो मूल से या श्री अमृतचन्द्र की टीका के साथ अच्छी तरह परिचित रहे होंगे।[1] श्री कुन्दकुन्द और श्री अमृतचन्द्र दोनों ही श्री शंकर से काफी समय पहले हुए हैं और तीनों दक्षिण भारत के हैं। श्री शंकर ने अध्यास शब्द का प्रयोग किया है, जिसका प्रयाग अन्य दर्शनों में नहीं मिलता है। लेकिन श्री शंकर ने संभवतः इसके सामान्य ज्ञान का संकेत श्री अमृतचन्द्र की समयसार की टीका से लिया हो। संभवतः श्री अमृतचन्द्र और श्री शंकर एक ही प्रदेश के रहने वाले हों। श्री अमृतचन्द्र की समयसार की टीका आत्मख्याति की भाषा का श्री शंकर के शारीरक—भाष्य की भाषा से बहुत सादृश्य है। श्री शंकर ने एक अवसर पर कहा है कि वे एक द्राविड़ आचार्य से प्रभावित हुए हैं। संभवतः वे आचार्य समयसार के महान टीकाकार अमृतचन्द्र[2] हों।' इस बात के समर्थन में प्रो० चक्रवर्ती ने आत्मख्याति के कुछ उद्धरण दिये हैं, जिनमें अविद्या और अध्यास पर प्रकाश डाला गया है।[3]

जैन-दर्शन में आचार्य कुन्दकुन्द का बहुत महत्त्व है। साधुगण उनकी परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। श्री कुन्दकुन्द के शास्त्र भगवान महावीर के पट्टशिष्य गणधरों के वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। ज्ञान के क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य का प्रमुख स्थान है।

---

१. वही, पृ० १०५-१०६।

२. प्रो० चक्रवर्ती की समयसार की प्रस्तावना, पृ० ११३।

३. वही, पृ० ११३।

आचार्य समन्तभद्र

जैन वाङ्मय में जिस प्रकार गृद्धपिच्छाचार्य—उमास्वाति संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार जैन वाङ्मय में स्वामी समन्तभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। अकलंक और विद्यानन्द सरीखे उद्भट विद्वान् आचार्य समन्तभद्र के टीकाकार हैं। नवीन नव्यन्याय के उद्भट विद्वान् यशोविजय भी इनके टीकाकार हैं। कई आचार्यों ने इनकी स्तुति में कई पद्य बनाये हैं, उनमें इनकी प्रतिभा, पांडित्य आदि की स्तुति की गई है।[1] ये युग संस्थापक आचार्य थे।

समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इन्हें चोलराजवंश का राजकुमार अनुमित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरेपुर) के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदी के तटपर फणिमंडल के अन्तर्ग अत्यन्त समृद्धिशाली माना गया है।

श्रवण बेलगोला के दौरवलि जिनदास शास्त्री के भंडार में पाई गई आप्तमीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है—'इति श्री फणिमंडला-लंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्री समन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्'। इस प्रशस्ति वाक्य से स्पष्ट है कि समन्तभद्र का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था, और उनके जन्मस्थान उरगपुर है। 'राजावलीकथे' में आपका जन्म उत्कलिका ग्राम में होना लिखा है, जो संभवतः उरगपुर के अन्तर्गत ही रहा होगा। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार का अनुमान है कि यह उरगपुर, उरेपुर का ही संस्कृत अथवा श्रुतिमधुर नाम है। यह चोल राजाओं की सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। 'त्रिचिनापोली' का ही प्राचीन नाम उरगपुर था। यह नगर कावेरी के तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था, और किसी समय बड़ा ही समृद्धिशाली जनपद था।

---

१. ज्ञानार्णव १।४१, १।१४। वर्धमानसूरि वरांगचरित सोलापुर संस्करण १।७। अलंकार चिन्तामणि १।२। महापुराण भाग १ १।४४, ४४। गद्य-चिन्तामणि। श्रवणबेलगोला शिलालेख नं० १०५। जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग, अभिलेख संख्या १०५ पद्य १७, १८।

समन्तभद्र का नाम शान्तिवर्मा बताया जाता है। 'स्तुतिविद्या' अथवा 'जिनस्तुतिशतम्' में, जिसका ऊपर नाम 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' है, 'गत्वैकस्तुतमेव'[1] आदि पद्य आया है। इस पद्य में कवि और काव्य का नाम चित्रबद्धरूप में अंकित है। इस काव्य के छह और नव वलय वाली चित्र रचना पर से 'शांतिवर्मकृतम्' और 'जिनस्तुतिशतकम्' ये दो पद निकलते हैं। लिखा है—

'षडरं नववलयं चक्रमालिख्य सप्तमवलये शांतिवर्मकृतम् इति भवति। चतुर्थवलये जिनस्तुतिशतम् इति च भवति। अतः कविकाव्यनाम गर्भचक्रवृत्तं भवति।'[2]

इससे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र ने 'जिनस्तुतिशतकम्' का रचयिता शांतिवर्मा कहा है, जो उनका स्वयं का नामांतर संभव है। यह सत्य है कि यह नाम मुनि अवस्था का नहीं हो सकता, क्योंकि वर्मान्त नाम मुनियों के नहीं होते। संभव है, माता पिता के द्वारा रखा गया यह समन्तभद्र आचार्य का जन्म नाम हो। स्तुति विद्या किसी अन्य विद्वान् द्वारा रचित न होकर समन्तभद्र की ही कृति मानी जाती है।

मुनि दीक्षा ग्रहण करने के बाद जब ये मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मकव्याधि नामक भयानक रोग हो गया, जिससे दिगंबर मुनिपद का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। अतएव उन्होंने गुरु से समाधि-मरण धारण करने की अनुमति मांगी। गुरु ने होनहार शिष्य को आदेश देते हुए कहा—'आपसे धर्म और साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। अतः आप दीक्षा छोड़कर रोगशमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुनः दीक्षा ग्रहण कर लें।' गुरु के आदेशानुसार समन्तभद्र रोगोपचार के हेतु नाग्न्य पद को छोड़-कर सन्यासी बन गये और इधर उधर विचरण करने लगे। पश्चात् काशी में शिवकोटि राजा के भीमलिंग नामक शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और शिवजी को अर्पण किये जाने वाले नैवेद्य को शिवजी को ही खिला देने की घोषणा की। राजा इससे प्रसन्न हुआ और उन्हें शिवजी को नैवेद्य भक्षण

---

१. **स्तुतिविद्या पृ० ११६।**

२. **स्तुतिविद्या, वसुनंदि पद्य ११६, पृ० १४१।**

कराने की अनुमति दे दी। समन्तभद्र अनुमति प्राप्त कर शिवालय के किवाड़ बन्द कर, उस नैवेद्य को स्वयं ही भक्षण कर रोग को शान्त करने लगे। धीरे-धीरे उनकी व्याधि का उपशम होने लगा और भोग की सामाग्री बचने लगी। राजा को इस पर संदेह हुआ। अतः गुप्त रूप से उसने शिवालय के भीतर कुछ व्यक्तियों को छिपा दिया। समन्तभद्र को नैवेद्य का भक्षण करते हुए छिपे व्यक्तियों ने देख लिया। समन्तभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विशति तीर्थ-करों की स्तुति आरम्भ की। राजा शिवकोटि के डराने पर भी समन्तभद्र एकाग्र-चित्त से स्तवन करते रहे। जब ये चन्द्रप्रभ स्वामी की स्तुति कर रहे थे कि भीमलिंग शिव में से चन्द्रप्रभ स्वामी का मनोज्ञ स्वर्णबिंब प्रकट हुआ। समन्तभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित आश्चर्य से चकित हो गये। समन्तभद्र ने स्तुति पूर्ण होने पर राजा को आशीर्वाद दिया।

यह कथानक 'राजावलिकथे' में उपलब्ध है। सेनगण की पट्टावलि से भी इस विषय का समर्थन होता है। पट्टावलि में भीमलिंग शिवालय में शिवकोटि राजा के समन्तभद्र द्वारा चमत्कृत और दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है। साथ ही उसे नवतिलिंग देश का राजा सूचित किया है, जिसकी राजधानी संभवतः कांची रही होगी। यहाँ यह अनुमान लगाना भी अनुचित नहीं है कि संभवतः यह घटना काशी की न होकर कांची की है। कांची को दक्षिण काशी भी कहा जाता रहा है।'[1]

इस तथ्य का समर्थन श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख[2] से भी होता है। अभिलेख में समन्तभद्र स्वामी के भस्मक रोग का निर्देश आया है। आपत्काल समाप्त होने पर उन्होंने पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण की। यह अभिलेख शक सं० १०२२ का है।

---

१. नवतिलिंग-देशाभिराम-द्राक्षाभिराम-भीमलिंग-स्वयन्वादिस्तोटकोत्की-रण ? रुद्रसांद्रचन्द्रिकाविशदयशः-श्रीचन्द्रजिनेन्द्र-सद्दर्शन-समुत्पन्न-कौतूहल-कलितशिवकोटि-महाराजतपोराज्य-स्थापकाचार्य-श्रीसमन्त-भद्रस्वाभिनाम्।'

—जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग १, किरण १, पृ० ३८।

२. जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग अभिलेख संख्या ५४, पृ० १०२।

समन्तभद्र की गुरुशिष्य परंपरा के सम्बन्ध में अभी तक निर्णय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। ये श्रुतकेवलि ऋद्धि वाले माने जाते थे।[1]

श्रवण बेलगोला के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य (मौर्य) चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त के वंशज पद्मनंदि, जिनका दूसरा नाम कुन्दकुन्द था, उनके वंशजः गृद्धपिच्छ, इनके शिष्य बलाकपिच्छ, इनके वंशज समन्तभद्र हुए।[2]

इससे प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र प्रसिद्ध आचार्यों की परंपरा में हुए।

समय—

आचार्य के समय के सम्बन्ध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। मि० लेविस राइस का अनुमान[3] है कि समन्तभद्र ईस्वी की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुए।

'कर्नाटककविचरिते' नामक कन्नड़ ग्रन्थ के रचयिता आर० नरसिंहाचार्य ने समन्तभद्र का समय शक सं० ६० (ई० सन् १३८) लगभग माना है। उनके प्रमाण भी राइस के समान ही हैं।

डा० दरबारीलाल जी काठिया, व डा० महेन्द्रकुमार ने इनका समय ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी माना है। आचार्य जुगलकिशोर जी व डा० ज्योतिप्रसाद जी ने भी इनका समय १२०-१८५ ई० निर्णीत किया है।[4]

---

१. चन्नरायपट्टण ताल्लुके के अभिलेख नं० १४६ शक सं० १०४७ का।

२. जैन, शिलालेख संग्रह प्रथम भाग अभिलेख संख्या ४० पद्य ८, ६ पृ० २५।

३. Inscriptions at Shravan Belgola नामक पुस्तक की प्रस्तावना।

४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० १८३।

कृतियाँ—

आचार्य समन्तभद्र की निम्नलिखित रचनाएं हैं—

(१) बृहत्स्वयंभूस्तोत्र ।

(२) स्तुतिविद्या-जिनशतक ।

(३) देवागम स्तोत्र-आप्तमीमांसा ।

(४) युक्त्यनुशासन ।

(५) रत्नकरण्डक श्रावकाचार ।

(६) जीवसिद्धि ।

(७) तत्वानुशासन ।

(८) प्राकृत-व्याकरण ।

(९) प्रमाण पदार्थ ।

(१०) कर्म प्राभृत ।

(११) गन्धहस्ति महाभाष्य ।

(१) **बृहत्स्वयंभू स्तोत्र**—इसका दूसरा नाम चतुर्विंशतिस्तोत्र भी है। इसमें २४ तीर्थंकरों की क्रमशः स्तुतियां हैं पद्यसंख्या कुल १४३ हैं। इसमें १३ प्रकार के छन्द हैं। अनेक अलंकारों की योजना स्वाभाविक रूप में इसमें की गई है।

(२) **स्तुतिविद्या**—इसका दूसरा नाम जिन-शतक है। इसमें चित्रकाव्य एवं बन्धरचना का अपूर्व कौशल समाहित है। शतक काव्यों में इसकी गणना है। इस काव्य को देखकर प्रतीत होता है कि महाकवि माघ से कई सौ वर्ष पूर्व चित्रकाव्य का विकास हो चुका था। इसमें ११६ पद्य हैं।

(३) **आप्तमीमांसा**—इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्र है। स्तोत्र के रूप में तर्क और आगम परम्परा की कसौटी पर आप्त सर्वज्ञ देव की मीमांसा की गई है। समंतभद्र अन्ध श्रद्धालु नहीं है। वे श्रद्धा की तर्क को कसौटी पर कस-कर युक्ति द्वारा आप्त की विवेचना करते हैं। यह दर्शन का उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इस पर अष्ट साहस्त्री आदि विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ हैं। इसमें ११५ पद्य हैं।

(४) **युक्त्यनुशासन**—महावीर के सर्वोदय तीर्थ का महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए उनकी स्तुति की गई है। ६४ पद्यों में समस्त जैन शासन को समाविष्ट कर दिया है। महावीर के तीर्थ को उन्होंने सर्वोदयतीर्थ[1] कहा है। संभवतः सर्वोदय शब्द का प्रयोग करने वाले ये सर्वप्रथम आचार्य हैं।

(५) **रत्नकरण्डक श्रावकाचार**—इसमें जीवन व आचार की व्याख्या है। इसमें १५० पद्य हैं।

आगे की नं० ६ से ११ तक की रचनाएँ उपलब्ध नहीं है। इनके निर्देश ही जहाँ-तहाँ मिलते हैं।

प्रतिभा एवं वैदुष्य—

समन्तभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्वपरसमय के ज्ञाता विद्वान् हैं। इन्होंने एकान्तवाद का निरसन कर अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिक शैली में की हैं। इनकी कवित्व प्रतिभा भी देखने योग्य है। वादविद्या में ये बहुत निष्णात थे। कई जगह अन्य विद्वानों से इनके वाद हुए हैं। भाषा पर इनका प्रकाण्ड अधिकार है। एक वर्ण तथा दो वर्ण के ही प्रयोग के श्लोक इसके प्रमाण हैं।[2]

आचार्य सिद्धसेन

आचार्य सिद्धसेन वैदिक परम्परा के निष्णात उद्‌भट विद्वान् थे। बाद में ये जैन हुए। ये जैन दर्शन को दर्शन व तर्क का व्यवस्थित रूप देने वाले और उसे विकसित करने वाले आचार्यों में इनका प्रमुख स्थान[3] है। आचार्य विक्रम के नवरत्नों में से एक थे—ऐसी किंवदन्ती है[4]। कवि और दार्शनिक के रूप में

---

१. आप्तमीमांसा ६२ श्लोक।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृष्ठ १७० से २०५ तक।

३. डा० वैद्य की न्यायावतार की प्रस्तावना, पृ० १२।

४. 'धन्वंतरिक्षपणकामरसिंह - शंकु - वेतालभट्ट - घटखर्पर-कालिदासाः ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नृप-विक्रमस्य' वेदवादद्वात्रिंशिका में डा० सुखलालजी सिंघवी द्वारा उद्धृत।

सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं। श्वेतांबर और दिगंबर दोनों ही परम्पराएँ इन्हें अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि-पुराण में सिद्धसेन को कवि और वादिगजकेसरी दोनों कहा है[1]। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में 'उत्कृष्टेऽनूपेन'[2] इस सूत्र के उदाहरण में 'अनुसिद्धसेनं कवयः' द्वारा सिद्धसेन को सबसे बड़ा कवि बताया है।

इनका जन्म उज्जयिनी नगरी के कात्यायन गोत्रीय देवर्षि ब्राह्मण की देवश्री पत्नी के उदर से हुआ था। ये प्रतिभाशाली और समस्त शास्त्रों के पारंगत विद्वान् थे। आचार्य वृद्धवादि (जैनाचार्य) जब उज्जयिनी में आये, तब उनके साथ सिद्धसेन का शास्त्रार्थ हुआ। सिद्धसेन वृद्धवादि आचार्य से बहुत प्रभावित हुए। इस कारण सिद्धसेन ने वृद्धवादि आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। गुरु ने इनका दीक्षा नाम कुमुदचंद्र रखा[3]। आगे चलकर ये आचार्य सिद्धसेन के नाम से प्रख्यात हुए।

आचार्य हरिभद्र के 'पंचवस्तु' नामक ग्रंथ में आचार्य सिद्धसेन के लिए दिवाकर विशेषण उपलब्ध होता है। उसमें बताया गया है कि दुःषम काल रूप रात्रि के लिए दिवाकर-सूर्य के समान होने से दिवाकर का विरुद उन्हें प्राप्त था[4]।

सन्मति तर्क की टीका के प्रारम्भ में ही श्री अभयदेवसूरि (१२ वीं शती ई०) ने भी इन्हें दिवाकर कहा है।

समय—

इनके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि इन्होंने उज्जयिनी में महांकाल मंदिर में 'कल्याणमंदिर' स्तोत्र द्वारा पार्श्वनाथ के बिम्ब को प्रकट किया था, तथा विक्रमादित्य राजा को संबोधित कर उसे जैन बनाया था।[5]

---

१. आदि पुराण भाग १ (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) १।३९-४२।
२. शब्दानुशासन २।२।३९।
३. प्रभावकचरित के अन्तर्गत वृद्धवादिसूरिचरितम् पृ० ५५-६०।
४. पंचवस्तु (हरिभद्र) गाथा १४०८।
५. मुनि दर्शनविजयजी द्वारा संपादित पट्टावलि समुच्चय, पृ० १५०, १६६ तथा विद्याभूषण का संस्करण न्यायावतार पेज २।

श्वेतांबर तथा दिगंबर—उभय संप्रदाय में इस घटना का उल्लेख पाया जाता है। जैसा कि सेनगण की पट्टावलि से स्पष्ट है। यह भी कहा जाता है कि सिद्धसेन विक्रमादित्य के नवरत्न में से एक थे। क्षपणक शब्द से इनको कहा गया है। इससे पता चलता है कि ये राजा विक्रमादित्य के समकालीन होने से इनका समय प्रथम विक्रम शताब्दी माना जाय।

कुछ विद्वान् इनको विक्रमादित्य उपाधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मानते हैं। सन्मति सूत्र का रचनाकाल चौथी या पांचवी शताब्दी ई० है—ऐसा डा० हीरालाल जैन मानते हैं।'[१] कुछ विद्वान् छठी शताब्दी इनका समय मानते हैं।'[२]

कुछ विद्वान् दो सिद्धसेन मानते हैं, एक सन्मति तर्क के रचयिता और दूसरे न्यायावतार के रचयिता। डा० पी० एल० वैद्य ने इस मत का निराकरण कर 'दोनों के रचयिता एक ही सिद्धसेन हैं' ऐसा माना है।[३]

रचनायें—

(१) ३२ द्वात्रिंशिकाएं।

(२) वेदवादद्वात्रिंशिका।

(३) न्यायावतार।

(४) सन्मति तर्क।

(१) द्वात्रिंशिकाएँ—ये ३२ हैं। इनमें पन्द्रह में ३२ श्लोक हैं। बाद में श्लोक कम ज्यादा हैं। इनमें पहले ८ के समूह में महावीर की स्तुति है। श्री सिद्धसेन की कवि के रूप में जो प्रख्याति है, वह इन स्तुतियों के कारण है। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने इन्हीं को लक्ष्य कर कहा है—'क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः।' व्याकरण में भी कहा है 'अनुसिद्धसेनं कवयः।' इनमें उच्च कवित्व और आलंकारिक शैली है। इनमें अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग

---

१. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (भ० प्र० शासन संस्करण) पृ० ८७।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ० २११।

३. डा० पी० एल० वैद्य की न्यायावतार की भूमिका, पृ० १८।

किया गया है। दूसरे समूह में जैन दर्शन के और अन्य दर्शन के सिद्धान्त निरूपित हैं।

(२) **वेदवादद्वात्रिंशिका**—आचार्य सिद्धसेन वैदिक परम्परा के महान विद्वान् थे, बाद में वे जैन बने। जैन परंपरा के साथ विशेष सम्बन्ध रखने वाली कृतियों को आचार्य ने जैन दीक्षा ग्रहण करने के बाद ही लिखा होगा। परन्तु इनकी जैनेतर एवं सर्वसामान्य विषयों पर जो कृतियाँ हैं, उनको आचार्य ने जैन दीक्षा स्वीकार करने के पहले ही बनाई होंगी, ऐसा संभव है। आचार्य ने ब्राह्मण परंपरा के अनुसार बाल्य वय से ही वेद, उपनिषत्, गीता और पुराणों आदि का गंभीर अध्ययन और परिशीलन किया होगा। इस बात की प्रमाणभूत वेदवादद्वात्रिंशिका अकेली ही हो सकती है। इसमें इन्होंने वैदिक भाषा, वैदिक छन्द, वैदिक शैली और वैदिक रूपक तथा अपनी कल्पना के द्वारा वेद उपनिषद्गत मान्यता के तत्त्वज्ञान को इस द्वात्रिंशिका में पूर्ण सफलता के साथ ग्रथित किया है।

(३) **न्यायावतार**—इसमें ३२ श्लोक हैं। जिनमें प्रमाण और नयों का विवेचन किया गया है। इस पर सिद्धर्षि गणी की टीका है, जो विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण है। इस पर हरिभद्र की भी टीका है, जो अनुपलब्ध है।

(४) **सन्मति तर्क**—प्राकृत भाषा में लिखा यह न्याय एवं दर्शन का अनुपम ग्रंथ है। इसमें ३ काण्ड हैं। (१) नयकांड (२) जीवकांड या ज्ञान कांड (३) सामान्य विशेष कांड या ज्ञेय कांड। प्रथम कांड में ५४, द्वितीय में ४३ और तृतीय में ६९ गाथाएं हैं, इस प्रकार कुल १६६ गाथाएं हैं। आचार्य ने इसमें नयों का सांगोपांग विवेचन कर जैन न्याय की सुदृढ़ पद्धति का आरंभ किया है। कथन करने की प्रक्रिया को नय कहा गया है, तथा विभिन्न दर्शनों का अंतर्भाव विभिन्न नयों में किया है। इस ग्रन्थ की टीका श्री अभयदेवसूरि ने की है, जो गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण अनुपम शैली से युक्त और बहुत विस्तृत है।

इस प्रकार श्री सिद्धसेन दार्शनिक और कवि दोनों हैं। इनकी कृतियाँ गंभीर दार्शनिकता एवं तत्त्वप्रतिपादन से पूर्ण है। परचक्र से रक्षा करने के लिये अपना दुर्ग स्वतः संवृत करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ इन आचार्य ने किया है।[1] प्राचीन काल में दर्शन क्षेत्र में स्वनिरूपण से अलग पर-

---

१ डा० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य का जैन दर्शन, पृ० १९।

निरूपण के खंडन की प्रवृत्ति अधिकांश देखी जाती है। सिद्धसेन ने उनकी उपलब्ध कृतियों में से कई कृतियाँ उस दर्शन का मात्र निरूपण करने के लिये रची है। खंडन करने की और प्रवृत्ति श्री दिवाकर की नहीं दिखाई पड़ती। अतः अन्य कोई वैसी पूर्वकालिक कृति उपलब्ध न हो, वहां तक ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों का प्रतिपादनात्मक दृष्टि से निरूपण करने वाली सर्वप्रथम कृति श्री सिद्धसेन की है।[1]

आचार्य हरिभद्र

सर्वदर्शनों में समभाव रखकर समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने वाले महान् विद्वान् आचार्य हरिभद्र दर्शन साहित्य में अद्वितीय हैं। आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय में जानकारी देने वाले ग्रन्थों में सबसे अधिक प्राचीन समझी जाने वाली भद्रेश्वर की 'कहावली' है। इसमें आचार्य हरिभद्र के जन्म स्थान का नाम 'पिवंगुई बंभपुणी'[2] ऐसा पढ़ा जाता है। जब कि इतर ग्रन्थों में उनका जन्म स्थान 'चित्तौड़-चित्रकूट'[3] कहा गया है। ये दोनों निर्देश भिन्न होने पर भी इनमें खास विरोध नहीं है।

'पिवंगुई' नाम शुद्ध रूप में उल्लिखित हो या फिर कुछ विकृत रूप में प्राप्त हुआ हो, यह कहना कठिन है। परन्तु उसके साथ 'बंभपुणी' का जो उल्लेख है, वह ब्रह्मपुरी का ही विकृत रूप है। इस तरह यह ब्रह्मपुरी कोई

---

१. डा० सुखलालजी सिंघवी, समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ४०।

२. 'कहावली' पाटन संघवी पाड़े के जैन भंडार की वि० सं० १४९७ में लिखित ताड़पत्रीय पोथी खण्ड २ पत्र ३००।

३. (क) हरिभद्रसूरिकृत 'उपदेशपद' की मुनि चन्द्रसूरिकृत टीका (वि० स० ११७४)।

(ख) 'गणधर साध शतक' की सुमतिगणिकृत वृत्ति (वि० स० १२९५)।

(ग) प्रभाचन्द्र सूरि कृत 'प्रभावक चरित्र' नवमशृङ्ग (वि० स० १३३४)।

(घ) राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्ध कोष' (वि० स० १४०५)।

छोटा देहात हो, किसी नगर-नगरी का एक भाग हो, तो भी वह चित्तौड़ के आसपास ही होगा। इसलिए उत्तरकालीन ग्रंथों में अधिक प्रख्यात चित्तौड़ का निर्देश रह गया, ब्रह्मपुरी गौड़ बन गई हो।[1]

इनके माता पिता का नाम कहावली के अनुसार—माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर भट्ट है। भट्ट शब्द से मालूम होता है कि वे ब्राह्मण थे। अन्य पुस्तकों में इनको राजपुरोहित व ब्राह्मण कहा गया है।[2]

हरिभद्र के समय का प्रश्न अधिक विवादास्पद नहीं है। प्राचीन उल्लेखों के अनुसार हरिभद्र वीर सं० १०५५ अर्थात विक्रम सं० ५८५ में स्वर्गवासी हुए। परन्तु इस बारे में अन्तिम निर्णय पुरातत्व के ख्यात विद्वान् आचार्य जिनविजयजी ने अपने तद्विषयक निबन्ध में कर दिया है।[3] यह निर्णय प्रत्येक ऐतिहासिक ने मान्य किया है। तदनुसार हरिभद्र का जीवन काल प्रायः विक्रम ७५७ से ८२७ तक का अनुमति है।[4]

विशेष विवरण के अनुपलब्ध होने से इतना ही कहा जा सकता है कि इन्होंने प्राचीन ब्राह्मण परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा का तथा उसमें व्याकरण, साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि का गंभीर अध्ययन किया होगा। ये अपूर्व विद्वान् थे। इनको अपनी विद्वता का गर्व था। इन्होंने संकल्प किया कि 'जिसका कथन मैं नहीं समझ सकूंगा, उसका शिष्य बन जाऊँगा।'

एक बार वे चित्तौड़ के मार्ग से जा रहे थे। उस समय उपाश्रय में एक साध्वी द्वारा बोली जाने वाली एक गाथा उनके सुनने में आई।[5] गाथा प्राकृत भाषा में संक्षिप्त एवं संकेतपूर्ण थी, जो इस प्रकार है—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ॥

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र—पृ० ६।
२. धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना, पृ० ५, प्रभावकचरित्र शृंग ६ श्लोक ८।
३. जैन साहित्य संशोधक वर्ष १ अंक १।
४. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ८।
५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४२१।

इस गाथा का मर्म हरिभद्र नहीं जान सके। हरिभद्र थे जिज्ञासा की मूर्ति। वे साध्वी के पास पहुँचे और उस गाथा का अर्थ जानने की इच्छा प्रदर्शित की। साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्तसूरि से उनका परिचय कराया, उन्होंने उस गाथा का अर्थ बताकर हरिभद्र को संतुष्ट किया और कहा कि प्राकृत शास्त्र और जैन परम्परा का पूर्ण और प्रामाणिक अभ्यास करने के लिए जैन दीक्षा आवश्यक है। हरिभद्र तो उत्कट जिज्ञासु, स्वभाव से एकदम सरल, और अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ थे। अतः उन्होंने सूरिजी के पास जैन दीक्षा अंगीकार की और साथ ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए अपने आपको उस साध्वी के धर्मपुत्र के रूप में उद्घोषित किया। उस साध्वी का नाम याकिनी था। कोई भी पुरुष, पुरुष के पास ही दीक्षा ले सकता है, ऐसी जैन परम्परा है। अत: उन्होंने दीक्षा तो जिनदत्तसूरि के पास ली, किन्तु महत्तरा साध्वी याकिनी का धर्मऋण चुकाने के लिए उन्होंने अपने आपको 'धर्मतो याकिनी-महत्तरा-सुनुः'[1] कहने में गौरव का अनुभव किया।

आचार्य हरिभद्र अपूर्व विद्वान्, बहुश्रुती एवं गंभीर दार्शनिक थे। इनका महत्त्व इनकी निष्पक्ष दृष्टि तथा स्वपरसंप्रदाय का भेद रखे बिना प्रत्येक में से गुण-ग्रहण करने की वृत्ति में है। ऐसे विद्वान् बहुत कम हुए हैं। आचार्य हरिभद्र ने समन्वय की तीन कक्षाएँ सिद्ध की हैं।

अनेकान्तवाद की व्यापक प्रभा से विकसित नयवाद में समन्वय के प्रकार का विकास आचार्य हरिभद्र से पहले भी जैन परम्परा में हुआ है, वह तो सहज-भाव से इनके ग्रंथों में आता ही है, परन्तु इतर दो प्रकार, जिनको पल्लवित और पुष्ट इन्होंने किया है, यह तो केवल इनकी अपनी ही विशेषता है।

इनमें से पहला प्रकार यह है कि परस्पर विरोधी दर्शन परम्पराओं में दर्शन के बारे में जो रूढ़ परिभाषाएँ प्रचलित हैं, जैसे कि ईश्वरकर्तृत्ववाद, प्रकृति-वाद, अद्वैतवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि, उनको आचार्य हरिभद्र ने उदात्त और व्यापक अर्थ प्रदान किया है और ये परिभाषाएँ स्वयं उन्हें किस प्रकार अभिप्रेत हैं—यह भी दिखलाया है।

दूसरा प्रकार उनके इस प्रयत्न में है कि अविद्या, मोह, दर्शन-मोह ब्रह्म, तथा

१. आवश्यक सूत्र की टीका की प्रशस्ति तथा उपदेशपद की प्रशस्ति।

छोटा देहात हो, किसी नगर-नगरी का एक भाग हो, तो भी वह चित्तौड़ के आसपास ही होगा। इसलिए उत्तरकालीन ग्रंथों में अधिक प्रख्यात चित्तौड़ का निर्देश रह गया, ब्रह्मपुरी गौड़ बन गई हो ।[१]

इनके माता पिता का नाम कहावली के अनुसार—माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर भट्ट है। भट्ट शब्द से मालूम होता है कि वे ब्राह्मण थे। अन्य पुस्तकों में इनको राजपुरोहित व ब्राह्मण कहा गया है।[२]

हरिभद्र के समय का प्रश्न अधिक विवादास्पद नहीं है। प्राचीन उल्लेखों के अनुसार हरिभद्र वीर सं० १०५५ अर्थात विक्रम सं० ५८५ में स्वर्गवासी हुए। परन्तु इस बारे में अन्तिम निर्णय पुरातत्व के ख्यात विद्वान् आचार्य जिनविजयजी ने अपने तद्विषयक निबन्ध में कर दिया है।[३] यह निर्णय प्रत्येक ऐतिहासिक ने मान्य किया है। तदनुसार हरिभद्र का जीवन काल प्रायः विक्रम ७५७ से ८२७ तक का अनुमति है।[४]

विशेष विवरण के अनुपलब्ध होने से इतना ही कहा जा सकता है कि इन्होंने प्राचीन ब्राह्मण परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा का तथा उसमें व्याकरण, साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि का गंभीर अध्ययन किया होगा। ये अपूर्व विद्वान् थे। इनको अपनी विद्वता का गर्व था। इन्होंने संकल्प किया कि 'जिसका कथन मैं नहीं समझ सकूंगा, उसका शिष्य बन जाऊँगा।'

एक बार वे चित्तौड़ के मार्ग से जा रहे थे। उस समय उपाश्रय में एक साध्वी द्वारा बोली जाने वाली एक गाथा उनके सुनने में आई।[५] गाथा प्राकृत भाषा में संक्षिप्त एवं संकेतपूर्ण थी, जो इस प्रकार है—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ ॥

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र—पृ० ६।

२. धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना, पृ० ५, प्रभावकचरित्र शृंग ९ श्लोक ८।

३. जैन साहित्य संशोधक वर्ष १ अंक १।

४. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ८।

५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४२१।

इस गाथा का मर्म हरिभद्र नहीं जान सके। हरिभद्र थे जिज्ञासा की मूर्ति। वे साध्वी के पास पहुंचे और उस गाथा का अर्थ जानने की इच्छा प्रदर्शित की। साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्तसूरि से उनका परिचय कराया, उन्होंने उस गाथा का अर्थ बताकर हरिभद्र को संतुष्ट किया और कहा कि प्राकृत शास्त्र और जैन परम्परा का पूर्ण और प्रामाणिक अभ्यास करने के लिए जैन दीक्षा आवश्यक है। हरिभद्र तो उत्कट जिज्ञासु, स्वभाव से एकदम सरल, और अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ थे। अतः उन्होंने सूरिजी के पास जैन दीक्षा अंगीकार की और साथ ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए अपने आपको उस साध्वी के धर्मपुत्र के रूप में उद्घोषित किया। उस साध्वी का नाम याकिनी था। कोई भी पुरुष, पुरुष के पास ही दीक्षा ले सकता है, ऐसी जैन परम्परा है। अत: उन्होंने दीक्षा तो जिनदत्तसूरि के पास ली, किन्तु महत्तरा साध्वी याकिनी का धर्मऋण चुकाने के लिए उन्होंने अपने आपको 'धर्मतो याकिनी-महत्तरा-सुनुः'[1] कहने में गौरव का अनुभव किया।

आचार्य हरिभद्र अपूर्व विद्वान्, बहुश्रुती एवं गंभीर दार्शनिक थे। इनका महत्त्व इनकी निष्पक्ष दृष्टि तथा स्वपरसंप्रदाय का भेद रखे बिना प्रत्येक में से गुण-ग्रहण करने की वृत्ति में है। ऐसे विद्वान् बहुत कम हुए हैं। आचार्य हरिभद्र ने समन्वय की तीन कक्षाएँ सिद्ध की हैं।

अनेकान्तवाद की व्यापक प्रभा से विकसित नयवाद में समन्वय के प्रकार का विकास आचार्य हरिभद्र से पहले भी जैन परम्परा में हुआ है, वह तो सहज-भाव से इनके ग्रंथों में आता ही है, परन्तु इतर दो प्रकार, जिनको पल्लवित और पुष्ट इन्होंने किया है, यह तो केवल इनकी अपनी ही विशेषता है।

इनमें से पहला प्रकार यह है कि परस्पर विरोधी दर्शन परम्पराओं में दर्शन के बारे में जो रूढ़ परिभाषाएँ प्रचलित हैं, जैसे कि ईश्वरकर्तृत्ववाद, प्रकृति-वाद, अद्वैतवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि, उनको आचार्य हरिभद्र ने उदात्त और व्यापक अर्थ प्रदान किया है और ये परिभाषाएँ स्वयं उन्हें किस प्रकार अभिप्रेत हैं—यह भी दिखलाया है।

दूसरा प्रकार उनके इस प्रयत्न में है कि अविद्या, मोह, दर्शन-मोह ब्रह्म, तथा

---

१. **आवश्यक सूत्र की टीका की प्रशस्ति तथा उपदेशपद की प्रशस्ति।**

निर्वाण आदि के बारे में भिन्न-भिन्न परम्पराओं में जो भिन्न भिन्न परिभाषाएँ स्थिर हुई हैं, वे परिभाषाएँ किस प्रकार एक ही अर्थ की सूचक है—यह बतलाना।

आचार्य हरिभद्र के पूर्वकालीन एवं उत्तरकालीन आचार्यों की दृष्टि के साथ इनकी दृष्टि की तुलना करने पर यह असंदिग्ध रूप से प्रतीत होता है कि कि हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असांप्रदायिक वृत्ति और निर्भय नम्रता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है, वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन या जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो।[1]

हरिभद्र की विशिष्ट दृष्टि निम्नलिखित पांच गुणों के द्वारा प्रकट होती है :—

(१) **समत्व**—आध्यात्मिकता का परमलक्ष्य समभाव या निष्पक्षता है। हरिभद्र ने अपने दर्शनग्रन्थों में इस भाव को सम्यक् रूप से अपनाया है।

(२) **तुलना**—पूर्व काल से प्रचलित खंडन-मंडन की परिपाटी में हरिभद्र ने तुलनात्मक दृष्टि को जो और जैसा स्थान दिया है, वह और वैसा स्थान अन्यत्र देखने में नहीं आता। सत्य या मतैक्य के अधिकाधिक समीप पहुँचने के हेतु से परवादी के मन्तव्यों के हृदय में अधिक से अधिक गहरा उतरने का इन्होंने प्रयत्न किया है। अपने मंतव्य के साथ परमत के मंतव्य का साम्य तुलना द्वारा इन्होंने स्थापित किया है।

(३) **बहुमान वृत्ति**—परवादी मंतव्यों से अलग पड़ने पर भी परवादी के प्रति हरिभद्र ने बहुमान एवं आदर बतलाया है। यह प्रवृत्ति दर्शन क्षेत्र में कहीं नहीं दिखाई देती।

(४) **अन्तर मिटाने का कौशल**—चर्चाओं में विद्वानों के मन में विजिगीषा तथा स्वपरम्परा को श्रेष्ठ स्थापित करने की भावना मुख्य-रूप से रहती है, जिससे विभिन्न संप्रदायों में बहुत बड़ा मानसिक अंतर पड़ जाता है। इस वृत्ति के बढ़ने से सत्य की श्वास घुटने लगती है। जैन-परम्परा एवं जैनेतर परम्परा में अंतर कम करने का मार्ग हरिभद्र ने विकसित किया है। सबके लिये एक

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ३५।

दूसरे में से विचार उन्मुक्त मन से ग्रहण कर सकने के हेतु आ० हरिभद्र ने द्वार खोल दिया है। यह कार्य सचमुच ही विरल है।

(५) **स्व-परम्परा को भी नई दृष्टि**—सामान्यतः दार्शनिक विद्वान् अपनी समग्र विचार शक्ति एवं पांडित्यबल पर-परम्परा की आलोचना में लगा देते हैं, तथा अपनी परम्परा का कथनीय स्फुरित सत्य भी, स्वपरम्परा के रोष-भाजन बनने के भय से, कहने का साहस नहीं बतलाते हैं। किन्तु हरिभद्र इस बारे में भी सर्वथा निराले हैं। इन्होंने परवादियों अथवा परपरम्पराओं के साथ व्यवहार में जैसी तटस्थता और निर्भयता दिखलाई है, वैसी ही तटस्थवृत्ति और निर्भयता स्वपरम्परा के प्रति कई मुद्दे उपस्थित करने में भी बतलाई है।'[1]

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने दार्शनिक परम्परा में विचार एवं व्यवहार की जो अभिनव दिशा उद्घाटित की है, यह विशेष करके आज के युग के असांप्रदायिक एवं तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन में अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकती है।

रचनाएँ—

हरिभद्र के दो शिष्यों की धर्मद्वेष के परिणाम स्वरूप मृत्यु हुई। इससे हरिभद्र को बहुत क्रोध आया। उबलते हुए तेल का कड़ाह रखवाया और आकर्षण विद्या के प्रभाव से १४४४ बौद्धों को आकर्षित कर तेल में डालकर मार डालने का संकल्प किया। लेकिन अपने गुरु के उपदेश से इस महाहत्या से विरत हुए। १४४४ बौद्धों को मारने का संकल्प किया था, उसके प्रायश्चित स्वरूप इन्होंने १४४४ ग्रन्थ बनाये[2] ऐसी किंवदन्ती[3] है। वर्तमान में थोड़े ही ग्रंथों का पता चलता है। वे निम्न हैं :—

(१) अनुयोगद्वार विवृति,

(२) आवश्यक बृहत् टीका,

---

१. समदर्शी आ० हरिभद्र पृ० ३५, ३६, ३७।

२. धर्मबिन्दु की प्रस्तावना, पृ० १४।

३. षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि की टीका में 'चतुर्दशशत-संख्य-शास्त्र-रचना-जनित-जगज्जन्तूपकारः श्री हरिभद्रसूरिः' लिखा है। पृ० १।

(३) आवश्यकसूत्र विवृति,

(४) चैत्यवंदनसूत्रवृति,

(५) जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति,

(६) नन्वध्ययन टीका,

(७) दशवैकालिक टीका,

(८) पिंडनिर्युक्तिवृत्ति,

(९) प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या।

आगमिक प्रकरण आचार, उपदेश—

(१) अष्टकप्रकरण,

(२) उपदेशपद (प्राकृत),

(३) धर्मबिन्दु,

(४) पंचवस्तु (प्राकृत) स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सह,

(५) पंच सूत्र व्याख्या,

(६) पंचाशक (प्राकृत),

(७) भावना सिद्धि,

(८) लघुक्षेत्रसमास का जंबूद्वीपक्षेत्रसमास वृत्ति,

(९) वर्गकेवलिसूत्र वृत्ति,

(१०) बीस विंशिकाएं (प्राकृत),

(११) श्रावक धर्म विधि प्रकरण (प्राकृत),

(१२) श्रावक प्रज्ञप्तिवृत्ति,

(१३) संबोधप्रकरण (प्राकृत),

(१४) हिंसाष्टक (स्वोपज्ञ अवचूरि सहित।

दर्शन—

(१) अनेकान्त-जयपताका (स्वोपज्ञ टीका युक्त),

(२) अनेकान्तवाद-प्रवेश,

(३) अनेकान्त-सिद्धि,

(४) आत्म-सिद्धि,

(५) तत्वार्थसूत्र-लघुवृत्ति,

(६) द्विजवदनचपेटा,

(७) धर्मसंग्रहणी (प्राकृत),

(८) न्यायप्रवेश टीका,

(९) न्यायावतार वृत्ति,

(१०) लोकतत्त्वनिर्णय,

(११) शास्त्रवार्ता-समुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त),

(१२) षड्दर्शन-समुच्चय,

(१३) सर्वज्ञसिद्धि (स्वोपज्ञटीका युक्त),

(१४) स्यावादकुचोद्य-परिहार।

योग—

(१) योगदृष्टि-समुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त),

(२) योग-बिन्दु,

(३) योगविंशिका [प्राकृत] बीस विंशिका के अन्तर्गत),

(४) योग-शतक,

(५) षोड़शक प्रकरण।

कथा—

(१) धूर्ताख्यान (प्राकृत),

(२) समराइच्चकहा (प्राकृत)।

ज्योतिष—

(१) लग्नशुद्धि-लग्न कुंडलिया (प्राकृत)।

स्तुति—

(१) वीरस्तव,

(२) संसारदावानलस्तुति (संस्कृत-प्राकृत भाषाद्वयात्मक)।

आचार्य हरिभद्र के नाम पर चढ़े हुए ग्रन्थ—

इनके अतिरिक्त अधोलिखित ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र के नाम चढ़े हुए हैं, परन्तु इस बात के निर्णय के लिए अधिक प्रमाणों की अपेक्षा है—

(१) अनेकान्त प्रघट्टक,
(२) अर्हच्चूडामणि,
(३) कथाकोष,
(४) कर्मस्तववृत्ति,
(५) चैत्यवन्दनभाष्य,
(६) ज्ञानपंचक विवरण,
(७) दर्शनसप्ततिका,
(८) धर्मलाभसिद्धि,
(९) धर्मसार,
(१०) नाणायत्तक,
(११) नानाचित्तप्रकरण,
(१२) न्यायविनिश्चय,
(१३) परलोकसिद्धि,
(१४) पंचनियेठी,
(१५) पंचलिंगी,
(१६) प्रतिष्ठाकल्प,
(१७) बृहन्मिथ्यात्व मथन,
(१८) बोटिक प्रतिषेध,
(१९) यतिदिन कृत्य,
(२०) यशोधर चरित्र,
(२१) वीरांगद कथा,
(२२) वेदब्राह्यता निराकरण,
(२३) संग्रहणीवृति,

(२४) संपंचासित्तरी,

(२५) संस्कृत आत्मानुशासन,

(२६) व्यवहारकल्प[1]।

न्यायाचार्य यशोविजयजी

जैन दर्शन में नव्यन्याय की शैली के प्रथम लेखक श्री यशोविजयजी अद्वितीय विद्वान हैं।[2] इनकी भाषा व भाव दोनों बहुत सुलझे हुए हैं। आचार्य हरिभद्र के समान ये भी समन्वय के पोषक हैं।

इनका जन्म कलोल के निकटस्थ 'कनोडु' नामक ग्राम में हुआ, जो अब भी विद्यमान है। यहाँ नारायण नामक व्यापारी थे, उनकी पत्नी का नाम सोभागदे था। उनके दो पुत्र थे, जसवंत और पद्मसिंह। एक बार मुनि नयविजय पाटन के समीपवर्ती 'कुणगेर' नामक ग्राम से विहार करते हुए 'कनोडु' आये। मुनि नयविजय अकबर प्रतिबोधक जैनाचार्य श्री हीरविजयसूरि की शिष्य-परम्परा से संबद्ध थे। इनके उपदेश सुनकर दोनों कुमार उनके साथ हो गये। पाटन पहुँचकर वि० स० १६८८ में दोनों कुमारों ने दीक्षा ली। उसी वर्ष विजयदेव सूरि ने दोनों को बड़ी दीक्षा दी। उस समय उनकी आयु क्रमशः १० और १२ के लगभग थी। दीक्षा के बाद जसवंत का नाम यशोविजय और पद्मसिंह का नाम पद्मविजय रखा गया यशोविजय ने अपनी कृतियों में पद्मविजय का सहोदर के रूप में स्मरण किया है।[3]

वि० सं० १६६६ में यशोविजय अहमदाबाद पहुँचे। वहाँ इन्होंने आठ अवधान किये। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर स्थानीय धनजी सूरा नामक व्यापारी ने नयविजयजी से अनुरोध कर इनको अध्ययन के लिए काशी भेजा। खर्च के लिए दो हजार दीनारें देने के लिए काशी के व्यापारी पर हुंडी लिख दी।

---

१. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, परिशिष्ट नं० २।

२. जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार) पृ० २५।

३. जैन तर्क भाषा की अंतिम प्रशस्ति। अष्ट साहस्री पृ० २३०। प्रथम परिच्छेद की समाप्ति में प्रशस्ति।

नयविजयजी शिष्यों के साथ काशी पहुँचे। वहाँ ये तीन वर्ष रहे। यशोविजय ने किन्हीं भट्टाचार्य विद्वान के पास नव्यन्याय का अध्ययन दिया। अध्ययन करने के बाद काशी में इन्होंने विद्वानों से शास्त्रार्थ भी किया। विजय के उपलक्ष्य में इन्हें विद्वानों की ओर से 'न्यायविशारद' की उपाधि दी गई। सौ ग्रन्थ लिखने के कारण इन्हें काशी में ही 'न्यायाचार्य' की पदवी भी मिली थी।[1]

काशी के बाद ये ४ वर्ष तक आगरा में अध्ययन करते रहे। बाद में अहमदाबाद पहुँचे। वहाँ औरंगजेब के सूबेदार महावतखाँ के समक्ष १८ अवधान किये। विजयदेव सूरि के शिष्य विजयप्रभसूरि ने वि० सं० १७१८ में इन्हें 'वाचकउपाध्याय' की पदवी दी। वि० सं० १७४३ में बड़ौदा के निकट 'डमाई' गांव में यशोविजय का स्वर्गवास हुआ। वहाँ इनकी पादुका स्थापित है।

कृतियाँ--

इनकी कृतियाँ चार भाषा में हैं—संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी। ये तार्किक एवं कवि भी थे। इनकी प्रतिभा गद्य व पद्य में समान रूप से प्रकट हुई है। व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार आदि विषयों पर भी इन्होंने लिखा है। शैली की दृष्टि से इनकी रचनाएँ खंडन, मंडन एवं समन्वय तीनों प्रकार की हैं। इनका खंडन सूक्ष्म एवं वस्तुलक्ष्यी है। इनकी कृतियाँ एक सौ आठ हैं।[2]

लभ्य ग्रन्थ—

(१) अध्यात्मपरीक्षा (स्वोपज्ञ टीका),

(२) अध्यात्मसार,

(३) अध्यात्मोपनिषत्,

(४) अनेकान्त-व्यवस्था.

(५) आध्यात्मिक-मतदलन (स्वोपज्ञ टीका),

---

१. तर्क भाषा की अंतिम प्रशस्ति के श्लोक।

२. भाषा रहस्य स्वोपज्ञवृत्ति में प्रथम गाथा। तर्क भाषा की अंतिम प्रशस्ति के श्लोक।

(६) आराधक-विराधक-चतुर्भंगी (स्वोपज्ञ टीका),

(७) अष्टसाहस्री विवरण (अनुपम),

(८) उपदेशरहस्य (स्वोपज्ञ टीका),

(९) ऐन्द्रस्तुति चतुर्विंशतिका (स्वोपज्ञ टीका),

(१०) कर्म-प्रकृति-टीका,

(११) गुरुतत्त्वनिश्चय,

(१२) ज्ञान-बिन्दु,

(१३) ज्ञान-सार

(१४) जैन-तर्क-भाषा,

(१५) देवधर्म-परीक्षा,

(१६) द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (स्वोपज्ञ-टीका),

(१७) धर्मपरीक्षा (स्वोपज्ञ टीका),

(१८) धर्मसंग्रहे टिप्पणम्,

(१९) नय-प्रदीप (स्वोपज्ञटीका),

(२०) नयोपदेश (स्वोपज्ञ टीका),

(२१) नय-रहस्यम्,

(२२) निशाभक्त-प्रकरण,

(२३) जैन-न्यायखंडखाद्य (स्वोपज्ञ टीका),

(२४) परमात्मपंचविंशतिका,

(२५) न्यायालोक,

(२६) परमज्योतिपंचविंशतिका,

(२७) पातंजल योगदर्शन विवरण,

(२८) प्रतिभाशतक (स्वोपज्ञ टीका),

(२९) भाषा-रहस्यम् (स्वोपज्ञ टीका),

(३०) मार्गपरिशुद्धि,

(३१) यतिलक्षण समुच्चय,

(३२) क्षेत्रविंशिका टीका,

(३३) वैराग्यकल्पलता,

(३४) योगदीपिका (षोडशक वृत्ति),

(३५) समाचारी प्रकरण (स्वोपज्ञ टीका),

(३६) शास्त्रवार्ता समुच्चय की स्याद्वाद कल्पलता टीका,

(३७) स्तोत्रावलि,

(३८) शंखेश्वर पार्श्वनाथ स्तोत्र,

(३९) समीकापार्श्वनाथ स्तोत्र,

(४०) आदिजिन स्तवन[1],

(४१) उत्पादादिसिद्धि विवरण[2],

(४२) समाधि-शतक,

(४३) स्याद्वाद-रहस्य,

(४४) वादमाला (अद्वितीय ग्रंथ)।

अपूर्ण लभ्य ग्रंथ—

(१) अस्पृशद्गतिवाद,

(२) उत्पादव्यय-ध्रौव्यसिद्धि टीका,

(३) कर्म-प्रकृति-लघुवृत्ति.

(४) कूपदृष्टान्त-विशदीकरणम्,

(५) ज्ञानार्णव सटीक,

(६) तिङन्तान्वयोक्ति,

(७) तत्त्वार्थ टीका।

निम्न पुस्तकें नहीं मिलती हैं, लेकिन शास्त्रवार्ता-समुच्चय की टीका में स्वरचित रूप में उल्लिखित हैं—

---

१. तर्कभाषा प्रस्तावना।

२. ४१ से ४४ तक पुस्तकें इन्दौर कांचमंदिर पुस्तकालय में हैं।

(१) अध्यात्मोपदेश,
(२) अलंकारचूड़ामणिटीका,
(३) अनेकान्त-प्रवेश,
(४) आत्म-ख्याति,
(५) आकर-ग्रन्थ,
(६) काव्यप्रकाश टीका,
(७) ज्ञानावसारावचूर्णि,
(८) छन्दचूड़ामणि,
(९) तत्त्वालोक स्वोपज्ञ विवरण,
(१०) त्रिसूत्र्यालोक,
(११) द्रव्यालोक स्वोपज्ञ विवरण,
(१२) न्याय-बिन्दु,
(१३) प्रमाण-रहस्य,
(१४) मंगलवाद,
(१५) लताद्वयम्,
(१६) वादार्णव,
(१७) वादरहस्यम्,
(१८) विधिवाद,
(१९) वेदान्तनिर्णय,
(२०) शठप्रकरणम्,
(२१) सिद्धान्ततर्क परिष्कार,
(२२) सिद्धान्तमंजरी टीका,
(२३) स्याद्वादमंजूषा (स्याद्वाद मंजरी की टीका),
(२४) नयामृत-तरंगिणी (अष्ट सहस्त्री विवरण पृ० ५४ प्रथम पंक्ति में उल्लिखित नाम)।

जैन-दर्शन-साहित्य को यशोविजयजी की मौलिक एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण

देन है। इन्होंने पूर्व-पक्ष के रूप में दूसरे दर्शनों को प्रस्तुत करते समय कहीं भी खींचतान या तोड़ मरोड़ नहीं की। इससे दो बात मिलती है—

(१) उनका अध्ययन व्यापक एवं वस्तु-स्पर्शी था।

(२) सब दर्शनों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण एवं समन्वयात्मक-दृष्टि, जो अनेकान्त का मूल-तत्त्व है।

इन्होंने बहुत सी दार्शनिक समस्याओं का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह पूर्ववर्ती आचार्यों में नही मिलता। ज्ञानावरण की जो व्याख्या इन्होंने की है, वह वेदान्त की अविद्या के सिद्धान्त से मिलती है। इस प्रकार बहुत सी अन्य बातों को जैन तर्क शास्त्र में प्रविष्ट किया, जो इनकी मौलिक देन है।

इनकी भाषा नव्यन्याय शैली पर है। हर जगह परिष्कार करके अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। नव्यन्याय शैली के द्वारा इनका विवेचन हृदयग्राही है। यह इनकी अनुपम देन है।

इनका अष्ट-सहस्त्री विवरण अद्वितीय ग्रंथ है। इस ग्रंथ की मूर्धन्य जैन व जैनेतर विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इस एक ग्रंथ के अभ्यास से व्यक्ति दर्शनशास्त्रों का समर्थ वेत्ता बन सकता है। मूल ग्रंथ समन्तभद्राचार्य विरचित आत्ममीमांसा है। उस पर अष्टसहस्री नामक श्री अकलंकदेव का का भाष्य है। श्री विद्यानन्द की इस पर अष्ट-सहस्रीवृत्ति है। श्री यशोविजय ने भाष्य पर अष्टसहस्री विवरण लिखा है।

आचार्य हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय पर इनकी स्याद्वादकल्पलता टीका है। इसमें प्रायः सभी दर्शनों को अपने अर्थ के अनुसार ठीक बतलाकर सबका समन्वय किया गया हैं। टीका बहुत विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण है।

●

द्वितीय अध्याय

अनेकान्तवाद का स्वरूप निर्धारण

गृहीत आचार्यों से भिन्न

अनेकान्त का पालन करने के लिए अर्थात् अनेकान्त दृष्टि को अपनाने के लिये हमको दुराग्रह एवं अहंता को छोड़ना आवश्यक है। अनेकान्त को साकार रूप तभी मिलेगा, जब हम दूसरों के सत्य को सहानुभूति की दृष्टि से देखेंगे। अनेकान्त के बिना अहिंसा की गहराई का स्पर्श कभी भी नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति के विपरीत व्यवहार को देखकर अगर हमारे मन में उसके प्रति घृणा होती है, द्वेष होता है, तो वह घृणा और द्वेष संसार वृद्धि के कारण है। हिंसा की जड़ में ही राग, द्वेष, ईर्ष्या और माया है। अहिंसा का मूल उद्गम समत्व से होता है, और समत्व ही अनेकान्त का हृदय है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ ये चारों भावनाएँ अनेकान्त प्रासाद के चार स्तंभ हैं। इन्हीं के आधार पर अनेकान्त का प्रासाद टिका हुआ है। अगर किसी गुणी के प्रति उसके किसी व्यवहार को देखकर हमें घृणा होगी तो प्रमोद भावना समाप्त हो जायगी। मैत्री भी पलायन कर जायगी। उसकी जगह द्वेष भावना ले लेगी। उसे संकट में पड़े देखकर भी घृणा या द्वेष के कारण करुणा भी कहाँ टिकेगी ? और उसके द्वारा हमारे प्रति प्रतिक्रिया होने पर हमारी माध्यस्थ भावना भी हिल जायगी। हम भी उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करेंगे। यह सब हिंसा का हृदय है। अनेकान्त वैचारिक अहिंसा का विकसित रूप है।

तत्त्व का अन्वेषण करने वाला किसी भी बात को सहसा स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता। वह उसे अनेक स्थितियों और विविध संदर्भों में बिठाकर उसकी विशेषताओं का उत्खनन करता है। वह अंतिम तल तक जाने

का प्रयत्न करता है। निराश होना तो वह जानता ही नहीं। असफलता उसके लिए कोश के बाहर का शब्द है। वह संभावनाओं में विश्वास करता है, उसकी संमानजनक परीक्षा करता है। तर्क की कसौटी पर खरा उतरते ही वह उसे स्वीकार करता है। वह, उससे अन्य की है, इस कारण मुंह नहीं मोड़ता। वह आग्रह की अपेक्षा ग्रहण में जाता है। वह हर 'भी' का सूक्ष्म निरीक्षण करता है और 'ही' तक जाने से पहले उस वस्तु को सभी ओर से—सभी पहलुओं से तलाशने की कोशिश करता है। अनेकान्तवाद इस वैचारिक उदारता या दुराग्रह के अभाव का दूसरा नाम है।

प्राचीन काल में विविध विरोधीवाद एक दूसरे पर प्रहार करने में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। परिणाम यह होता कि दार्शनिक जगत् में जरा भी शान्ति नहीं रहती थी। पारस्परिक विरोध ही दर्शन का मूल था। हमें यह सोचना चाहिये कि सभी वाद एक दूसरे के विरोधी हैं, इसका कारण क्या है? विचार करने पर मालूम पड़ता है कि इस विरोध के मूल में मिथ्या आग्रह है। यही आग्रह एकान्त आग्रह कहा जाता है। दार्शनिक दृष्टि संकुचित न हो कर विशाल होनी चाहिये। जितने भी धर्मवस्तु में प्रतिभासित होते हों, उन सबका समावेश उस दृष्टि में होना चाहिए। यह ठीक है कि हमारा दृष्टिकोण किसी समय किसी एक धर्म पर विशेष भार देता है, किसी समय किसी दूसरे धर्म पर। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तु में अमुक धर्म है और कोई धर्म नहीं। वस्तु का पूर्ण विश्लेषण करने पर प्रतीत होगा कि वास्तव में हम जिन धर्मों का निषेध करना चाहते हैं, वे सब धर्म वस्तु में विद्यमान हैं। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए वस्तु अनन्त-धर्मात्मक कही जाती है। वस्तु स्वभाव से ही ऐसी है कि उसका अनेक दृष्टियों से विचार किया जा सकता है और अनेक दृष्टियों से विचार करने पर ही वस्तु के यथार्थ ज्ञान या पूर्ण ज्ञान की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। इस दृष्टि का नाम अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त के उद्भवकर्ताओं ने यह अच्छी तरह अनुभव किया था कि जीवन-तत्त्व अपने में पूर्ण होते हुये भी वह कई अंशों की अखण्ड समष्टि है। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु तत्व की भी है। अतः वस्तु को समझने के लिए अंश का समझना भी आवश्यक है। किसी मशीन को पूर्ण रूप से समझने के लिए उसके पुर्जों का समझना भी जरूरी है। यदि हम अंश को समझने में आनाकानी करते रहे या उसकी अपेक्षा करते रहे तो हम अंशवान् याने वस्तुतत्व को

उसके सर्वांग संपूर्ण रूप नहीं समझ सकेंगे। साधारणतया समाज में जो झगड़ा या वादविवाद होता है, वह दुराग्रह, हठवादिता और एक पक्ष पर अड़े रहने के कारण होता है। यदि हम सत्य की जिज्ञासा से उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लें तो कहीं न कहीं सत्य का अंश निकल आयगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरफ से न देखकर उसे चारों ओर से देख लिया जाय, फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस दृष्टिकोण को ही महावीर ने अनेकान्त-वाद या स्याद्वाद कहा। आइन्स्टीन का सापेक्षवाद, भगवान् बुद्ध का विभज्य-वाद इसी भूमिका पर खड़ा है। अनेकान्तवाद इन दोनों का व्यापक या विक-सित रूप है। इस भूमिका पर ही आगे चलकर सगुण और निर्गुण के वाद-विवाद को, ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा की और विचार में अनेकान्त की प्रतिष्ठा कर महावीर ने अपनी दृष्टि को व्यापकता प्रदान की। भारत में उस युग में दर्शनों एवं धर्मों के परस्पर झगड़ों की ओर इन संघर्षों से होने वाले राग द्वेष को देखते हुए इनके शमन के लिए महावीर ने अनेकान्तवाद का संदेश दिया। विभिन्न धर्मों और दर्शनों में निहित सत्यों को स्वीकार करना और उनमें परस्पर समन्वय करना अनेकान्त है।

नित्य, अनित्य आदि सभी एकान्तवादी दार्शनिकों को सर्वथा एकान्त के आग्रह को छोड़कर दूसरे की दृष्टि को भी समझना चाहिये। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद में उन सभी संघर्षों का शमन किया गया है, जो समन्वय के अभाव में परस्पर विरोधी बनकर विषाक्त चिन्तन के वातावरण के निर्माण में तत्पर रहे। अनेकान्तवाद का स्पष्ट कथन है कि भाव-अभाव एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि जो दृष्टिभेद हैं, वे सर्वथा एकान्त मानने से दुष्ट और किसी अपेक्षा से मानने से पुष्ट होते हैं—वस्तु स्वरूप का पोषण करते हैं।

अनेकान्तवाद वस्तु के विराट स्वरूप को जानने का वह प्रकार है, जिसमें विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह हर हालत में पूरी वस्तु का मुख्य गौण भाव से स्पर्श हो जाता है। उसका कोई भी अंश कभी भी नहीं छूट पाता। सर्वत्र रहे हुए सत्यखंडों को जोड़ कर सत्य के दर्शन का महावीर का सिद्धान्त अनेकान्तवाद है।

अब अनेकान्त शब्द पर विचार करें। अनेकान्त शब्द दो शब्दों से मिल-कर बना है, एक 'अनेक' शब्द, दूसरा 'अन्त' शब्द। अन्त शब्द की व्युत्पत्ति

रत्नाकरावतारिका में इस प्रकार की गई है—'अम्यते[1] गम्यते-निश्चीयते इति अन्तः धर्म । न एकः अनेकः । अनेकश्चासौ अन्तश्च इति अनेकान्तः'[2] । वस्तु में अनेक धर्मों के समूह को मानना अनेकान्त है ।

अब अनेकान्तवाद-शब्द को लें । इसकी व्युत्पत्ति सप्तभंगी तरंगिणी में[3] इस प्रकार दी हुई है । 'अनेके अन्ता धर्मा यस्मिन् वादे, सः अनेकान्तवादः । यहाँ अन्त शब्द धर्मवाचक है । सप्तभंगीतरंगिणी में कहा गया है[4]—'अनेकान्तत्वम् नाम अनेकधर्मात्वकत्वम्' न्यायावतार में भी अंत शब्द का अर्थ अंश या धर्म किया है ।[5] वात्स्यायन न्यायभाष्य में भी अन्त शब्द का यही अर्थ किया गया है । 'सव्यभिचारः अनैकान्तिकः'[6] इस सूत्र में कहा गया है—'नित्यत्वमपि एकोऽन्तः । अनित्यत्वमपि एकोऽन्तः । एकस्मिन्नन्ते विद्यते इति ऐकान्तिकः, विपर्ययादनैकान्तिकः, उभयत्राव्यापकत्वादिति' यहाँ अन्त का अर्थ धर्म या कोटि लिया गया है ।

अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कहा जाता है । 'स्यात्' अनेकान्त द्योतक अव्यय है ।[7] अतः स्याद्वाद याने अनेकान्तवाद । नित्य और अनित्य आदि अनेक

---

१. 'अम् गत्यादिषु' भ्वादिगण ।

२. रत्नाकरावतारिका पृ० ८६ ।

३. सप्तभंगी तरंगिणी, पृ० ३० ।

४. सप्तभंगी तरंगिणी, पृ० ३० ।

५. न्यायावतार पृ० ६४ कारिका २६ । हेम कोष में—'अंतः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः, अवयवेऽपि' अमरकोष रामाश्रयी टीका ३०१-११६ में उद्धृत ।
युक्त्युनुशासन कारिका ६२ । विद्यानंदी युक्त्युनुशासन टीका पृ० १७१ ।

६. न्यायभाष्य १-२-५, न्यायवार्तिक पृ० १७० (चौखंबा १११६) ।

७. अष्टसाहस्त्री, पृ० २८६ । आप्त मीमांसा, श्लोक १०३ ।
पंचास्तिकाय गाथा १५ अमृतचन्द्रसूरि की टीका पृ० ३० ।

धर्मों से युक्त वस्तु के अभ्युपगम को स्याद्वाद कहते हैं।[1] इस प्रकार स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों पर्यायवाची शब्द हुए।

स्याद्वाद शब्द का दूसरा अर्थ भी किया जाता है। जैसा कि श्री प्रभाचन्द्र ने कहा है—'अनेकान्तात्मकार्यकथनं स्याद्वादः'[2]। अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहते हैं। न्यायावतार की टीका में सिद्धर्षिगणि ने कहा है—'निर्दिश्यमान-धर्मव्यतिरिक्ता-शेष-धर्मान्तर-संसूचकेन स्यातायुक्तो वादः-अभिप्रेत-धर्मवचनं स्याद्वादः'[3]। बताये जाने वाले धर्म से अतिरिक्त समग्र धर्मों की सूचना देने वाले 'स्यात्' शब्द से युक्त कथन याने अभिप्रेत धर्मों का कथन ही स्याद्वाद है।

'स्यात्' यह अस् धातु का विधिलिङ् में प्रथम पुरुष का एक वचन नहीं है। जिस प्रकार 'अस्ति' शब्द को तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मानते हैं, वैसे 'स्यात्' यह शब्द भी जैन दर्शन में तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय माना जाता

---

१. स्यादिति अनेकान्तद्योतकम् अव्ययम्, ततः स्याद्वादः, अनेकान्तवादः नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्, स्याद्वादमंजरी पृ० १५ सर्वनयात्मकत्वाद् अनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनाम् एकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः एवं पृथगभिसंधीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्र-प्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेशः-स्याद्वाद मंजरी पृ० २३६, स्याद्वाद-केवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने-अष्टसाहस्री कारिका १०५ पृ० ३६१ स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ विशेष-व्यंजको नयः—वही कारिका १०६ पृष्ठ ३६२।

विधेयम् ईप्सितार्थांगं, प्रतिषेध्याविरोधियत्।
तथैवादेय-हेयत्वम् इति स्याद्वादसंस्थितिः

अष्ट-साहस्री कारिका, ११३, पृ० ३६४।

स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेः त्वमतोऽसि शास्ता-स्वयंभूस्तोत्र कारिका १४।

२. न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ६८६।

३. न्यायावतार टीका पृ० ९३, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३८६ टिप्पणी नं० १०।

है ।[1] यह अनेकान्त का द्योतक कहा जाता है । स्याद्वाद शब्द की तीन व्युत्पत्ति है । अतः इसके तीन अर्थ हैं—(१) स्यादिति वादः स्याद्वादः (२) स्यादिति अनेकान्तः, तस्य वादः कथनं स्याद्वादः-अनेकान्तवादः । (३) स्यातावादः-कथंचित् इति शब्देनकथनम् स्याद्वादः, अनेकान्ताभिव्यंजक-शैली इत्यर्थः' ।[2] मतलब यह है कि स्याद्वाद शब्द का एक अर्थ है—अनेकान्तवाद । दूसरा अर्थ है—अनेकान्त को कथन करने की भाषा शैली । दोनों अर्थ जैन विद्वान् लोगों ने लिये हैं ।

ऊपर 'धर्म' शब्द के बारे में कुछ कहा गया है । यद्यपि धर्म का अर्थ सामान्यतः गुण होता है, इसे शक्ति भी कहते हैं । तो भी गुण और धर्म में अन्तर है । प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियां हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं । उनमें से जो शक्तियां परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें 'धर्म' कहते हैं । जैसे नित्यानियत्व, एकत्वानेकत्व, सत्वासत्व आदि । जो शक्ति विरोधाभास से रहित है, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं । जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि ।[3]

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी दर्शन सहज स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु जिनमें विरोध सा प्रतिभासित होता है, उन्हें अनेकान्तवाद स्वीकार करता है । इतरजन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं । अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है ।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक युगल पाये जाते हैं । अतः वस्तु केवल अनेक धर्मों का ही पिण्ड नहीं है, किन्तु परस्पर विरुद्ध से दिखने वाले अनेक धर्मयुगलों का भी पिण्ड है । उन परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले धर्मों को ही स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है ।

---

१. सर्वदशन संग्रह पृ० ८४ आर्हतदर्शन । (भांडारकार ओरियंटल इस्टीट्यूट, पूना, १९२४) स्यात् शब्दः विधिविचारणास्तित्व विवादानेकान्तसंशयाद्यर्थवृत्तिः । अत्र अनेकान्तद्योतनमेवार्थो विवक्षितः । तत्त्वार्थ-सूत्र सिद्धसेनगणि टीका ५।३१ पृ० ४१० ।

२. अष्टसाहस्त्री पृ० २८७ टिप्पणी ।

३. डा० हुकमचन्द भारिल्ल—तीर्थंकर महावीर पृ० १४८-१४९ ।

वस्तु में गुण तो सीमित है, लेकिन धर्म अनन्त हैं। वस्तु के स्वरूप को देखने के लिए उसके निज के गुणों के साथ साथ अन्य वस्तुओं से उसमें भिन्नता भी देखनी पड़ती है। घट है, इस दर्शन के साथ यह विचार आता है कि क्या घट, पट है? उत्तर होता है, घट, पट नहीं है, अर्थात् पटनिरूपित और पटप्रतियोगिक सत्त्वाभाव घट में है। याने घट में स्वरूप से सत्त्व है, पर रूप से असत्त्व है। यदि पररूप से असत्त्व नहीं मानते हुए सत्त्व माना तो घट विश्वरूप हो जायगा याने घट, पटादिविश्ववस्तु-रूप हो जायगा? वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। कोई भी वस्तु विश्वरूप नहीं है। अतः उससे निरूपित अभाव या तत्प्रतियोगिक भेद उस वस्तु में मानना जरूरी है। तभी उसके स्वरूप के यथार्थ दर्शन होंगे। घट से भिन्न विश्व में अनन्त पदार्थ हैं, उनसे निरूपित भिन्नता घट में, घट के स्वरूप दर्शन के लिए मानना चाहिये। अतः अनन्तवस्तु-निरूपित-भिन्नता घट में आती है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही घट के स्वरूप हैं। घट का स्वरूपादि से अवच्छिन्न अस्तित्व और पररूपादि से अवच्छिन्न नास्तित्व प्रत्यक्ष से ही ग्रहण किये जाते हैं। घट स्वरूप से याने घटत्व रूप से है और पर रूप से याने पटत्व रूप से नहीं है—यह प्रतीति अबाधित है। पर रूप से भी घट में अस्तित्व आया तो इसका मतलब यह होगा कि घट पट हो जायगा। अबाधित प्रतीति यह है कि घट पट नहीं है। अतः पटत्व रूप से घट में नास्तित्व है। जिस प्रकार साधर्म्य, वैधर्म्य से अविनाभूत है, उसी प्रकार अस्तित्व, स्वभाव से नास्तित्व से अविनाभूत है। अविनाभूत का अर्थ है नियम से एक अधिकरण में रहना।[1] इस प्रकार नास्तित्व भी वस्तु का धर्म है।[2] इस दृष्टि से वस्तु अनंत धर्मात्मक कही है। इस वाद को मानने का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद वस्तु को अपने अशेषधर्मों के साथ संपूर्ण रूप से जानने के लिए किया जाने वाला सर्वोत्कृष्ट प्रयास है।

वस्तु का स्वरूप एवं उसके गुण नित्य हैं, परन्तु पर्याय बदलते हैं। पर्याय माने वस्तु में होने वाले परिवर्तन का आधार। किसी भी वस्तु में परिणाम होते हैं तो द्रव्य की और उसके स्वरूप की स्थिति वही रहती है। ये आन्तरिक तत्त्व हैं। परिणाम द्रव्य की बाह्य स्थिति में परिवर्तन लाते हैं। ये बाह्य रूप ही बदलते रहते हैं। वस्तु के जीवन में आने वाले ये परिणाम अनादि काल

---

१. सप्तभंगी तरंगिणी, पृ० ५२।
२. आप्तमीमांसा, श्लोक ६०।

से होते चले आ रहे हैं और अनन्त काल तक चलते रहेंगे, पर्यायों की दृष्टि से भी वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है।

वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से ही सत्य बहुत पहलुओं वाला है, और उसका हर एक पहलू ज्ञातव्य है और उसे निरपेक्ष जानना असंभव है। जो हमारे दर्शन में है वह अन्तिम नहीं है। उसके अतिरिक्त बहुत कुछ ऐसा है, जिसका ज्ञान होना जरूरी है। 'स्यात्' का एक वैज्ञानिक, एक सांस्कृतिक और एक आध्यात्मिक आयाम है। यह एक चिन्तन प्रक्रिया है। इसका सबसे महत्त्व का पहलू यह है कि यह हर वस्तु की यथार्थता को सापेक्षता में ढूंढ़ता है।

ऊपर बताया गया है कि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उन सबका कथन एक साथ तो संभव नहीं है, क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है। वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है, जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है। बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं, क्योंकि उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है। यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा और अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में सभी धर्म, प्रति समय अपनी पूरी हैसियत से विद्यमान रहते हैं। उनमें-मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि वस्तु में तो उन पारस्पर विरोधी धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति है। वे तो उस वस्तु में अनादि काल से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने से वाणी में विवक्षा, अविवक्षा और मुख्य, गौण का भेद किया जाता है।

प्रत्येक वस्तु परवस्तु से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुणों को या धर्मों को धारण करने में किसी पर भी अपेक्षा रंच मात्र भी नहीं हैं। उसमें नित्यता, अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है। वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायगा, तब अनित्यता का कथन संभव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः इस गलतफहमी को दूर करने के लिए हम 'किसी अपेक्षा से नित्य भी हैं'—ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जायगी कि किसी अपेक्षा से अनित्य

भी है। भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण यह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में 'स्यात्' पद का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यात्' पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर उनका अभाव नहीं। उसके प्रयोग के बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है। अतः 'स्यात्' पद का प्रयोग वाक्य में किया जाता है।

अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति 'स्याद्वाद' है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं, और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म के साथ अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, इनका निषेध न होने पाये, इस प्रयोजन से प्रत्येक वाक्य के साथ 'स्यात्' या 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[1]

अनेकान्तवाद स्याद्वाद का इस अर्थ में पर्यायवाची है कि ऐसा वाद-कथन अनेकान्तवाद कहलाता है, जिसमें वस्तु के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन मुख्य गौण भाव से होता है। यद्यपि ये दोनों पर्यायवाची हैं, फिर भी 'स्याद्वाद' शब्द निर्दुष्ट भाषा-शैली का प्रतीक बन गया है। अनेकान्त-दृष्टि तो ज्ञान-रूप है, अतः वचन-रूप स्याद्वाद से उसका भेद स्पष्ट है। 'स्याद्वाद' सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा-पद्धति है। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वइए
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स ॥[2]

जिसके बिना संसार का व्यवहार सर्वथा चल ही नहीं सकता, उस अनेकान्तवाद को नमस्कार है। वास्तव में अनंतधर्मात्मक वस्तु के यथार्थ एवं पूर्ण दर्शन का व्यवहार अनेकान्तवाद के बिना असंभव है।

यद्यपि जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी माने तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः जैन दर्शन

---

१. जैनेंद्रसिद्धान्तकोष भाग ४, पृ० ४९७।

२. सन्मति तर्क ३।६८।

में अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है।[1] जैन दर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है, न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में में अनेकान्त है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः
अनेकान्तः प्रमाणात्तेतदेकान्तोऽर्पितान्नयात्' ॥[2]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

'जं वत्थु अणेयन्तं, एयतं त पि होदि सविपेक्खं
सुयणाणेण ण एहि य, निरपेक्खं दीसदे णेव' ॥[3]

प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त भी अनेकान्त है। अनेकान्त प्रमाण की दृष्टि से और अर्पित नय की दृष्टि से एकान्त है। जो वस्तु अनेकान्त है, वही किसी अपेक्षा से एकान्त भी है। श्रुतज्ञान और नय से निरपेक्ष वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। श्रुत ज्ञान की अपेक्षा से अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा से एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता।

'हाथी का पैर खंभे के समान ही है—यह कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है। अतः 'ही' लगाना आवश्यक है। तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है, अतः 'भी' लगाना जरूरी है।

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का पिण्ड है, तथापि वस्तु में संभाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते हैं, असंभाव्यमान नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्यत्व अनित्यत्व के समान चेतनत्व और अचेतनत्व धर्मों की संभावना का प्रसंग आवेगा।[4]

---

१. विस्तार से यह विषय आगे आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि से अनेकान्त का विवेचन करते समय आया है। यहां संक्षेप में लिया है।

२. स्वयंभूस्तोत्र श्लोक १०३।

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१।

४. धवला, पु० १, खण्ड १ भाग १ सूत्र ११ पृ० १६७।

अनेकान्त और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह जागरूकता रखना बहुत आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता वस्तु में प्रतिपादित करते हैं, उनकी सत्ता वस्तु में संभावित है भी या नहीं। अन्यथा कहीं हम ऐसा न कहने लगे कि कथंचित् जीव चेतन है, और कथंचित् अचेतन भी। अचेतनत्व की जीव में संभावना नहीं है। अतः यहाँ अनेकान्त बताते समय अस्ति और नास्ति के रूप में घटाना चाहिये, जैसे जीवन चेतन ही है, अचेतन नहीं।

वस्तुतः चेतनत्व ओर अचेतनत्व तो परस्पर विरोधी धर्म है और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नहीं, विरोधी-से प्रतीत होने वाले धर्म हैं। वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं नहीं। उनकी सत्ता द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है।

हम ऊपर के प्रकरण में बता चुके हैं कि वस्तु स्थिति को देखकर अनेकान्त का उद्भव हुआ है। वस्तु का जैसा रूप स्वरूप है, उसको पूर्ण व यथार्थ रूप से देखने के लिये अनेकान्तवाद आया है। अर्थात् वस्तु का स्वरूप मुख्य है जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही तो हम अनेकान्त दृष्टि से देख सकते हैं। अनेकान्त को प्रयुक्त करने में हम इतने विवेकहीन न हो जायँ कि वस्तु-स्वरूप के विरुद्ध ही कहने लग जायँ। यह अनेकान्तवाद का दुरुपयोग है। अतः वस्तु स्वरूप की स्थिति के अनुसार बहुत जागरूकता के साथ अनेकान्त को लागू किया जाय। महावीर का स्याद्वाद रूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए। अन्यथा धारण करने वाले का ही मस्तक भंग हो सकता है।[1]

अनेकान्त सिद्धान्त व स्याद्वाद इतना गूढ़ व गंभीर है कि इसे गहराई से और सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुँचना असम्भव है, क्योंकि ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत सा प्रतीत होता है।

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ५९ (अमृतचंद्र सूरि)।
'अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।'

विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये, जिससे हम उसका पूर्ण एवं यथार्थ रूप से ज्ञान कर सकें, यह स्याद्वाद हमें सिखाता है। यह निश्चय एवं यथार्थ बात है कि विविध दृष्टि बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में जानी नहीं जा सकती।

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवल ज्ञान के समान सर्वतत्व-प्रकाशक माना है। भेद मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का है। जैसे कहा है—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने
भेदः साक्षावसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।[1]

इसी बात को दूसरे ढंग से आचारांग सूत्र में कहा है—

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणई
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणई।[2]

ऊपर बतलाया गया है कि जगत में वस्तुएं अनन्त हैं, अतः उनकी व्यावृत्ति या तत्प्रतियौगिक-भिन्नता भी अनन्त है। यह व्यावृत्ति वस्तु का धर्म है, अतः अनन्तधर्मात्मक है। अन्य के और तन्निरूपित व्यावृत्ति के ज्ञान के बिना वस्तु का यथार्थ ज्ञान संभव नहीं है। उसके ज्ञान से ही वस्तु का ज्ञान हो सकता है। इसीलिये यह माना जाता है कि एक वस्तु का पूर्ण ज्ञाता सब वस्तु का पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। जो सब वस्तु का ज्ञाता हो जाता है, वह एक वस्तु का भी पूर्ण ज्ञाता हो जाता है।[3]

---

१. आप्त-मीमांसा-श्लोक १०५।

२. आचारांग सूत्र तृतीय अध्ययन चतुर्थ उद्देश्यक सूत्र १२२ पृ० १७१ स्याद्वादमंजरी, पृ० ११५ में उद्धृत। तुलना कीजिये—
"एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति
आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।।—उपनिषद्

३. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वेभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वेभावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।।
स्याद्वाद मंजरी, पृ० ११५, तत्वोपप्लव पृ० ७६, न्याय वा० तात्पर्य-टीका पृ० ३७ में उद्धृत।

ऊपर कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह वस्तु का स्वरूप है। यह त्रयात्मकता वस्तु की जान है। इसी को स्वामी समन्तभद्र ने लौकिक दृष्टान्तों में इस प्रकार समझाया है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्
शोक-प्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥[1]

जब सोने के कलश को मिटाकर मुकुट बनाया जाता है, तब कलश के चाहने वाले को उसके नाश से शोक होता है। मुकुट चाहने वाले को अपनी इच्छा के अनुरूप मुकुट बन जाने से हर्ष होता है। जो केवल सुवर्ण को चाहने वाला है, उसको माध्यस्थ्य भाव रहता है। कलशार्थी को शोक कलश के नाश के कारण होता है। मुकुटाभिलाषी को हर्ष मुकुट के उत्पाद के कारण होता है। सुवर्णार्थी को तटस्थता दोनों दशाओं में सुवर्ण द्रव्य के बने रहने के कारण हुई है।[2] अतः वस्तु उत्पादादित्रयात्मक है।

जब दूध को जमाकर दही बनाया जाता है, जिस व्यक्ति को दूध खाने का व्रत है, वह दही नहीं खायगा। पर जिसे दही खाने का व्रत है, वह दही को तो खा लेगा, पर दूध को नहीं खायगा। जिसे गोरस के त्याग का व्रत है, वह न दूध खायगा और न दही, क्योंकि दोनों ही अवस्था में वह गोरस है ही।[3] इससे ज्ञात होता है कि गोरस की ही दूध और दही दोनों क्रमिक पर्यायें (परिणाम) हैं।

---

१. आप्तमीमांसा श्लोक ५९। शास्त्र वार्तासमुच्चय ७।२।

२. तुलना कीजिये—वर्धमानक-भंगे च रुचकः क्रियते यदा,
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्,
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्य-नित्यता।
मीमांसा-श्लोक वार्तिक पृ० ६१९।

३. पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः,
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥
शास्त्रवार्तासमुच्चय ७।३ आप्तमीमांसा श्लोक ६०।

उस समय वस्तु की त्रयात्मकता को तत्कालीन अन्य विचारकों एवं विद्वानों ने भी प्रतिपादित किया है। पातंजल महाभाष्य[1] में भी पदार्थ की त्रयात्मकता का समर्थन शब्दार्थ-मीमांसा के प्रकरण में मिलता है। आकृति नष्ट होने पर भी पदार्थ की सत्ता बनी रहती है। यह सुनने में जरा अटपटा लगता है कि 'जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह ध्रुव कैसे हो सकता है? यह तो प्रकट विरोध है।' परन्तु वस्तु स्थिति का थोड़ा स्थिरता से विचार करने पर यह कुछ भी अटपटा नहीं लगता।[2] इसके माने बिना तत्व के स्वरूप का निर्वाह ही नहीं हो सकता। स्वयं वस्तु की स्थिति ऐसी ही है तो उसमें विरोध का प्रश्न नहीं उठता। प्रमाणवार्तिक[3] कार ने वस्तु-स्थिति के अनुसार ही कहा है—

'यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते, तत्र के वयम् ?'

अर्थात् यदि चित्ररूपता—अनेकधर्मता वस्तु को स्वयं रुच रही है वस्तु का स्वभाव ही बन गया है। उसके बिना उसका अस्तित्व संभव नहीं है, तो हम इसके बीच में हस्तक्षेप कैसे कर सकते हैं? आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो
गुणपज्जएसु भावा उप्पायवयं प्रकुव्वेति।[4]

---

१. द्रव्यं हि नित्यम्, आकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्ण-पिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिरांगार-सदृशे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनः तदेव। आकृत्युपमर्देन-द्रव्यमेवावशिष्यते। पातंजल महाभाष्य १।१।१, योग्यभाष्य ४।१३ सर्वदर्शनसंग्रह सांख्यदर्शन, पृ० ६२४।

२. योगभाष्य ४।१२ पृ० ४६५ 'धर्मी अनेकस्वभावः। तस्य च अध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः।'

३. प्रमाणवार्तिक पृ० १६३।२।२१०।

४. पंचास्तिकाय गाथा १५ तुलना कीजिये—भगवद्गीता २।१६।
'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

अनेकान्त का विकास

ऊपर बतलाया गया है कि अनेकान्तवाद का प्रादुर्भाव तीर्थंकर के त्रिपदी-रूप उपदेश से हुआ। 'त्रिपदी' अनेकान्तवाद की विचार पद्धति का सारतत्त्व है। अनेकान्त, स्याद्वाद एवं नयविषयक विपुल साहित्य इसी का ही विस्तार है। 'त्रिपदी' ही आधारभूमि है, जिस पर बाद में होने वाले आचार्यों ने विपुल साहित्य का निर्माण किया। आज वह जैन दर्शन के भव्य महल के रूप में स्थित है।

उपर्युक्त त्रिपदी रूप उपदेश के बाद उसी को आधार मानकर तीर्थंकर के प्रधान शिष्य, जो गणधर कहलाते हैं, शास्त्रों की रचना करते हैं। प्रधान शास्त्र द्वादश अंग कहलाते हैं। यह श्रुत अंग-प्रविष्ट कहलाता है। इसके बाहर का बाद के आचार्यों का बनाया हुआ अंग-बाह्य श्रुत कहलाता है। इनमें बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' कहलाता है। श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता है कि एकादश अंग विद्यमान हैं, बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' व्यवच्छिन्न हो गया है।[1] दिगंबर संप्रदाय की मान्यता है कि एकादश अंग नष्ट हो गये। दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का हिस्सा अवशिष्ट है। जिस श्रुत का श्वेतांबर परम्परा में लोप हुआ, उस श्रुत की धारा दिगम्बर परम्परा में सुरक्षित है और दिगम्बर परम्परा जिस अंगश्रुत का लोप मानती है, उसका संकलन श्वेतांबर परम्परा में प्रचलित है।[2]

अब यहाँ अंग में अनेकान्त का क्या स्वरूप है—इस पर विचार करें। ठाणांग सूत्र तीसरा अंग है, समवायांग सूत्र चतुर्थ अंग है। स्थानांग (ठाणांग) सूत्र में प्रारंभ में ही कहा है'... एगे आया, एगे दंडे, एगा किरिया, एगे लोए....'[3]

समवायांग सूत्र में भी कहा है—'एगे आया, एगे अणाया....'[4]

---

१. समवायांग सूत्र की अभयदेव सूरि की टीका पृ० १२६।
'सर्वमिदं प्रायोव्यवच्छिन्नम् तथापि यथादृष्टं किमपि लिख्यते।'
२. न्यायाचार्य डा० महेन्द्रकुमार—जैन दर्शन, पृ० ११-२२।
इसीके पृ० २१ का प्रथम पैरा।
३. स्थानांगसूत्र प्रथम स्थान का प्रारम्भ, पृ० १ से ३।
४. समवायांग सूत्र पृ० १।

दोनों जगह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से वस्तु के एकत्व का वर्णन है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव आत्मा एक है, इत्यादि। आगे आत्मा के भेद बतलाये हैं। पहले, आत्मा के दो भेद बताये हैं। त्रस, स्थावर, संसारी, असंसारी[1] आदि। बाद में आत्मा के अधिक भी भेद बताये हैं। इस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोण से एक ही वस्तु को विभिन्न बतलाया है।

इसी की व्याख्या में महान टीकाकार अभयदेव सूरि लिखते हैं कि 'एकः आत्मा, कथंचिदिति गम्यते। इदंच सर्वसूत्रेषु अनुगमनीयम्। तत्र प्रदेशार्थतया असंख्यात-प्रदेशोऽपि जीवः द्रव्यार्थतया एकः। अथवा प्रतिक्षणं पूर्व-स्वभावक्षया-परस्वरूपोत्पादयोगेन अनंतभेदोऽपि कालत्रयानुगामि चैतन्यमात्रापेक्षया एक एव आत्मा। अथवा प्रतिसंतानं चैतन्यभेदेन अनन्तत्वेऽपि आत्मनाम् संग्रहनयाश्रित-सामान्यरूपापेक्षया एकत्वम् आत्मनः।'

यहाँ पर कथंचित् शब्द गम्य है। प्रदेश रूप से असंख्यात प्रदेश वाला भी जीव द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से एक है अथवा प्रतिक्षण पूर्व-स्वभाव के क्षय के और अपर स्वरूप के उत्पाद के योग से अनन्त भेद वाला भी तीनों कालों में अनुगत चैतन्य स्वरूप मात्र की अपेक्षा से आत्मा एक है। अथवा प्रतिसंतान चैतन्य के भिन्न होने से आत्मा के अनन्त होने पर भी संग्रह नय के आश्रित सामान्य रूप की अपेक्षा से आत्मा एक है।'[2]

---

१. स्थानांगसूत्र द्वितीय स्थानक का प्रारम्भ।
'तसे चैव थावरे चैव..........संसार समावन्नगा असंसारसमावन्नगा।'

२. प्रतिक्षणं पूर्व स्वभावक्षयापरस्वरूपोत्पादयोगेन अनन्तभेदोऽपि कालत्रयानुगामिचैतन्यमात्रापेक्षया एक एव आत्मा। अथवा प्रतिसंतानं चैतन्यभेदेन अनंतत्वेऽपि आत्मनां संग्रहनयाश्रित सामान्यरूपापेक्षया एकत्वम् आत्मनः।

—समवायांगसूत्र पृ४ ५।

द्रव्यार्थतया एकत्वम् एकद्रव्यत्वाद् आत्मनः, प्रदेशार्थतया तु अनेकत्वम्, असंख्येयप्रदेशात्मकत्वात् तस्य

—स्थानांग सूत्र पृ० ६ सूत्र २ की व्याख्या।

वस्तु के तत्त्व ज्ञान के लिये शास्त्रों में निक्षेप बताये हैं। एक जगह छह[1] निक्षेप, दूसरी जगह बारह[2] निक्षेप बतलाये हैं। छह निक्षेप ये हैं—नाम, स्थापना, क्षेत्र, काल, द्रव्य और भाव। इनसे प्रत्येक तत्त्व का विश्लेषण किया गया है। अनेक दृष्टिकोण से विश्लेषण कर वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोण से देखने का साधन निक्षेप है। यहाँ एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोण से विभिन्न निरूपित किया गया है।

भगवती सूत्र पाँचवाँ अंग है। यह अंग महत्त्व का माना गया है। इसमें महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम के सैंकड़ों प्रश्नों के उत्तर देकर विषय को अच्छी तरह समझाया है। एक जगह कहा है—

'से नूणं भंते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्तं नत्थित्ते परणमई ?' हंत गोयमा, जाव परिणमई।'[3]

यहाँ बतलाया गया है कि अस्तित्व अस्तित्व में और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है। अंगुली का अंगुलीभाव से अस्तित्व और अंगुष्ठभाव से असत्त्व है।[4] जिस प्रकार मिट्टी का नास्तित्व तंत्वादिरूप तथा मिट्टी के नास्तित्व रूप पट में रहता है। पट तंत्वादिरूप है, उसमें मिट्टी का नास्तित्व रहता है। यहाँ वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों विरुद्ध से प्रतीत होने वाले धर्म बतलाये हैं।

---

१. सूत्रकृतांग गाथा १४२ पृ० २६६।

२. वही गाथा, २९।

३. भगवती सूत्र पृ० ५५।

४. अस्तित्वं—अंगुल्यादेः अंगुल्यादिभावेन सत्वम् 'उक्तं च—सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्तिच, अन्यथा सर्वभावानाम् एकत्वं संप्रसज्यते।.... नास्तित्वम्-अंगुल्यादेः अंगुष्ठादिभावेन असत्त्वम्, तच्च अंगुष्ठादिभाव एव, ततश्च अंगुल्यादेः नास्तित्वम् अंगुष्ठाद्यस्तित्वरूपम् अंगुल्यादेः नास्तित्वे अंगुष्ठादेः पर्यायान्तरेण अस्तित्वरूपे परिणमति यथा मृदो नास्तित्वं तन्त्वादिरूपम् मृन्नास्तित्वरूपे पटे इति।'

—भगवती सूत्र अभयदेवीय टीका, पृ० ५५।

भगवतीसूत्र अभयदेवीय वृत्ति में आगे कहा गया है—'द्रव्यास्तिक (नय) मत से वस्तु नित्य है, वही पर्यायास्तिक नय के मत से अनित्य कैसे होगी ? क्योंकि दोनों में विरोध है।' इस शंका के उत्तर में आचार्य बतलाते हैं—"द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य है। अपेक्षाभेद से एक समय में एक ही जगह विरुद्ध धर्मों का समावेश दिखाई पड़ता है। जैसे पिता की अपेक्षा से जो पुत्र है वही पुत्र की अपेक्षा से पिता है।[1] एक ही व्यक्ति में अपेक्षा भेद से पुत्रत्व और पितृत्व ये दोनों विरुद्ध धर्म रहते हैं और यह सर्व-सम्मत है। जैसे एक ही वृक्ष में संयोग एवं संयोगाभाव दोनों रहते हैं।

स्कंदक के प्रश्न के उत्तर में महावीर ने कहा—'लोक सान्त भी है, और अनंत भी है। इसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से देखना चाहिये। द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है तथा काल और भाव की दृष्टि से लोक अनंत है। इसी प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से जीव सांत है और काल तथा भाव की दृष्टि से जीव अनंत है।[2] इसी प्रकार 'अस्तिकाय' का वर्णन भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से किया गया है।[3] यह भी सापेक्ष दृष्टि है।

अभयदेवीय वृत्ति में, नय की दृष्टि से विवेचन है—'निश्चय नय से एक भी प्रदेश से न्यून धर्मास्तिकाय नहीं है। व्यवहार नय की दृष्टि से

---

१. भगवती सूत्र अभयदेवीय टीका, पृ० ९१-६२।

२. सेत्तं खंदगा, दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते भावओ लोए अणंते। जेविय ते खंदया, जाव सअंते जीवे, अणंते जीवे।
व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) पृ० ११७ सू० ९१।

३. सिया जाव एगपदेसूणेविय णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाएत्ति वत्तव्वं सिया।............ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निखसेसा एगगहण-गहिया एसणं गोयमा, धम्मत्थिकाएत्ति वत्तव्वे सिया....
वही पृ० १४७ सूत्र ११९।

एक प्रदेश से कम भी वस्तु वस्तु ही है। थोड़ा सा खंडित घट घट ही कहा जाता है।[1]

अपेक्षा दृष्टि से आत्मा को दर्शन और दर्शन को आत्मा कहा गया है।[2]

इस प्रकार अपेक्षा दृष्टि से वस्तु का दर्शन कराया गया है, जो विभिन्न रूपों में है।

'अंगबाह्यश्रुत में 'नन्दी सूत्र' जैन दृष्टि से ज्ञान चर्चा करने वाली अच्छी रचना है। इस पर मलयगिरि आचार्य की मलयगिरि नामक टीका प्रसिद्ध है। उसमें एक स्थान पर स्वभाव एवं धर्मों की सुन्दर विवेचना की गई है।

कर[3] शब्द का अर्थ हाथ है और दूसरा अर्थ किरण है। जिस स्वभाव से कर शब्द हाथ का अर्थ बतलाता है, उसी स्वभाव से किरण अर्थ को नहीं बतला सकता। स्वभाव-भेद से किरण अर्थ बतलावेगा। उसी प्रकार 'अकार' भी ककारादि वर्णों से संयुक्त होकर विभिन्न अर्थों को बतलाता हुआ

---

१. अत्र अभयदेवीया टीका—यथा खंडचक्रं चक्रं न भवति, खंडचक्रमित्येवं तस्य व्यपदिश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चक्र चक्रं भवति, एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशेनापि ऊनः न धर्मास्तिकाय इतिवक्तव्यः स्यात्। एतच्च निश्चयनयदर्शनम्। व्यवहारनयमतं तु एकदेशेन ऊनमपि वस्तु वस्तु एव, यथा खण्डोऽपि घटः घट एव, छिन्नकर्णो पि श्वा श्वेव।'

—भगवती सूत्र, पृ० १४९।

२. गोयमा आया नियतं दंसणे, दंसणे वि नियमं आया।

—भगवती सूत्र पृ० ५८९ श्लोक सूत्र ४६८।

३. नयेनैव स्वभावेन करशब्दः हस्तमाचष्टे, तेनैव स्वभावेन किरणमपि, किन्तु स्वभावभेदेन, तथा अकारोऽपि तेन तेन ककारादिना संयुज्यमानः तं तं अर्थं ब्रुवाणो भिन्नस्वभावो वेदितव्यः। ते च स्वभावा अनन्ता ज्ञातव्याः वाच्यस्यानंतत्वात्। एते च सर्वेऽपि अकारस्य स्वपर्यायाः, शेषास्तु सर्वेऽपि घटादिपर्यायाः आकारादिपर्यायाश्च परपर्यायाः।

—नन्दीसूत्र मलयगिरि टीका पृ० १९९-२००।

भिन्न स्वभाव वाला ही माना जाना चाहिए। वे स्वभाव अनन्त समझने चाहिये, क्योंकि वाच्य-वस्तु अनंत है। ये सब 'अकार' के स्वपर्याय हैं। शेष सब घटादिपर्याय और आकारादि पर्याय पर-पर्याय हैं। ये परपर्याय स्वपर्याय से अनन्तगुणे हैं। वे भी अकार के सम्बन्धी समझे जाने चाहिये। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जो उसके स्वपर्याय हैं वे उसके सम्बन्धी भले ही होवें, परन्तु जो परपर्याय हैं, विभिन्न वस्तुओं के आश्रित हैं, अतः उसके सम्बन्धी कैसे कहे जा सकते हैं? इसका उत्तर इस प्रकार है।[1]

यहाँ सम्बन्ध दो प्रकार से है—अस्तित्व से और नास्तित्व से। इनमें अस्तित्व से सम्बन्ध स्वपर्यायों से है, जैसे रूप आदि से घट का सम्बन्ध है। नास्तित्व से सम्बन्ध परपर्यायों से होता है, क्योंकि परपर्यायों का वहाँ रहना असंभव है। जैसे घटावस्था में मिट्टी का पिण्ड आकृतिवाला पर्याय नहीं रह सकता है। क्योंकि वे उसके नहीं हैं, अतः नास्तित्व सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, और इसीलिये वे परपर्याय कहे जाते हैं। ऐसा नहीं माना जाय तो उनका भी वहाँ अस्तित्व संभव होगा और वे उसके स्वपर्याय ही हो जायेंगे। अब प्रश्न यह होता है कि जो जहाँ नहीं है, वे उसके कैसे कहे जा सकते हैं?

यदि नास्तित्व सम्बन्ध को लेकर वे उसके नहीं है, ऐसा कहा जाय तो यह प्राप्त हुआ कि सामान्यतः नहीं है, तो फिर स्वरूप से भी वे नहीं है। यह बात न दृष्ट है और न इष्ट है। इसलिये नास्तित्व सम्बन्ध को स्वीकार करके उस संबंध से वे उसके हैं—ऐसा कहना चाहिये। नास्तित्व संबंध को लेकर धन भी दरिद्र का कहा ही जाता है। लोक में भी कहा जाता है कि 'इस दरिद्र के धन नहीं है।' अस्तित्व से वह उसका है—यह नहीं कह सकते, किन्तु नास्तित्व से वह उसका है यह तो कहना ही पड़ेगा। अतः लोक-व्यवहार का अतिक्रमण भी नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि नास्तित्व अभाव रूप है और अभाव तुच्छ है, अर्थात् नहीं रूप है। अतः तुच्छ के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? तुच्छ सब शक्ति से रहित है, अतः सम्बन्ध की शक्ति भी वहाँ नहीं है। पर पर्यायों का वहाँ नास्तित्व है, तो नास्तित्व के साथ सम्बन्ध होने दीजिये, परपर्यायों के साथ तो कैसे सम्बन्ध हो सकता है। घट पटाभाव से सम्बद्ध है, इसका मतलब यह

---

१. **विशेषावश्यक भाष्य गाथा ४७९ पृ० २२२, २२३।**
नन्दीसूत्र मलयगिरि टीका पृ० १९९-२००।

नहीं है कि पट के साथ भी उसका सम्बन्ध हो। क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती हैं।[1] इसका उत्तर यह है—

यह प्रतीति होती है कि 'घट पट नहीं है।' यहाँ पर घट में पट-निरूपित नास्तित्व है। यहाँ नास्तित्व का मतलब है, उस उस रूप में नहीं होना। जैसे घट पट रूप से नहीं है। अतः उस उस रूप से नहीं होना—यह वस्तु का धर्म हुआ। अतः एकान्त रूप से अभाव को तुच्छ मानना उचित नहीं है। घट का पट के साथ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं है। विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा से वह उस उस रूप से नहीं है। जो जो घटगत पर्याय हैं, उस उस रूप से उन्होंने घट में होना चाहिये, अतः उस उस पर्याय की वह अपेक्षा रखता हैं, यह सर्वविदित है। इसी प्रकार उस उस पर्याय से नहीं होना, याने घट का पट रूप से नहीं होना—यह भी उस उस पर्याय की अपेक्षा से ही सम्भव है, अतः वे परपर्याय भी उसके उपयोगी हैं, अतः उसके हैं, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार की विवक्षा में पट भी घट का संबंधी होता ही है। पट की अपेक्षा से ही घट में पट निरुपित-नास्तित्व रहता है। लौकिक लोग भी घट और पट आदि को परस्पर इतरेतराभाव याने भेद को लेकर संबद्ध का ही व्यवहार करते हैं—यह सर्वसंमत है। जैसे घटः पटो न, अर्थात् पटभेद का अधिकरण घट है। केवल भेद का नहीं, अपितु पट-भेद का अधिकरण है। इस प्रकार भेद के साथ पट भी संबंधित हुआ।[2]

एक तर्क और भी है, अपने पर्याय के विशेषण रूप से जिनका उपयोग होता है, वे उसके पर्याय माने जाते हैं, जैसे घट के रूपादिपर्याय घट के स्वपर्याय के विशेषण रूप से उपयुक्त होने के कारण घट के पर्याय कहे जाते हैं, उसी प्रकार 'अकार' के पर्यायों के विशेषण रूप से उपयुक्त होने के कारण घटादि-पर्याय भी उसके कहे जायेंगे। यदि वे परपर्याय नहीं होंगे तो 'अकार' के स्वपर्याय भी 'स्वपर्याय' नहीं कहे जायेंगे। क्योंकि स्वशब्द परशब्द से आपेक्षिक है। पर की अपेक्षा से ही स्व का व्यपदेश होता है। अतः स्वपर्याय से व्यपदेश

---

१. षड्दर्शनुसमुच्चय, पृ० ३४०।

२. वही पृ० ३४०-३४१।

के कारण होने से वे परपर्याय उसके उपयोगी होने से 'उसके हैं'—ऐसा कहा जाता है।

दूसरी बात यह है कि सब वस्तु प्रतिनियत स्वभाव वाली है। वह प्रतिनियत स्वभावता प्रतियोगी की अभावात्मकता के कारण ही हो सकती है। जब तक प्रतियोगी का ज्ञान नहीं होता, तब तक अधिकृत वस्तु, उसकी अभावात्मक है, यह ठीक तरह नहीं जान सकते। जैसे घट प्रतिनियत स्वभाव वाला है, यह कथन 'घट पट नहीं है, इस पट प्रतियोगिक अभाव के घट में रहने के कारण है। अतः प्रतियोगी पट का ज्ञान जब तक नहीं होगा, तब तक उसमें रहने वाले प्रतियोगित्व का और तत्प्रतियोगिक अभाव का ज्ञान नहीं होगा। अतः घट के प्रतिनियत-स्वभावत्व के लिये पट के ज्ञान की आवश्यकता है। इस तरह घट के पर्याय भी 'अकार' के प्रतियोगी होने से उसके ज्ञान के अभाव में 'अकार' को यथार्थ रूप से जाना नहीं जा सकता। इस तरह घटादि पर्याय भी अकार के पर्याय कहे जाते हैं। अतः यहाँ पर यह व्याप्ति लागू होती है। जिसकी अनुपलब्धि होने पर, जिसकी अनुपलब्धि होती है वह उसका सम्बन्धी रहता है। जैसे घट के रूपादि। घट की अनुपलब्धि होने पर रूप की भी अनुपलब्धि होती है, इसलिये घट के रूपादि संबंधी हैं। घटादि पर्याय की अनुपलब्धि होने पर अकार की याथात्म्य से उपलब्धि नहीं होती। इसलिये घटादिपर्याय अकार के सम्बन्धी हैं।[1] यह हेतु असिद्ध नहीं है। घटादिपर्याय रूप प्रतियोगी के अपरिज्ञान में तदभावात्मक अकार का भी तत्वतः ज्ञान नहीं होता। भाष्यकार ने जैसे कहा है—

> जेसु अनाइएसु तओ न नज्जए, नज्जए य ना एसुं
> कह तस्स ते न धम्मा? घडस्स रूवाइ धम्मव्व ॥[2]

---

१. अनुमान प्रयोग इस प्रकार है—'घटादिपर्यायाः अकारस्य संबंधिनः घटादिपर्यायानुपलब्धौ अकारस्य अनुपलंभात् यथा घटस्य रूपादयः'

—विशेषावश्यक भाष्य पृ० २२५ गाथा ४८५।

२. संस्कृतम्—येषु अज्ञातेषु यो न ज्ञायते, ज्ञायते च ज्ञातेषु।
कथं तस्य ते न धर्माः घटस्य रूपादिधर्मा इव।'

—विशेषावश्यक भाष्य पृ० २२५ गाथा ४८५।

जिसके नहीं जानने पर जिसका ज्ञान नहीं होता, तथा जिसके ज्ञात होने पर ही जो ज्ञात होता है, वे घट के रूपादिधर्म के समान उसके धर्म ही होते हैं। इसलिये घटादिपर्याय भी अकार के संबंधी हैं। अतः स्व और पर पर्याय की अपेक्षा से अकार सर्वद्रव्य के पर्याय के परिणामवाला है।[1] इस प्रकार आकारादि वर्ण भी सब प्रत्येक द्रव्य के पर्याय-परिणाम वाले समझने चाहिये। इस प्रकार घटादिक भी प्रत्येक में सब वस्तु समूह रूप परिभावित करना चाहिये। यह सिद्धान्त-विरुद्ध नहीं है। क्योंकि आचारांग सूत्र (३।४।१२२ पृ० १७१) में कहा गया है—

'जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणई
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥'[2]

इसका मतलब है, जो व्यक्ति एक वस्तु को सब पर्यायों के साथ जानता है, वह नियम से सब वस्तुओं को जानता है। सब वस्तु के ज्ञान के बिना विवक्षित एक वस्तु का स्वपरपर्याय-भेद से भिन्न रूप से संपूर्ण रूप से ज्ञान करना अशक्य है। जो सब को सर्वात्मना साक्षाद् जानता है, वह एक को स्वपरपर्याय के भेद से भिन्न जानता है। इस प्रकार अकारादि-वर्ण-समूह केवल ज्ञान के समान सर्व-द्रव्य-पर्याय के परिमाण वाला है।[3] यह हम ऊपर बतला आये हैं।

ऊपर के विवेचन का सार यह है कि रूप, रस, आकृति आदि अपने गुण याने अपने में रहने वाले धर्मों की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ 'सन्' कहा जाता है। दूसरे के गुणों से कोई भी पदार्थ सन् नहीं कहा जा सकता। कोई व्यक्ति 'पिता' कहा जाता है, वह अपने पुत्र की अपेक्षा से ही, न कि दूसरे के पुत्र की अपेक्षा से। अर्थात् उसका अपना पुत्र ही उसको पिता कहता हैं। दूसरे किसी का पुत्र नहीं। इसलिये अपने पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, तथा दूसरे के पुत्र की अपेक्षा से वह पिता नहीं है, अर्थात् 'अपिता' है, याने पितृत्व के अभाव वाला है। इसी प्रकार अपने गुणों से, अपने धर्मों से और अपने

---

१. विशेषावश्यक भाष्य पृ० २२६ गाथा ४८६ में उद्धृत।

२. तुलना कीजिये—एगं जाणं सव्वं जाणइ, सव्वं च जाण मेगं ति इय सव्वभजाणंतो नागारं सव्वहा मुणइ।

—विशेषावश्यक भाष्य गाथा ४८४ पृ० २२५

३. नंदी-सूत्र मलयगिरि टीका पृ० १९८ से २०१ तक।

स्वरूप से जो पदार्थ सन् है, वही पदार्थ अन्य में रहने वाले गुणों से, अन्य के धर्मों से और अन्य के स्वरूप से 'सन्' कैसे हो सकता है ? जब वह उनकी अपेक्षा से 'सन्' नहीं हो सकता, तो यह स्वयं सिद्ध है कि वह पदार्थ उनकी अपेक्षा से 'असन्' है।

इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं से सन् पदार्थ को असन् कहने में विचारशील विद्वान् लोग कोई भी बाधा नहीं देखते। सन् भी पदार्थ में सत्त्व का जो निषेध किया जाता है, वह उपर्युक्त रीति से अपने में अविद्यमान विशेष धर्म की सत्ता की अपेक्षा से ही। जिसमें लेखन-शक्ति और वक्तृत्व-शक्ति नहीं है, वह कहता है—'मैं लेखक नहीं हूँ, मैं वक्ता नहीं हूँ।' इस प्रकार के शब्द प्रयोगों में (मैं हूँ 'मैं लेखक नहीं हूँ') 'मैं' के साथ 'हूँ' और 'नहीं हूँ'—दोनों शब्दों का प्रयोग जो किया जाता है, वह ठीक ही है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि यद्यपि मैं स्वयं सद् हूँ, तो भी मेरे में लेखन-शक्ति या वक्तृत्व शक्ति नहीं है, अतः उस शक्ति की अपेक्षा से 'मैं नहीं हूँ'। इस प्रकार अनुसंधान से सब जगह एक ही व्यक्ति में सत्त्व और असत्त्व की स्थिति ठीक तरह समझी जा सकती है।

अनेकान्त दर्शन में वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक माना है। वस्तु एकान्त-रूप से न सामान्य-रूप है और न केवल विशेष-रूप, अपितु उभयरूप है। सामान्य अनुवृत्ति का प्रयोजक है और विशेष व्यावृत्ति का प्रयोजक है। जैन दर्शन में इन्हीं को द्रव्य और पर्याय कहते हैं। द्रव्य सामान्य का बोधक है और पर्याय शब्द विशेष का बोधक है। एकाकार प्रतीति अनुवृत्ति है। सजातीय तथा विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग होने को व्यावृत्ति कहते हैं। जैसे बहुत से घड़ों में घट घट इस अनुवृत्ति प्रत्यय से घट सामान्य रूप है, तथा यह घट अन्य घट या पटादि से भिन्न है—इस प्रतीति से घट विशेषात्मक भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष-उभयात्मक है। सामान्य और विशेष वस्तु के धर्म हैं। धर्म और धर्मी का कथंचिद् अभेद है। घट उस प्रकार की विशिष्ट आकृति से युक्त ज्ञान का विषय होता हुआ, दूसरे भी उसी प्रकार की आकृति वाले पदार्थों को घट रूप से और ये घड़े हैं इस प्रकार बतलाता हुआ सामान्य नाम को प्राप्त करता है। वही अन्य सजातीय और विजातीय पदार्थों से अपने को अलग करता हुआ विशेष नाम को प्राप्त करता है। इस तरह एक ही वस्तु सामान्य और विशेष शब्द से कही जाती है। ऊपर कहा गया है कि द्रव्य रूप को सामान्य और पर्याय रूप को विशेष कहा जाता है। अर्थ-क्रिया भी उभयात्मक वस्तु मानने से ही संभव है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

'पूर्वोत्तराकार-परिहार-स्वीकार-स्थिति-लक्षण-परिणामेन अस्य अर्थक्रियोपपत्तिः ।'[1]

पूर्व के आकार को छोड़ना और उत्तर के आकार को स्वीकार करना—इस स्वरूप वाले परिणाम से वस्तु में अर्थ क्रिया हो सकती है । वस्तु केवल द्रव्य-रूप नहीं है और न केवल पर्याय-रूप । आचार्य हेमचन्द्र और अन्य पश्चात्कालिक आचार्यों के मत से वस्तु उभयरूप भी नहीं है । केवल द्रव्य रूप में अर्थक्रिया नहीं हो सकती, वैसे ही केवल पर्याय रूप में भी अर्थक्रिया का संभव नहीं है । तो दोनों के सम्मिलित रूप में भी अर्थक्रिया न हो सकेगी । क्योंकि कहा है—

'प्रत्यकं यो भवेद्दोषः, द्वयोर्भावे कथं न सः ।'

प्रत्येक में जो दोष होता है, वह दोनों में भी रहता ही है । इसलिए स्थित्युत्पादव्ययात्मक शबल अन्य जाति रूप वस्तु है ।[2]

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि विशेष भी दो प्रकार का है—गुण और पर्याय । वस्तु के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं, जैसे आत्मा में ज्ञान । वस्तु में क्रमभावी धर्म को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में सुख, दुःख आदि ।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रधान आगमों में अनेकान्त के विकास के बीज विद्यमान हैं । लेकिन वे संक्षेप रूप में हैं । आगे जाकर समय समय पर जैसी जैसी अनुपपत्तियें आती गईं, वैसे वैसे निरूपण में उसका विकास होता गया और उसकी शैली परिष्कृत होती गई । उसकी अंतिम स्थिति यशोविजय जी द्वारा नव्यन्याय की परिष्कृत शैली है । अब हम विशेष संदर्भ के लिए गृहीत आचार्यों की दृष्टि से अनेकांत का क्या रूप है—यह विचार करते हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार में अनेकान्त का अवलोकन करने के पहले निश्चय एवं व्यवहार नय को आचार्य की दृष्टि से देख लें ।

---

१. प्रमाण मीमांसा १।१।३४ पृ० ४५ ।

२. वही, पृ० ४५,४६ ।

३. प्रमाणनयतत्वालोक अध्याय ५ सूत्र ५ से ८ तक ।

निश्चय को आचार्य शुद्ध नय और व्यवहार को अशुद्धनय कहते हैं। नय याने दृष्टि। अतः शुद्धदृष्टि और अशुद्धदृष्टि यह अर्थ हुआ। व्यवहार नय में वस्तु की तात्त्विकता के साथ व्यावहारिक दृष्टि का भी पुट रहता है।[1] जो वस्तु की तात्त्विकता से सम्बन्ध नहीं रखता। इसलिए उसे आचार्य ने अशुद्धनय कहा।

समयसार में आत्मा का शुद्ध नय की दृष्टि से ही विचार है। इसमें अनेकान्त का अन्वेषण करना है। आचार्य 'समय' का परिचय कराते हुए उसके दो भेद वतलाते हैं—स्व-समय एवं पर-समय। देखिये—

जीवो चरित्तदंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण
पुग्गलकम्म-पदेस-ट्ठियं च तं जाण परसमयं॥[2]

यहाँ पर समय शब्द विचारणीय है। सम् उपसर्ग है, जिसका अर्थ है एक साथ। तथा अय[3] गतौ अथवा इण्[4]गतौ इन धातुओं से 'नन्दिग्रहि'[5] इत्यादि सूत्र से पचादिगण में पठित होने से अच् प्रत्यय से 'समयः' शब्द सिद्ध होता है। इन धातु का अर्थ है गमन और ज्ञान। अतः एक साथ ज्ञान व परिणमन—ये दोनों क्रियायें जिनमें हों, वह 'समय' है। समय का अर्थ यहाँ है आत्मा। यह आत्मा एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। इसलिए उसको समय कहते हैं। आत्मा में परिणमन का अर्थ है—आत्मा का उत्पादव्यय-

---

१. 'लौकिक-सम उपचार-प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः
तत्वार्थसूत्र भाष्य १।३५ पृ० ३५।

२. समयसार गाथा २। संस्कृत छाया—
'जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः, तं हि स्वसमयं जानीहि
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्।'

३. भ्वादिगण ५०८ धातु संख्या, सिद्धान्तकौमुदी पृ० २७८ (चौखंभा वि० १९८६)।

४. अदादिगण ११२० धातु संख्या, सिद्धान्तकौमुदी पृ० ३०६।

५. कृदन्तप्रकरण सू० नं० ९८९६ (३।१।१३४) सिद्धान्तकौमुदी पृ० ३९४।

ध्रौव्य से युक्त होना।[1] सभी पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माने गये हैं।[2] समय शब्द से आत्मा में परिणमन अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। अतः इस गाथा में आत्मा को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन से युक्त बतलाया है। यह अनेकान्त का द्योतक है। आत्मा को अपेक्षा भेद से स्व और पर दोनों बतलाये हैं। यह भी अनेकान्त दृष्टि है। प्रवचन-सार[3] में आचार्य ने स्पष्ट ही आत्मा में त्रयात्मकता बतलाई है—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए
बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई।[4]

एकत्व का निश्चय किया गया आत्मा लोक में सब जगह सुन्दर है। इसलिए एकत्व में बंध की कथा विरोध को उत्पन्न करने वाली है। आत्मा और बंध—दो वस्तु होने से द्वैत हुआ, अतः एकत्व में द्वैत की कथा विरोधजनक है। इसका परिहार दृष्टि या नयभेद से किया है।

'ववहारेणु वदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं
णविणाणं ण चरित्तं ण दंसणे जाणगो सुद्धो'।[5]

यद्यपि आत्मा ज्ञान, चारित्र और दर्शन स्वरूप है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के धर्म हैं। स्वभावतः धर्म और धर्मी का अभेद है। तथापि अज्ञानी शिष्यजनों को समझाने के लिए व्यवहार नय से दोनों में भेद बतलाकर व्यवहार मात्र से ज्ञान स्वरूप आत्मा का दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है—ऐसा

---

१. प्रवचनसार गाथा १७।
भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो॥

२. प्रवचनसार गाथा १८।
उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्य।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो॥

३. ऊपर की १७ व १८ गाथा देखिये।

४. समयसार गाथा ३।

५. समयसार गाथा ७।

कहा जाता है। यहाँ भी दो नय के आश्रय से अनेकान्त की अभिव्यक्ति की गई है।

अब प्रश्न यह होता है कि एक परमार्थ ही केवल कहना चाहिये, व्यवहार की क्या आवश्यकता है? इस पर आचार्य कहते हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणाउगाहेउं
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।[1]

जिस प्रकार अनार्य व्यक्ति अनार्य भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता, उसी तरह व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। अतः परमार्थ का उपदेश देने के लिए व्यवहारनय का आश्रय आवश्यक है इस बारे में आगे आचार्य स्पष्ट रूप से कहते हैं—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।[2]

व्यवहारनय अभूतार्थ याने असत्य है। शुद्धनय याने निश्चयनय भूतार्थ—सत्य है। भूतार्थनय का ही आश्रय लेकर जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है। यह कथन परमार्थ है। तथा 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं'—यह व्यवहार है।[3]

---

१. समयसार गाथा ८।

२. समयसार गाथा ११।

३. समयसार गाथा ९-१०।
जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धम्
तं सुयकेवलि मिसिणो भणंति लोयप्पई वयरा ॥९॥
जो सुयजाणं सव्वं जाणई सुयकेवलि तमाहुजिणा
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥१०॥

व्यवहार नय अविद्यमान असत्य अभूत अर्थ को प्रकट करता है, शुद्धनय विद्यमान, सत्य एवं भूत अर्थ को बतलाता है ।[1]

जो नय आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अन्यत्वरहित, नियत, विशेष रहित, अन्य के संयोग से रहित देखता है, वह शुद्ध नय है ।[2]

जब तक जीव संसार में है, उसकी आत्मा कर्म से अशुद्ध है, तब तक व्यवहार नय से आत्मा को देखकर उन कर्मों से मुक्ति पाने का उपाय जीव को करना पड़ता है । इस प्रकार आत्मा को विभिन्न दृष्टिकोणों से निरीक्षण करने से अनेकान्त की अभिव्यक्ति होती है । समयसार के महान् टीकाकार, आचार्य अमृतसूरि (समय १००० वि०) लिखते हैं :—

'एष ज्ञान-घनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः
साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।'[3]

यह आत्मा निबिड़ज्ञानवाला, नित्य और एक है । फिर भी कर्मों से मुक्ति पाने की इच्छा वाले व्यक्ति साध्यसाधक-भाव-रूप द्वैत से उसकी उपासना करें । साध्य भी आत्मा है, साधक भी आत्मा है । यह द्वैत संसार की दृष्टि से है । वास्तव में तो आत्मा एक, शुद्ध तथा ज्ञान रूप है ।

व्यवहार नय से जीव और शरीर एक हैं—ऐसा कहते हैं, परन्तु निश्चय-नय से जीव और शरीर कभी भी एक नहीं है ।[4] आत्मा से भिन्न इस पुद्गल

---

१. वही गाथा ११ ।
वबहारो भूयत्थो भूयत्थो देसिदो दुसुद्धणओ
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।।११।।
२. वही, गाथा १४ ।
जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं
अविसेस मसंजत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ।।१४।।
३. वही, आत्मख्याति टीका पृ० ४१ ।
४. ववहारणयो मासदि जीवो देहोय हवदि खलु इक्को
णदु णिच्छयस्स जीवो देहोय कदापि इकट्ठो ।।
समयसार गाथा २७ ।

मय शरीर की स्तुति करके मुनि मानता है कि उसने केवली भगवान की स्तुति व वंदना की है।[1]

एक जगह आचार्य कहते हैं—मेरी आत्मा एक शुद्ध, दर्शनज्ञानमय सदा अरूपी है। कुछ भी परमाणु मात्र भी पर द्रव्य मेरा नहीं है।[2]

इसी प्रकार निश्चयनय से आत्मा का बंध, निर्जरा (कर्मक्षय) और मोक्ष भी नहीं है।[3] गुणस्थान (आत्मा की विकास एवं उत्क्रान्ति की सीढ़ियें) आदि भी नहीं है। ये सब पुद्ल द्रव्य के परिणाम हैं। व्यवाहर नय से ये सब आत्मा के हैं। यह कहा जाता है—

'अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावठ्ठिओ दु वेदेइ
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ।'

---

१. इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मय केवली भयवं॥
समयसार गाथा २८।

२. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूपी
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि॥
समयसार गाथा ३८।

३. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं
सुद्धणयस्य दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं॥
वही गाथा १४१।

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाणणयपक्खं
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥
वही गाथा १४२।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होई जीवाणं
णय वत्थुदो बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥
वही गाथा २६५।

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा॥
वही गाथा २६६।

'ण मुयइ पयड़िमभव्वो सुठ्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुति ।।'[1]

अज्ञानी व्यक्ति प्रकृति के स्वभाव में स्थित होकर कर्मफल का अनुभव करता है, परंतु ज्ञानी कर्मफल को जानता है, पर उनको उपभुक्त नहीं करता है।

अभव्य व्यक्ति अच्छे प्रकार से शास्त्रों को पढ़कर भी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता। गुड़ और दूध को पीने वाले सर्प निर्विष नहीं होते।

यहाँ आचार्य ने संसार का कारण अज्ञान कहा, आत्मस्वरूप की प्राप्ति को ज्ञान बतलाया है। अज्ञानमूलक कर्म रूप प्रकृति ही संसार का कारण है। आत्मज्ञानी व्यक्ति इसमें नहीं उलझता।

समयसार में आचार्य आगे जाकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति याने मोक्ष का मार्ग बतलाते हुए ज्ञान की प्रतिष्ठा करते हैं। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप को नहीं प्राप्त करने से मनुष्य संसार में भटकता है।

रागद्वेष, मोह, कर्म, गुण स्थान व बंध जीव के नहीं हैं। ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं। व्यवहार से ये जीव के कहे जाते हैं। निश्चय नय से ये जीव के नहीं हैं[2]। यदि ये भाव जीव के मान लिये जायं तो जीव और

---

१. समयसार गाथा ३१६-३१७।

२. जीवस्स नत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णविफासो
णवि रूवं ण सरीरं णवि संवाणं ण सेहणाणं ।।५०।।
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव च अणुभाय ठाणाणि ।।५२।।
जीवस्स णत्थि केंई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा व
णव य उदयठ्ठाणा ण मग्गणठ्ठाण या केई ।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण सेकिलेस ठाणा वा
णेव विसोहिट्ठाणा णे संजमलद्धिठाणा वा ।।५४।।

अजीव में कोई भेद नहीं रहेगा ।[1]

जीव के परिणाम को निमित्त कारण बनाकर पुद्गल कर्मरूप में परिणत होते हैं, और पुद्गल कर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं ।[2] आचार्य ने जीव को भी परिणामी तत्त्व माना है ।[3] अतः आचार्य ने ऐसा मानकर अनेकान्त की अभिव्यक्ति की है। आत्मा का लक्षण आचार्य ने उपयोग को माना है ।[4] जीव न घट को करता है, न पट को और न किन्हीं द्रव्यों को। योग (आत्मविकल्प, आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन) और उपयोग उत्पादक है और जीव इन दोनों का कर्ता है। यह आत्मा का कर्तृत्वभाव व्यवहार-नय से है, शुद्ध-नय से नहीं। जीव में कर्म के इन विकल्पों से जो दूर रहता है, वही समयसार को

णेव जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स
जेण दु एदे सव्वे पुग्गल-दव्वस्स परिणामा ॥५५॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया
गुणठाणंता भावा णदु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

—समयसार ४०-४६ ।

१. जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥

—समयसार ६२ ।

२. एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण
पुग्गल-कम्म-कयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥

—समयसार ८२ ।

३. भंगे विहीणो य भवो संभव-परिवज्जिदो विणासो हि
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणास-समवायो ॥
उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अठ्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अठ्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥

—प्रवचनसार गाथा १७, १८ ।

४. एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥

—समयसार गाथा ९० उपयोगोलक्षणम्, तत्वार्थसूत्र २।८ ।

जानता है।[1] जो समग्र नय के पक्षों से तथा समस्त विकल्पों के व्यापार से रहित है, वह समयसार है।[2]

समीक्षा

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के द्वितीय[3] श्लोक में 'जीव' की परिभाषा करते हुए एक ही जीव को 'स्वसमय' और 'परसमय' रूप से याने स्व और पर—इन दो रूपों में विभक्त किया है। एक वस्तु स्व और पर कैसे हो सकती है? स्व है तो पर नहीं, पर है तोस्व नहीं। इस तरह एक ही जीव में स्व-पर-रूप विरोधी भावों को अभिव्यक्त कर अनेकान्त को बतलाया गया है। यहाँ आचार्य ने जीव में अद्वैतत्व के रहते हुए भी द्वैतत्व की स्थिति बतलाई है। आगे तीसरी[4] गाथा में एकत्व के निश्चय को अर्थात् अद्वैत को सुन्दर बताकर याने अद्वैत में ही जीव की शोभितता मानी है, तो फिर जीव की बंध की कथा में विरोध उत्पन्न होता है। इस विरोध को दूर करने के लिये उन्होंने सातवीं[5] गाथा में मार्गदर्शन किया है। यहाँ निश्चय और व्यवहार नय का अवलंबन कर विरोध का परिहार किया। निश्चयनय से जीव ज्ञानदर्शन-चारित्र-रूप एवं एक याने अद्वैत है। व्यवहार से जीव का ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र है। ऐसा द्वैत

---

१. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।
—समयसार गाथा १४२।

२. सम्मंद्दंसणणाणं एदे लहदित्ति णवरि ववदेसं
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।
—समयसार गाथा १४४।

३. जीवो चरित्तदंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण
पुग्गल-कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।
—वही गाथा २।

४. एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए
बंधकता एयत्ते तेण विसंवादिणी होई।
—वही गाथा ३।

५. वही पृ० १६, गाथा ७ इसी में पृष्ठ।

मानकर व्यवहार किया जाता है। यह उसकी सांसारिक स्थिति है। निश्चय नय को ही आचार्य शुद्ध नय कहते हैं। यह जीव की विशुद्ध अवस्था याने स्वस्वरूप को ही बतलाता है। व्यवहार नय आत्मा की बद्ध स्थिति को बतलाता है।

आचार्य ने नव तत्त्व बतलाये हैं। इनमें आध्यात्मिक दृष्टि से याने केवल जीव की स्थिति ही मुख्य है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं। इनमें स्वयं प्रकाशमान तत्त्व एक जीव ही है। जीव का विकार हेतु तत्त्व अजीव है। अजीव के संबंध से जीव अपने स्वरूप से अलग स्वरूप का होकर संसार में भटकता है। अर्थात् संसार भ्रमण का कारण द्वैत है। अद्वैत मोक्ष का कारण है। उसी में जीव अपने स्वरूप में लीन होता है। जीव और अजीव के संबंध से जो विकार संसार भ्रमण के लिये होते हैं और उनके अलग होने से स्वस्वरूप प्राप्ति रूप मोक्ष होता है। ये तत्त्व जीव के विकार रूप हैं।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में दो नय माने गये—शुद्ध याने निश्चयनय और अशुद्ध याने व्यवहारनय। आगे दसवीं शताब्दी में इन्हीं का विकास होकर द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक—ये दो नय माने गये।[2] ये दो नय निश्चय एवं व्यवहार के विकसित रूप हैं। मालूम होता है कि जैन दर्शन के ये निश्चय एवं व्यवहारनय वेदान्त की पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टि या सत्ता है। निश्चयनय की दृष्टि जीव की पारमार्थिक स्थिति को ही देखने का तरीका है। व्यावहारिक दृष्टि जीव की व्यावहारिक स्थिति याने अशुद्ध अविद्यासंपृक्त स्थिति को बतलाती है। अशुद्ध स्थिति, याने जीव की वास्तविक स्थिति नहीं है। इसी को अविद्यासंपृक्त स्थिति कह सकते हैं। आचार्य ने शुद्ध नय को भूतार्थ कहा है। यही पारमार्थिक दृष्टि है। तथा व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, वही व्यावहारिक कर्म संपृक्त अविद्याजन्य स्थिति है। इस दृष्टि से जैन दर्शन अद्वैत के निकट है।

विकार्य एवं विकारक—दोनों पुण्य तथा पाप हैं। आस्राव्य एवं आस्रावक दोनों आस्रव हैं। संवार्य एवं संवारक दोनों संवर हैं। निर्जर्य एवं निर्जरक दोनों

१. समयसार पृ० ३२ से ३४ तक।
२. समयसार टीका पृ० ३१।

निर्जरा हैं। बंध्य तथा बंधक दोनों बंध हैं। मोच्य एवं मोचक दोनों मोक्ष हैं। स्वयं एक ही पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष की उपपत्ति नहीं बनती। दोनों तत्त्व जीव और अजीव है। अंतर्दृष्टि से ज्ञायक भाव जीव है, जीव का विकार हेतु अजीव है। केवल जीव विकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष है। केवल अजीव, विकार-हेतु पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बंध और मोक्ष हैं। इन सब तत्त्वों में भूतार्थ नय से याने पारमार्थिक दृष्टि से एक जीव की प्रद्योतित होता है। इस प्रकार यह एकत्व से द्योतित हुआ शुद्ध नय से अनुभूत होता है। जो अनुभूति है, वह आत्म ख्याति ही है। आत्मख्याति तो सम्यग्दर्शन है।[1]

इस प्रकार एक वस्तु को दो दृष्टि से देखना अनेकान्त है, जो आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

समयसार के अंत में आचार्य अमृतचन्द ने आत्मख्याति टीका में 'स्याद्वा-दाधिकार' नामक एक अधिकार अलग से लिखा है।[2] इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञान रूप कहा है। टीकाकार अनेकान्त का दिग्दर्शन कराते हुए आत्मा में भी अनेकान्त लागू करते हैं।

स्याद्वाद समस्त वस्तु के तत्त्व को सिद्ध करने वाला सर्वज्ञ का अस्खलित सिद्धान्त है। 'सब अनेकान्त रूप हैं' इस बात को वह सिद्धान्त बतलाता है, क्योंकि सभी वस्तु अनेकान्त स्वभाव वाली हैं। इस ग्रन्थ में आत्म वस्तु को ज्ञानमात्र रूप से बतलाये जाने पर भी उक्त सिद्धान्त को कोई क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि ज्ञान स्वरूप आत्म वस्तु स्वयं अनेकान्त रूप है।

स्याद्वाद में जो 'तत्' है, वही 'अतत्' है। जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्ति याने दो धर्मों को कहना अनेकान्त है।

आत्म वस्तु के ज्ञान स्वरूप होने पर भी अन्दर प्रकाशमान ज्ञान-स्वरूप से उसमें तत्त्व है, बाहर प्रकट रूप से दिखने वाले अंनत, ज्ञेयता को प्राप्त पररूपों से अतत्त्व है। ज्ञानरूप से एक है, चिदंश रूप पर्यायों से अनेक है। स्व की

---

१. समयसार आत्मख्याति टीका पृ० २९, ३०।
२. समयसार पृ० ५१३ से ५४० तक।

दृष्टि से सत् है, पर द्रव्य रूप की दृष्टि से असत् है। अनादि और अनंत होने से नित्य है, प्रतिसमय होने वाले परिणामों से युक्त होने से अनित्य है। इस प्रकार आत्म वस्तु में तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्त्व-असत्त्व और नित्यत्व-अनित्यत्व प्रकट रूप से प्रतीत होता ही है। इस प्रकार ज्ञान-स्वरूप आत्मा में भी अनेकान्त लागू होता है।

आचार्य ने पंचास्तिकाय में सप्तभंगी के बारे में[1] स्पष्टतया लिखा है। चूंकि द्रव्य के बारे में जिज्ञासा ७ प्रकार की होती है, अतः प्रश्न भी सात प्रकार के होते हैं। प्रश्नों के सात प्रकार होने के कारण उत्तर रूप कथन भी सात प्रकार का होता है। अतः द्रव्य इन उपर्युक्त कारणों से सात भंगवाला होता है। अतः अनेकान्त की कथन पद्धति को आचार्य ने स्वीकृत किया है। इसमें विकास की कोई गुंजाइश नहीं है, अतः आज भी सप्तभंगी उसी रूप में प्रचलित है।

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप

आचार्य के मत में[2] अनेकान्तवाद अन्य आचार्यों के समान स्वीकृत है। आचार्य नयवाद को स्वीकृत करते हैं। वस्तु में कथंचित् सत्त्व और कथंचित् असत्त्व—इस प्रकार अपेक्षाभेद से दोनों धर्मों को मानते हैं। वस्तु को अस्तित्व-रूप एवं नास्तित्व रूप उभय रूप मानते हैं।[3] इसमें उनका तर्क यह है—' 'अस्तित्व नास्तित्व के बिना नहीं रहता, चूँकि वह विशेषण है'। इसी प्रकार नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावि है, क्योंकि वह विशेषण है। इन्होंने वस्तु को सदसद्रूप[4] सामान्य विशेष रूप[5] पृथक्त्वापृथक्त्वरूप[6], अनन्त-धर्मात्मक[7]

---

१. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ।
—पंचास्तिकाय गाथा १४।

२. अष्टसहस्री कारिका ७, ६, १२, १३।

३. वही कारिका १७, १८, १६, २०, २१।

४. आप्त मीमांसा १४ श्लो०।

५. वही कारिका ३१। युक्त्यनुशासन श्लो० ६१ श्लो० ७।

६. अष्टसहस्री कारिका २८।

७. वही कारिका ३५, २२।

तथा उत्पाद व्यय-ध्रौव्यरूप[1] माना है। स्याद्वाद का कथन इन्होंने इस प्रकार किया है—

'स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः
सप्तभंग नयापेक्षो हेयादेय-विशेषकः ।[2]

'कथंचिदस्ति' ऐसा कहने से सर्वथा एकान्त का त्याग होने से स्याद्वाद सिद्ध होता है। यह स्याद्वाद सप्तभंगी नय की अपेक्षा से वस्तु के हेयत्व और उपादेयत्व के भेद के लिए उपयोगी होता है।

जीव आदि प्रत्येक पदार्थ में स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से सत्त्व है, और पर-द्रव्य, परक्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की दृष्टि से असत्त्व है। जैसे 'घट, घट है, पट नहीं है'—इस प्रतीति में 'घट घट है' अर्थात घट घटत्वावच्छेद से याने स्व-स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है। तथा 'पट नहीं है' इस प्रतीति से यह मालूम होता है कि—'घट में पटत्व नहीं है' याने पट-निरूपित भेद-रूपाभाव घट में[3] है।

पुष्प वृक्षों में प्रसिद्ध है, आकाश में प्रसिद्ध नहीं[4] है। इस दृष्टि से वृक्ष-निष्ठाधिकरणतानिरूपित सत्त्व पुष्प में है, परन्तु आकाशनिष्ठाधिकरणता-निरूपित सत्त्व पुष्प में नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि पुष्प में अपेक्षा भेद से सत्त्व और असत्त्व उभय है। यदि एकान्त दृष्टि से वस्तु में सत्त्व ही माना तो विश्व की समस्त वस्तुओं की दृष्टि से उसमें सत्त्व रहने के कारण एक वस्तु विश्वरूप बन जायगी। यदि वस्तु को केवल असत् ही माना तो वस्तु का

---

१. वही कारिका ५८, ५६।

२. वही, पृ० ३५६ कारिका १०४।

३. विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था,
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ।
स्वयंभूस्तोत्र श्लो० २५।

४. सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्,
सर्व-स्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ।
—स्वयंभूस्तोत्र, श्लो० २३।

कोई भी रूप न रहेगा। इस प्रकार सर्वथा शून्य मानने से कोई भी तत्त्व न रहेगा। इसलिए यह मानना उचित है कि तत्त्व भाव रूप एवं अभाव-रूप दोनों है।[1]

तत्त्व एक एवं अनेक रूप है। तत्त्व का स्वरूप भेदाभेद रूप उभय है। यदि दोनों में एक को ही मान्यता दी जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि एक सत्य है और दूसरा उपचरित, कल्पित या आरोपित होगा। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह उचित नहीं है, क्योंकि उपचार मिथ्या होता है। क्योंकि किसी भी एक पक्ष के नहीं रहने से अवशिष्ट पक्ष का भी लोप हो जायगा। क्योंकि उभय स्वरूप से साथ ही वहाँ उनकी स्थिति है। अवशिष्ट का लोप होने पर दोनों स्वभाव के लोभ होने से वस्तु स्वभाव रहित याने शून्य हो जायगी।[2]

बौद्ध-दर्शन की यह मान्यता है कि तत्त्व पर्यायमात्र ही है। तत्त्व को द्रव्य कहना, या वही कहना, जो पहले था,—यह केवल अनादि अविद्या के कारण कल्पना है। इसलिये भेदज्ञान व अनेकता का ज्ञान ठीक नहीं है।

सांख्य-दर्शन की यह मान्यता है कि जीवादि द्रव्य ही वास्तविक है, उसमें सुख दुःख आदि की पर्याय वास्तविक नहीं है, उपाधिमात्र ही है।

बौद्ध-दर्शन एकत्व को उपचार मानता है और सांख्य-दर्शन अनेकत्व को उपचार मानता है। अनेकान्त-दर्शन का यहाँ पर यह कहना है कि दोनों ही पक्ष एकांत होने से परस्पर विरोधी हैं। उपचार वहीं होता है, जहाँ मुख्य न होते हुए किसी प्रयोजन से मुख्य की कल्पना की जावे।[3] जैसे पराक्रमी एवं साहसी बालक को यह कहना कि 'यह सिंह है।' बालक में सिंहत्व नहीं है, किन्तु किसी

---

१. वही ऊपर का श्लोक २३। आप्तमीमांसा कारिका ९, १२, १७।

२. अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्,
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोनुपाख्यम्।

—वही, श्लो० २२।

३. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात्,
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सालक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।

—काव्य-प्रकाश २।९।

गुण की सदृशता करने के लिये सिंह की उपमा दी है। यह उपचार बालक में बेमतलब नहीं है। वह इस प्रयोजन से है कि उसमें सिंह के समान साहस एवं पराक्रम है। उपचार एकदम मिथ्या नहीं हो सकता। यदि बौद्ध दर्शन में एकत्व एवं सांख्य दर्शन में अनेकत्व कोई वस्तु ही नहीं है, तब उपचार से वैसा कहना भी उचित नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य पर्यायों को रखता है, पर्यायें बिना द्रव्य के नहीं होतीं। तब यह बात स्वतः सिद्ध है कि द्रव्य अनेक पर्यायों को रखने से अनेक रूप है।[1] हम यदि द्रव्य को मानें और पर्याय को न माने, अथवा पर्याय को माने और द्रव्य को न माने तो दोनों ही न रहेंगे। हम सुवर्ण के कंकण पर्याय को तो मानें, परन्तु कहें कि वह सुवर्ण नहीं है, या कंकण को सुवर्ण मात्र ही कहें, और कंकण के आकार रूप पर्याय को न मानें तो हमारा कहना व मानना बन ही नहीं सकता है। क्योंकि जब वह सुवर्ण का बना कंकण है, तब सुवर्ण पहले था, यही वह सुवर्ण है—ऐसा होने से सुवर्ण द्रव्य सिद्ध हो जाता है। पहले कुंडल था, अब कंकण है—ऐसा होने से एक ही सुवर्ण में कुंडल व कंकण रूप अनेकत्व सिद्ध होता है। इसलिये एक को न मानने से कोई भी नहीं ठहर सकता है। जब कोई तत्त्व ही न रहेगा, तब उसका कथन भी असम्भव होगा।[2]

केवल द्रव्य ही वस्तु नहीं है और न केवल पर्याय ही वस्तु है। ये दोनों वस्तु के एक देश हैं। किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक अन्यजाति-रूप वस्तु प्रमाण से सिद्ध है। केवल द्रव्य या केवल पर्याय वस्तु नहीं है। तो दोनों का समुदाय वस्तु कैसे होगा? अतः अवस्तुत्व का प्रसंग आवेगा। ऐसा विचार उचित नहीं है। वे वस्तु के एक देश हैं, अतः उन्हें वस्तु या अवस्तु रूप से नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार समुद्र का एक देश समुद्र भी नहीं और असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता। पूरे समुद्र को ही समुद्र कहा जाता है। वैसे ही द्रव्य पर्यायात्मक ही वस्तु है।[3]

---

१. **अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्,**
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोनुपाख्यम्।
स्वयंभूस्तोत्र श्लो० २२, आप्तमीमांसा श्लो० ७३।

२. **स्वयंभूस्तोत्र पृ० ७१,७२, कारिका २२। आप्तमीमांसा का० ७३।**

३. **युक्त्यनुशासन श्लोक ४७, ४८, ४९। आप्तमीमांसा का० ३१, रत्नाकरावतारिका पृ० १२४।**

वस्तु को एकान्तनित्य माना तो उसमें विकार या परिणाम नहीं हो सकेंगे। विकार नहीं होने से कारक का व्यापार वहाँ नहीं होगा। कारक का व्यापार नहीं होने से द्रव्य-गुणकर्म लक्षण कार्य प्रतिष्ठित नहीं होगा। अतः वस्तु को नित्यानित्य मानना उचित है।[1]

यहाँ यह देखने की बात है कि कारक व्यापार का योग व्यवहारनय में ही होता है। कारक का व्यापार शब्द के अधीन है। शब्द का व्यवहार व्यवहारनय में ही संभव है। इसलिये भाव का अनित्यत्व भी व्यवहारनय से ही साध्य है। इसका अभिप्राय यह है कि पर्यायार्थिकनय की प्रवृत्ति व्यवहारनय के अधीन है। इससे यह भी मतलब निकला कि द्रव्यार्थिक नय में व्यवहार का प्रवेश संभव नहीं है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने ठीक कहा है कि द्रव्यार्थिक नय सत्य और शुद्ध है, व्यवहारनय अभूतार्थ है।

आचार्य ने सप्तभंगी नय को माना है। युक्त्यनुशासन में इसका वर्णन है।[2]

आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप

आचार्य सिद्धसेन के प्रसिद्ध ग्रन्थ सन्मतितर्क की टीका में व्याख्या करते हुए अभयदेव सूरि ने अनेकान्त का स्वरूप बतलाया है—'अनन्तधर्माध्यासित-वस्तुस्वरूपम्[3] अनेकान्तः[4], तस्य वादः अनेकान्तवादः' अनन्त धर्मों से युक्त वस्तु के स्वरूप को अनेकान्त कहते हैं, तथा उसके कथन को अनेकान्तवाद कहते हैं। यहाँ अध्यासित शब्द से अध्यास, मिथ्या आरोप का भ्रम नहीं होना चाहिये। वस्तु में अनन्त स्वरूप कल्पित होते हुए भी सत्य है। घट में पट-भेद

---

१. युक्त्यनुशासन श्लोक ८। आप्तमीमांसा श्लोक ३७। स्वयंभूस्तोत्र २४, ४३।

२. विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशः त्रिद्विश एक एव,
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥
—युक्त्यनुशासन श्लोक ४६।

३. अध्यासो नाम व्यवहारनयः।

४. सन्मति तर्क पृ० १६६।

या पटनिरूपित नास्तित्व को घट का धर्म बतलाना यद्यपि कल्पित है, लेकिन वह सत्य है। घट में रहता है। उसके बिना उसका स्वरूप ठीक तरह से जाना नहीं जा सकता।

आचार्य सिद्धसेन ने भी वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक माना है। सामान्य और विशेष का स्वरूप भी परस्पर अनुविद्ध है।[1] घटादि वस्तु में संभावित होने वाले पर्यायों में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों हैं।[2] सामान्य और विशेष में एकान्त भेद नहीं है।[3]

वस्तु के स्वरूप को देखने से हमें उसमें दो धर्म मिलते हैं—गुण और पर्याय—यह ऊपर बतलाया है। वस्तु के व्यतिरेकी याने अन्यव्यावृत्ति हेतु धर्म को विशेष या पर्याय कहते हैं। तथा वस्तु के अन्वयी धर्म को सामान्य या गुण कहते हैं।[4] वैशेषिक दर्शन में जिनको सामान्य और विशेष कहा गया है,[5] उन्हीं का नाम यहाँ जैन दर्शन में गुण और पर्याय है। वैशेषिक दर्शन में सामान्य को जाति शब्द से परिभाषित किया है। जैन दर्शन में उसी धर्म को गुण कहा गया है।

यहाँ आचार्य सिद्धसेन का मत यह है कि गुण और पर्याय सामान्य वस्तु के परिभाषक पर्याय हैं।[6] यदि पर्याय से गुण भिन्न होते तो द्रव्य और पर्याय

---

१. सन्मति तर्क पृ० ६२७ तृतीय काण्ड गाथा १।
सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खेय वयणविणिवेसो।
दव्वपरिणाम-मण्णं दाएइ तयं च णियमेइ॥

२. वही पृ० ६२७, तृतीय काण्ड गाथा २।
एगंतणिव्विसेसं एयंतविसेसियं च वयमाणो।
दव्वस्स पज्जवे, पज्जवाहि-दवियं णियन्तेहि॥

३. वही पृ० ६३०, तृतीय काण्ड, गाथा ५।

४. पंचास्तिकाय जयसेनवृत्ति पृ० १४ अन्वयिनो गुणाः, व्यतिरेकिणः पर्यायाः।

५. प्रशस्तपादभाष्य पृ० २७६, २७७ (चौखंभा, १९६६)।

६. सन्मतितर्क पृ० ४०८ से ४१६ तक गाथा ८-१४।

की दृष्टि से जैसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय बतलाये हैं, वैसे ही गुणार्थिक नय रूप से एक और नय का प्रकार बतलाना चाहिये।[1] आगम में वर्ण गंध आदि में भी पर्याय संज्ञा बतलाई है।[2] पर्याय और गुण शब्द तुल्यार्थक हैं। अतः गुण और पर्याय एक हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या आचार्य के मत में गुण अलग कोई वस्तु नहीं है? यह बात नहीं है। आगम में ऊपर जैसा पर्याय द्वार से निरूपण है, वैसा गुण द्वार से भी निरूपण है।[3] अतः गुण और पर्याय दोनों हैं।

गुणों को पर्याय रूप माना तो उमा स्वाति के 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'[4] इस सूत्र से विरोध आवेगा, ऐसी बात नहीं है। उक्त सूत्र में गुण का अर्थ है—युगपद्भाविपर्याय, और पर्याय का अर्थ है एक साथ उत्पन्न नहीं होने वाले पर्याय।[5] अतः विरोध नहीं आता। लेकिन मतुप् प्रत्यय उक्त सूत्र में किया हुआ है, अतः उससे विरोध की संभावना आती है, लेकिन वह भी नहीं है। मतुप् प्रत्यय निम्न अर्थों में होता है—

'भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने,
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः[6] ॥'

उक्त सूत्र में नित्ययोग में मतुप् प्रत्यय हुआ है। द्रव्य और पर्याय का तादात्म्य सम्बन्ध है, क्योंकि पर्याय द्रव्य से सदा अविभक्त रहते हैं। अन्यथा प्रमाण से बाध उपस्थित होगा[7]। क्योंकि पर्याय सदा द्रव्य के साथ ही रहते

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।३७ पृ० ५०१।

२. भगवतीसूत्र शतक १४ उ० ४ सू० ५१३।

३. सन्मतितर्क पृ० ६३५ गा० १३।

४. तत्त्वार्थ सूत्र अ० पांच सू० ३७।

५. सन्मतितर्क पृ० ६३६ गाथा १५ की अभयदेवसूरि टीका। यथा—'न च गुणानां पर्यायत्वे वाचकमुख्यसूत्रम्—गुणपर्यायवद् द्रव्यम् (तत्त्वार्थ सूत्र ५।३७) इति विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्याय-विशेष-प्रतिपादनार्थत्वात्तस्य।'

६. सिद्धान्त-कौमुदी पृ० २२५ (चौखंभा मूलमात्रम् १९८६ वि०)।

७. देखिये—सन्मति तर्क पृ० ६३६ गाथा १५ अभयदेवीय टीका।

हैं। यद्यपि गुण और पर्याय कथंचित् अभिन्न हैं, फिर भी संज्ञा, संख्या, स्वरूप और अर्थक्रिया के भेद से उनमें कथंचित् भेद भी है, अतः मतुप् प्रत्यय की अनुपपत्ति नहीं है। दोनों के नाम भिन्न हैं, गुण कुछ होते हैं और पर्याय अनन्त हैं, अतः दोनों में संख्याकृत भेद भी है। दोनों के स्वरूप भी भिन्न हैं। गुण युगपत्-काल भावि हैं, और पर्याय अयुगपत्काल भावी हैं। गुण द्रव्य के सहभावी धर्म हैं, पर्याय द्रव्य के क्रम भावी धर्म हैं, अतः स्वरूप से भी दोनों में भिन्नता है। दोनों की अर्थक्रिया याने कार्य भी भिन्न हैं। गुण के कार्य अलग हैं, पर्याय के अलग हैं। अतः दोनों में कथंचिद् भिन्नता भी है।

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य सिद्धसेन में इस विषय पर कुछ अन्तर-सा प्रतीत होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने गुण और पर्याय को अलग माना है।[1] आचार्य सिद्धसेन ने गुण और पर्याय को सामान्य वस्तु के परिभाषक बताया है।

आचार्य सिद्धसेन का तर्क इस प्रकार है—भगवान् महावीर ने केवल दो नयों का वर्णन किया है—(१) द्रव्यार्थिक-नय और (२) पर्यायार्थिकनय। वहाँ तीसरे गुणार्थिक-नय का वर्णन नहीं किया है। यदि पर्याय से गुण भिन्न होते तो तीसरे गुणार्थिकनय का होना आवश्यक था। चूँकि महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम को दो ही नय बताये हैं। इससे सिद्ध होता है कि गुण और पर्याय एक ही वस्तु के दो नाम हैं। दोनों की परिभाषाएँ इसी अर्थ को बतलाती हैं।

कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द भी कहते हैं—'द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च'[2]। भगवान् ने दो नय बताये हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। गुण सहभावी धर्म हैं और पर्याय क्रमभावी धर्म हैं। अतः गुण द्रव्य के स्वरूप से (आंतरिक) सम्बन्ध रखता है। पर्याय बाहरी रचना है। यह बहुप्रकारी रूप का है। एक ही पर्याय विभिन्न पदार्थों में संभव हो सकता है। एक ही पदार्थ विभिन्न समयों में विभिन्न पर्यायों का आश्रय हो सकता है। पर्याय पदार्थ के स्वरूप में आवश्यक रूप से स्वाभाविक नहीं है। पर्याय और पदार्थ में सम्बन्ध सिर्फ यह है कि पदार्थ की पर्याय के बिना कल्पना नहीं

---

१. **प्रवचनसार—गाथा ८७ पृ० ९८।**

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाण अप्पा दव्वत्ति उवदेसो॥

२. **पंचास्तिकाय पृ० ११।**

हो सकती। पर्याय पदार्थ के स्वरूप और गुण पर आगन्तुक रूप से रहता है। पदार्थ के बारे में कुछ कहा जाय, तब तदाश्रय पर्याय भी कुछ कहे जाने की अपेक्षा रखता है। इसलिए पर्यायार्थिक नय की आवश्यकता है।

द्रव्यार्थिक नय में हमारा ध्यान उसके आगन्तुक पर्यायों पर नहीं जाता है, अपितु उसके स्थिर स्वरूप द्रव्य एवं गुणों पर जाता है।

गुण द्रव्य को छोड़कर अलग कहीं पर भी दिखाई नहीं देते। द्रव्य गुण के बिना कभी दिखाई नहीं देता। अतः एक दूसरे के बिना उनका रहना असंभव है। गुण उसमें मजबूत जमे हुए हैं, तथा द्रव्य के सहभावी धर्म हैं। इस प्रकार गुण और द्रव्य की स्थिति एक साथ रहने की है। अतः गुणार्थिक-नय की अलग से आवश्यकता नहीं है। यदि न्याय-वैशेषिक के समान द्रव्य की स्थिति-चाहे क्षण भर ही हो, गुण के बिना होती तो गुणार्थिक-नय की आवश्यकता होती। लेकिन जैन-दर्शन में द्रव्य गुण के बिना रहता ही नहीं। अतः गुणार्थिक-नय की आवश्यकता नहीं है।

इस विषय पर भट्ट अकलंक देव का तत्त्वार्थ-राजवार्तिक[1] में स्पष्ट विवेचन है। पूर्व-पक्षी का कहना है—गुण यह नाम अन्य दर्शनकारों का है। जैन-दर्शन में तो द्रव्य और पर्याय दो ही तत्त्व हैं। शास्त्रों में दो नय का ही उपदेश है—इसलिए भी दो ही तत्त्व हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूल नय हैं। यदि गुण भी कोई तत्त्व होता तो तद्विषयक तृतीय भी मूल नय होना चाहिये। लेकिन वह है नहीं। अतः गुण अलग से कोई तत्त्व नहीं, लेकिन शास्त्रों में गुण का भी उपदेश है। जैसे कहा गया है—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'[2]।

इस तरह यदि गुण है, तो फिर वही बात आ खड़ी होती है कि तृतीय मूल नय होना चाहिये। लेकिन यह दोष नहीं है। द्रव्य की दो आत्मा स्वरूप

---

१. तत्त्वार्थ-राजवार्तिक पृ० ५०१।

२. तत्त्वार्थ-सूत्र ५।४०।

गुण इति दव्व विधाणं दव्ववियारो य पज्जयोभणिदो,
तेहि अणूणं दव्वं अजुदवसिद्धं हवदि णिच्चं।
तत्वार्थ-राजवार्तिक पृ० ५०१ में उद्धृत।

हैं—सामान्य और विशेष। उसमें सामान्य का नाम उत्सर्ग, अन्वय, और गुण है। विशेष का अर्थ है भेद या पर्याय। सामान्य विषयक नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है। विशेष विषयक नय पर्यायार्थिक है। ये दोनों समुदित और अयुत सिद्धरूप वाले द्रव्य कहलाते हैं। इसलिए तीसरा नय होना योग्य नहीं है।

अथवा गुण ही पर्याय है, ऐसा निर्देश है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्याय हैं, इनसे भिन्न गुण नहीं है। अतः 'गुणा एवं पर्यायाः' इस प्रकार सामानाधिकरण्य में मतुप् प्रत्यय होने पर 'गुणपर्यायवद्'—यह निर्देश ठीक है। गुण शब्द का यहाँ ग्रहण मतान्तर में गुण को पृथक् तत्त्व माना है, इस मत की निवृत्ति के लिये किया गया है।[1]

भट्ट अकलंकदेव और सिद्धसेन एक विचार के हैं, दोनों का अभिप्राय यह है कि गुण और पर्याय भिन्न नहीं हैं। शास्त्रों में गुण शब्द से भी निरूपण है। इसका मतलब इतना ही मालुम पड़ता है कि कथंचिद् गुण अलग होते हुए भी द्रव्य स्वरूप हैं। श्लोक-वार्तिककार श्री विद्यानंद स्वामी भी आचार्य सिद्धसेन के ही विचार वाले प्रतीत होते हैं। उन्होंने द्रव्य लक्षण में गुण शब्द की सार्थकता रास्ता निकालकर बतलाई है।[2] क्रमभावी और सहभावी स्वरूप की दृष्टि से कथंचिद् भिन्न भी है। द्रव्य-स्वरूपता की दृष्टि से कथंचिद् गुणों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। द्रव्य के धर्म दोनों हैं, इस दृष्टि से कथंचिद् अभिन्न भी हैं। इस प्रकार कोई विरोध यहाँ पर नहीं है।

आचार्य सिद्धसेन स्वामी समन्तभद्र के समान अनेकान्त की स्थापना करने वाले माने जाते हैं। जब बौद्ध दार्शनिकों के प्रबल तर्क प्रहारों से दर्शन क्षेत्र में बेचैनी हो रही थी, उस समय परचक्र से रक्षा करने के लिये अपना दुर्ग स्वतः संवृत करने के महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ करने का महान् कार्य इन दो आचार्यों ने किया। इनके सामने सैद्धान्तिक और आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को दर्शन के रूप में बैठाने का महान् कार्य था, जिसको इन्होंने बड़ी कुशलता के साथ संपन्न किया।

---

१. राजवार्तिक में भट्ट अकलंक देव पृ० ५०१। श्लोकवार्तिक पृ० ४३८, ४४०।

२. श्लोकवार्तिक पृ० ४३८, ४४०।

आचार्य सिद्धसेन का अनेकान्त चिन्तन बहुत ही गंभीर है। ऊपर लिखी प्रचलित मान्यताओं को उन्होंने स्वीकार किया। कई नये तथ्य एवं कई नई मान्यताएँ इन्होंने स्थापित कीं।

इन्होंने अनेकान्त को व्यापक माना और सब तरह से उसको प्रयुक्त करके बतलाया। अनेकान्त में भी अनेकान्त का प्रयोग इन्होंने किया।

अनेकान्त सब जगह चरितार्थ होता है—यह नियम माना जावे तो अनेकान्त में भी अनेकान्त है, ऐसा कहा जायगा। और ऐसा कहा तो अनेकान्त भी अनेकान्त है, इसका अर्थ एकान्त हुआ। इस प्रकार अनेकान्त का व्याघात हुआ। इस भय से यदि अनेकान्त में अनेकान्त नहीं माना तो इसका अर्थ हुआ कि अनेकान्तवाद अव्यापक है इसका उत्तर आचार्य सिद्धसेन ने इस प्रकार दिया है।[1]

जिस प्रकार अनेकान्त सब वस्तुओं में तत्स्वभाव और अतत्स्वभाव से ज्ञापित करता है, उसी प्रकार अनेकान्त भी तत्स्वभाव और अतत्स्वभाव से अनेकान्त है। जिस प्रकार घट स्वरूप से है और पररूप से नहीं है उसी प्रकार अनेकान्त भी स्वस्वभाव से है और पर स्वभाव से नहीं है। इस प्रकार अनेकान्त अनेकान्त में भी लागू होता है।

यहाँ अभयदेव सूरि, जो सिद्धसेन के महान् ग्रंथ सन्मति तर्क के महान् टीकाकार हैं, कहते हैं कि जैन दर्शन में नय की अपेक्षा से एकान्त है और प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त है—इस प्रकार भंग करना चाहिये।[2]

इस प्रकार अनेकान्त में अव्यापकता की शंका नहीं करना चाहिये। 'स्यात्' पद से सूचित किये गये अनेकान्त को अपने अन्दर रखने वाला एकान्त भी हमारे यहाँ तत्त्व है। इसी प्रकार स्यात्कार से संसूचित एकान्त को अन्दर रखने वाला अनेकान्त भी अनेकान्त स्वभाव वाला मानना चाहिये।[3]

अथवा स्वरूप से ही अनेकान्त एकान्त का प्रतिषेध करता है, इसलिये वह अनेकान्त स्वरूप है। कथंचित् एकान्त है, कथंचित् अनेकान्त है, इस प्रकार

---

१. सन्मति तर्क गाथा २७, पृ० ६३८।
२. सन्मति तर्क गाथा २७, पृ० ६३९, तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० ३५।
३. सन्मति तर्क पृ० ६३९, गाथा २७। तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० ३५।

अनेकान्त में अनेकान्त भी क्यों नहीं है ? अनेकान्त स्वयं अनेकान्त स्वरूप वाला नहीं होगा तो वह अनेकान्तात्मक वस्तुओं की व्यवस्था नहीं कर सकता । अतः उसमें अव्यापकत्व का दोष नहीं आता है ।[1]

सप्तभंगी नय अनेकान्त में भी व्याप्ति रखता है, जैसे—स्यादेकान्त है । स्यादनेकान्त है, स्यात् एकान्त और अनेकान्त उभय है । स्याद् अवक्तव्य है । स्यादेकान्त और अवक्तव्य है । स्यादनेकान्त और अवक्तव्य है । स्यादेकान्त, अनेकान्त और अवक्तव्य है ।[2] यह किस प्रकार है ? इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है कि प्रमाण और नय के अर्पण के भेद से अर्थात् उपर्युक्त दृष्टि के भेद से ऐसा होता है ।

अनेकान्त में भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त और एकान्त रूप से अनेकमुखी कल्पनाएं हो सकती हैं । अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं । प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को युक्ति के साथ ग्रहण करने वाला सम्यगेकान्त है । एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है । इसी प्रकार अनेकान्त को लीजिये । एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यगनेकान्त है, तथा वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना अर्थ-शून्य वचन-विलास मिथ्या अनेकान्त है । सम्यगेकान्त नय कहलाता है, तथा सम्यगनेकान्त प्रमाण । यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का लोप किया जाय तो सम्यगेकान्त के अभाव में शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह तत्समुदाय रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायगा । यदि एकान्त ही माना जाय तो अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होता है ।[3]

अनेकान्त को व्यापक माना तो 'जा रहा है' 'ठहरता है'—यहाँ पर भी

---

१. सन्मतितर्क पृ० ६३९ गाथा २७ । तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० ३५ ।

२. वही, पृ० ६३९ गाथा २७ । तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० ३५ ।

३. वही, पृ० ३३९ गाथा २७ । राजवार्तिक अ० १ सू० ६–७ पृ० ३५ ।

अनेकान्त होगा। यदि ऐसा मान लिया तो गमनाभाव और स्थित्यभाव की प्रसक्ति होगी। अर्थात् 'नहीं जा रहा है' और 'नहीं ठहरता है।' यह अर्थ आवेगा, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।[1]

इस अनुपपत्ति का आचार्य ने निराकरण इस प्रकार किया है—

'गति क्रिया करने वाली वस्तु गतिमान् है, परन्तु उसकी गति प्रतिनियत दिशा की ओर है, न कि सब दिशाओं की ओर। यदि प्रतिनियत दिशा की ओर ही उसकी गति न मानी जाय तो अभीप्सित देश की प्राप्ति के समान उसकी गति अनभीप्सित देश की प्राप्ति करेगी। इससे प्रत्यक्ष में अनुपलभ्यमान एवं विरुद्ध दिशाओं की प्राप्ति एक साथ होने का प्रसंग आवेगा। अतः उसकी गति प्रतिनियत देश या दिशा की ओर ही मानना चाहिये। इस प्रकार उससे भिन्न देश या दिशा की ओर उसकी गति नहीं है। अतः उस अपेक्षा से उसमें गतिमत्त्व का अभाव भी आता ही है।'[2]

इस प्रकार से द्रव्य में तत्त्व एवं अतत्त्व (तद् का अभाव) माने जायं तो जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, और अजीद्रव्य, जीवद्रव्य हो सकेगा। लेकिन ऐसा होना प्रत्यक्षबाधित है। इसका उत्तर आचार्य सिद्धसेन इस प्रकार देते हैं—

जीवद्रव्य घटादि अजीवद्रव्य से व्यावृत्त है या अव्यावृत्त है? यदि प्रथम पक्ष लिया कि जीवद्रव्य अजीव द्रव्य, से व्यावृत्त है, तो जीव स्वस्वरूप की अपेक्षा से जीव द्रव्य है, तथा घटादि अजीव द्रव्य की अपेक्षा से तो वह जीवद्रव्य नहीं है, इस प्रकार उभयरूपता आने से अनेकान्त बराबर लागू होता है। यदि द्वितीय विकल्प लिया तो सब वस्तु सब स्वरूप होने की आपत्ति आवेगी। तथा प्रतिनियत रूप के अभाव होने से शशशृंग के समान उन दोनों का भी अभाव ही सिद्ध होगा। अतः सब अनेकान्त स्वरूप है, यह मानना होगा, अन्यथा वस्तु का प्रतिनियत रूप सिद्ध नहीं हो सकता।[3]

---

१. सन्मति तर्क पृ० ६४० गाथा २९।

२. वही पृ० ६४० गाथा २९।

३. वही, गाथा ३१।

कुंभो ण जीवदवियं जीवो विण होई कुंभदवियं ति
तम्हा दोवि अदवियं अण्णोण्ण विसेसिया होंति।

आचार्य सिद्धसेन ने एक बात और बताई है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों वस्तु के लक्षण हैं। ये तीनों भिन्न काल में भी होते हैं और अभिन्न समय में भी। घट की उत्पत्ति के समय में ही उसका विनाश नहीं होता, यदि उसी समय उसका विनाश मान लिया जाय तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। पट के विनाश के समय में भी उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि पट का विनाश नहीं हो सकेगा, विनाश के समय में ही उसकी उत्पत्ति हो जायेगी। पट के प्रादुर्भाव के समय में ही उसकी स्थिति मानना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रादुर्भाव रूप से ही अवस्थित पट की स्थिति नहीं जमने से उसका प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकेगा। अतः तीनों परिणाम भिन्नकाल में होते हैं।

तीनों परिणाम अभिन्न काल में भी होते हैं। कुशूल[1] का विनाश और घट की उत्पत्ति भिन्न काल में अनुभव में नहीं आती, अतः दोनों अभिन्न काल में ही हैं। यदि ऐसा नहीं माना याने भिन्न काल माना तो कुशूल के विनाश से कार्योत्पत्ति होगी। विनाश से उत्पत्ति मानते नहीं हैं। तथा घटादि उत्तर पर्याय की अनुत्पत्ति होने पर भी पूर्व पर्याय के ध्वंस की आपत्ति आवेगी अतः भिन्न और अभिन्न दोनों कालों में वे होते हैं।[2]

आचार्य हरिभद्र की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप

आचार्य हरिभद्र ने प्रमाण का विषय बतलाते हुए लिखा है कि—

'अनंतधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह'[3] ।।५५।।

अनंत याने तीनों काल में रहने वाले अपरिमित सहभावी और क्रमभावी धर्म वाली वस्तु अनंतधर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक मानी जाती है। वस्तु चाहे चेतन हो या अचेतन हो—सब द्रव्य अनेक-धर्मक या अनेकान्तात्मक है। वस्तु की या द्रव्य की अनन्तधर्मता का विवेचन अन्य आचार्यों के सदृश है।

---

१. घटोत्पत्तिकी पूर्वावस्था।

२. तिण्णिवि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकालाय,
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा।।

—सन्मतितर्क गाथा ३५, पृ० ६४३।

३. षड्दर्शन-समुच्चय कारिका ५५ पृ० ३१२।

घट का ही पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से विचार करें तो पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से घट सत् है, धर्म अधर्म,[1] आकाशादि द्रव्यों की दृष्टि से असत् है। पौद्गलिक घट का पौद्गलिकत्व स्वपर्याय हुआ, तथा जिन धर्म, अधर्म आकाश और अनन्त जीव द्रव्यों से घट व्यावृत्त होता है। वे सब अनन्त ही परपदार्थ पर-पर्याय हैं। घट पौद्गलिक है, धर्मादि-द्रव्य-रूप नहीं है। घट पुद्गल होकर भी पृथ्वी का बना है, जल, आग या हवा आदि से नहीं बना है। अतः पार्थिवत्व घट की स्वपर्याय है तथा जल आदि अनन्त परपर्याय हैं, जिनसे कि घट व्यावृत्त रहता है। इस तरह घट को जिस जिस पर्याय से सत् कहेंगे, वे पर्यायें घट की स्वपर्यायें हैं, तथा जिन अन्य पदार्थों से वह व्यावृत्त होगा, वे सभी परपर्यायें होंगी। इस तरह द्रव्य की दृष्टि से घट की जो पर्यायें बताई, वे थोड़ी हैं। व्यावृत्ति रूप परपर्यायें तो अनन्त हैं, क्योंकि अनन्त द्रव्यों से घट व्यावृत्त होता है।

इस प्रकार जो स्व और परपर्यायों का विवेचन किया है, उनमें जो स्वपर्याय हैं, वे वस्तु की धर्म हो सकती हैं, परन्तु पर-पर्यायें विभिन्न वस्तुओं के आधीन हैं, अतः उन्हें प्रस्तुत वस्तु का धर्म कैसे कह सकते हैं? घट का अपने स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व, उसका धर्म हो सकता है, परन्तु पटादि परपदार्थों का नास्तित्व पटादि पर-पदार्थों के आधीन है, अतः उसे घट का धर्म कैसे कह सकते हैं? जब वे परपर्यायें हैं, तो वे घट की कैसे हो सकती हैं? इसका उत्तर इस प्रकार है—

वस्तु से पर्यायों का संबंध दो प्रकार का होता है, एक अस्तित्व रूप से और दूसरा नास्तित्व रूप से। स्वपर्यायों का तो अस्तित्व रूप से सम्बन्ध है, तथा परपर्यायों का नास्तित्वरूप से। जिस तरह रूप, रस आदि का घट में अस्तित्व है, अतः उनका अस्तित्व रूप संबंध है। उसी तरह स्वपर्यायें घट में पाई जाती हैं, अतः उनका भी अस्तित्व रूप संबंध है, परपर्यायें घट में पाई नहीं जाती, अतः उनका नास्तित्व रूप से संबंध है। जिस प्रकार घटावस्था में मिट्टी का पिण्ड आदि पर्यायें पाई नहीं जाती, अतः उनका घड़े के साथ नास्तित्व रूप से संबंध है, जिस कारण वे परपर्यायें उस पदार्थ में नहीं रहती, असत् हैं, इसीलिये तो वे परपर्यायें कही जाती हैं।

---

१. धर्म, अधर्म जैन दर्शन में द्रव्य माने गये हैं। इसी परिच्छेद में आगे द्रव्यों के वर्णन में इनका वर्णन किया जावेगा।

परपर्यायें घट में पाई ही नहीं जाती तो वे घट की कैसे कही जा सकती हैं ? दरिद्र के पास धन नहीं है, तो क्या कहीं भी दरिद्र संबंधी धन है. ऐसा व्यवहार होता है ? जो चीज जहाँ पाई नहीं जाती, उसका उसमें संबंध जोड़ना तो स्पष्ट ही लोक व्यवहार का अतिक्रमण है ।

वास्तव में यह बात नहीं है । यदि परपर्यायें नास्तित्व रूप से भी घट की न कही जायं, तो वे परपर्यायें सामान्य रूप से तो परवस्तु में भी नहीं रहेंगी, क्योंकि परवस्तु में तो वे स्वपर्याय होकर रह सकती हैं, सामान्य-पर्याय होकर नहीं । अतः जब घट में तथा अन्य पर वस्तुओं में उनका कोई संबंध नहीं रहा, तब उन्हें पर्याय ही कैसे कह सकते हैं ? परन्तु उन्हें पर्याय मानना इष्ट है तथा अनुभव का विषय भी है । इसलिये उन परपर्यायों को नास्तित्व रूप से घट की अवश्य कहना चाहिये । यदि घट में उनका अस्तित्व कहा जाता तो अवश्य ही लोक व्यवहार का विरोध होता । यहाँ तो उनका नास्तित्व ही घट में बतलाया जा रहा है । दरिद्र और धन का भी नास्तित्व रूप से संबंध है ही । विश्व में सभी लोग कहते हैं कि 'इस दरिद्र के धन नहीं है' (धनमस्य दरिद्रस्य न विद्यते इति) । अर्थात् धन और दरिद्र का अस्तित्व रूप संबंध न होकर नास्तित्व रूप संबंध है । इसी तरह परपर्यायों का भी पदार्थ के साथ अस्तित्व रूप संबंध न होकर नास्तित्व रूप से ही संबंध माना जाता है । परपर्यायें अस्तित्व रूप से उसकी न कही जायं पर नास्तित्व रूप से तो वे उसकी कही ही जा सकती हैं । और नास्तित्व रूप से परपर्यायों का वस्तु में संबंध मानने से किसी भी लोकव्यवहार का विरोध नहीं होता ।[1]

नास्तित्व का मतलब है उस उस रूप से नहीं होना याने घट का पट रूप से नहीं होना याने परिणमन करना । उस उस रूप से नहीं होना वस्तु का धर्म है । पट रूप से नहीं होना घट का धर्म है । अतः अभाव एकान्त रूप से तुच्छ नहीं है, जिससे कि उसके साथ संबंध न हो । उस उस रूप से नहीं होना, उस उस पर्याय की अपेक्षा करके ही होता है, उसके बिना नहीं । जैसे जो जो पटादिगत पर्याय हैं, उस रूप से मुझे (घटको) नहीं होना चाहिये—इस रूप से ही घट उन उन पटादि की पर्यायों[2] की अपेक्षा करता है न कि पटादि पर्याय

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३३९ । भगवती सूत्र अभयदेवीय वृत्ति पृ० ४४ ।

२. यह विषय ऊपर पृ० ८० में संक्षेप में आया है, यहाँ विस्तार से है ।

रूप से अपने को होने के लिये। यह बात सर्वप्रसिद्ध है। उन पटादि पर्याय रूप से अपना परणमन नहीं होने देना उन पर्यायों की अपेक्षा रख कर ही हो सकता है। अतः उस रूप से परिणमन के निषेध के लिये ही परपर्यायें घट के लिये ही उपयोगी हैं। इसी उपयोगिता के कारण ही वे घट की पर्यायें कहीं जाती हैं। इस निषेध की विवक्षा से घट और पट का भी संबंध कहा जा सकता है। पट की अपेक्षा से ही घट में पट रूप से अपरिणमन रहता है। 'घट पट नहीं है, इस प्रयोग में घट एवं पट नास्तित्व रूप से एक दूसरे के संबंधी हैं ही। घट का पट रूप से न होना पट की अपेक्षा के बिना कैसे हो सकता है? यदि पट नहीं है या अज्ञात है तो घट का पट रूप से अपरिणमन कैसे कहा जा सकता है, घट, पट नहीं है तथा पट घट नहीं है, इस तरह घट और पट का परस्पर में अभाव है। इस इतरेतराभाव (भेद) को निमित्त लेकर लोक में भी घट और पट में नास्तित्व रूप संबंध का व्यवहार होता है—यह निर्विवाद है। यह अनुभव भी है कि जिनका परस्पर अभाव होता है, वे नास्तित्व रूप से एक दूसरे के संबंधी होते ही हैं। इन परपर्यायों और स्वपर्यायों का भेद होने पर ही ये स्वपर्याय कहे जाते हैं, अतः भेदक होने के कारण भी परपर्यायें घट की कही जा सकती हैं। भेद करने में उनका असाधारण उपयोग है। जो स्वपर्यायों के विशेषणत्वेन उपयोगी होते हैं, वे उसी के पर्याय हैं, जैसे घट में रहने वाले परस्पर भेदक रूपादिपर्याय। चूंकि घट की पर्यायों का पटादि पर्यायों से भेद करने में पटादि-पर्यायों का पूरा पूरा उपयोग होता है, अतः विशेषक-भेदक होने के कारण परपर्यायें भी घट की ही कही जानी चाहिये। पर पर्यायों के बिना घट की स्व-पर्यायों में 'स्व' व्यपदेश ही नहीं होता। यदि पटादि-पर्यायें न हो तो घट की स्वपर्यायों में 'स्व' व्यपदेश ही नहीं हो सकता। किसी पर की अपेक्षा ही दूसरे को 'स्व' कह सकते हैं। इस तरह स्वपर्यायों में 'स्व' व्यपदेश कराने में कारण होने से वे परपर्यायें भी घट की उपयोगी हैं। तथा इसी दृष्टि से घट की कही जा सकती हैं।[1]

संसार की सब वस्तुएं अपने अपने प्रतिनियत-निश्चित स्वरूप में स्थित हैं। किसी का स्वरूप दूसरे से मिलता नहीं है। वस्तुओं की यह प्रतिनियत स्व-भावता—असाधारण स्वरूप का होना, जिन वस्तुओं से उसका स्वरूप भिन्न रहता है उन प्रतियोगी पदार्थों के अभाव के बिना नहीं बन सकती। घट का

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३४१।

स्वरूप पट से भिन्न है, तो जब तक पटादि का अभाव न होगा, तब तक घट में अपना असाधारण घट स्वरूप भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये जब तक उन प्रतियोगी पर-पदार्थों का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक हम घटादि को उनसे व्यावृत्त रूप में परमार्थतः नहीं जान सकते। जब तक पटादि-प्रतियोगियों का ज्ञान नहीं होगा, तब तक 'घट पटाभावरूप है' यह जानना भी असंभव है। घट में पटाभाव की प्रतीति होती है, अतः घट के ज्ञान के लिये प्रतियोगी पटादि ज्ञान पहले होना चाहिये। इस दृष्टि से भी परपर्यायें घट भी कही जा सकती है।[1]

ऊपर कही हुई वस्तु अनन्तधर्मात्मकता को दृढ़ करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं—

'येनोत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं यत् तत्सदिष्यते
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः' ॥५७॥[2]

जो भी वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों से युक्त होगी, वही सत् कही जायगी। प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में क्षण क्षण में परिणाम होते रहते हैं, लेकिन उसमें रहने वाले द्रव्यत्व की स्थिति ध्रौव्य है, अत प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक है। वस्तु का यह स्वरूप स्वयं अनेकान्तता को बतलाता है। वस्तु के इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील स्वभाव के कारण अनेकान्त की चिन्तन प्रक्रिया आई। आचार्य हरिभद्र ने इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही उक्त श्लोक कहा। इसका यह अभिप्राय है कि जिस कारण उत्पादादि तीन धर्मवाली ही वस्तु परमार्थ सत् है, इसीलिये सभी वस्तुएं अनन्त धर्मवाली हैं, और वे ही प्रमाण की विषय होती है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है, इसीलिये उसमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मकता सिद्ध होती है। इसीलिये अनुमान का प्रयोग इसमें से उद्भावित होता है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, इसीलिये अनन्तधर्मात्मक है। जो अनन्त-धर्मात्मक नहीं है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी नहीं है, जैसे आकाश-

---

१. षड्दर्शन-समुच्चय पृ० ३४१।

२. वही, कारिका ५७ पृ० ३४७।
'उप्पन्नेइवा विगमेइ वाधुवेइवा' स्थानांग सूत्र स्थान १०।

कुसुम। इस प्रकार यह व्यतिरेकी अनुमान है। जिस प्रकार अनन्त धर्म एक वस्तु में होते हैं, वह प्रकार ऊपर बता चुके हैं। धर्म उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। धर्मी द्रव्य रूप से सदा नित्य बना रहता है।[1]

यहाँ तक बात ध्यान में रखने की है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु से भिन्न हैं और उनके संबंध (योग) से वस्तु में सत्त्व आता है – ऐसी बात नहीं है। किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही सत्त्व है। ये तीनों वस्तु के स्वरूप-वस्तु की आत्मा ही है। जैसे पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष आदि सब वस्तु द्रव्य स्वरूप से न तो नष्ट होते हैं और न उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उनमें द्रव्य का परिस्फुट रूप से निर्बाध अन्वय देखा जाता है। यह निर्बाध सिद्धान्त है कि किसी भी असद् द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती और न सत् का अत्यन्त नाश ही होता है। रूपान्तर अवश्य होता रहता है। अतः किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति और नाश हो नहीं सकता। द्रव्य रूप से वस्तु की स्थिति ही रहती है। उसमें रूपान्तर होने का अर्थ ही यह है कि पूर्व रूप का नाश और उत्तर रूप की उत्पत्ति। अतः पर्याय रूप से सब वस्तु उत्पन्न होती है, और नष्ट होती है, तथा द्रव्य रूप से उसमें ध्रौव्य[2] है।

जो पदार्थ वाले नहीं हैं, असत् हैं, उनके स्वरूप लाभ हो जाने को उत्पाद कहते हैं। विद्यमान पदार्थ की सत्ता का नष्ट हो जाना—उसकी सत्ता का वियोग होना विनाश है। इन उत्पाद और विनाश के होते हुए भी द्रव्य रूप से अन्वय रहना ध्रौव्य है। इस तरह उत्पादादि के असंकीर्ण लक्षण सभी के अनुभव में आते हैं। ये उत्पादादि लक्षण भेद से भिन्न होकर भी परस्पर सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। ये परस्पर निरपेक्ष होकर अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। यदि ये परस्पर निरपेक्ष तथा अत्यन्त भिन्न हो जायेंगे तो गगन कुसुम की तरह इनका अभाव हो जायगा। स्थिति और नाश से रहित केवल उत्पाद नहीं होता। उसी तरह स्थिति और उत्पत्ति से रहित केवल विनाश भी नहीं होता। इसी तरह विनाश और उत्पाद से रहित केवल स्थिति भी नहीं रहती। इस प्रकार परस्पर सापेक्ष ही उत्पादादि वस्तु में सत्त्व रूप हो सकते हैं। इसलिये एक ही वस्तु त्रयात्मक क्यों नहीं है?

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३५३। तथा आप्तमीमांसा श्लोक ५७।

२. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३४७।

यहाँ सूक्ष्मदृष्टि से इस बात का विचार करना चाहिये कि जब घट नष्ट होता है, तब वह एकदेश से कुछ नष्ट होता है या सर्वदेश से पूरा का पूरा? यदि एकदेश से नष्ट होता है तो संपूर्ण घट का नाश न होकर उसके एक देश का ही नाश होना चाहिये। परन्तु घट संपूर्ण ही नष्ट हुआ हम पाते हैं। इसलिये घट का एकदेश से नाश मानना उचित नहीं है। यदि दूसरा पक्ष माने, याने घट संपूर्ण सर्वदेश से नष्ट होता है तो घट के नाश होने पर कपाल और मिट्टी नहीं मिलनी चाहिये, क्योंकि घट का सर्वात्मना नाश माना है। परन्तु घट के नष्ट होने पर मिट्टी व कपाल वहीं पड़े हुए मिलते हैं। देखने वाले कहते हैं 'ये मिट्टी के कपाल हैं सोने के नहीं।' इसलिये जब घट के नाश होने पर मिट्टी और कपाल का नाश नहीं होता, तो घट का सर्वात्मना—पूर्ण रूप से विनाश मानना उचित नहीं है। अतः अन्य कोई गति न रहने से बलपूर्वक यह मानना पड़ता है कि घट घट स्वरूप से नष्ट होता है, कपाल स्वरूप से उत्पन्न होता है, और मिट्टी के रूप से ध्रुव है।[1]

इसी तरह इस प्रकार भी सूक्ष्म विचार करें कि जब घट उत्पन्न होता है, तब वह एकदेश से उत्पन्न होता है या सर्वदेश से पूरा का पूरा? यदि एकदेश से उत्पन्न होता है तो उसका कुछ हिस्सा ही उत्पन्न होना चाहिये, पूर्ण घट नहीं। परन्तु घट तो सम्पूर्ण उत्पन्न होता है—यह सर्वलोक प्रसिद्ध है। यदि पूरे रूप से घट उत्पन्न होता है, यह दूसरा पक्ष लेवें तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी मिट्टी भी उत्पन्न होती है। परन्तु मिट्टी के साथ ही घट संपूर्ण रूप से सर्वात्मना उत्पन्न होता है तो उस मिट्टी की प्रतीति नहीं होना चाहिये। 'उस समय मिट्टी नहीं है' यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'यह मिट्टी का घट है सोने का नहीं।' यह प्रतीति सब को होती है। अतः जब घट उत्पन्न होता है तब वह घट की पर्याय में घट रूप से उत्पन्न होता है, मिट्टी के पिण्ड रूप से नष्ट होता है तथा मृद्द्रव्य के रूप में ध्रुव स्थिर रहता है। यह मानना ही पड़ेगा। इस त्रयात्मकता के बिना व्यवहार चल ही नहीं सकता।'[2]

जैसी वस्तु सब लोगों के अनुभव में आती है, यदि वैसी न मानी जाय तथा स्वेच्छा से उसमें अप्रतीत स्वरूप की कल्पना की जाय तो संसार की सम्पूर्ण

---

१. षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३५०-५१।

२. षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३५१।

व्यवस्था ही नष्ट हो जाय। अतः वस्तु की जब जिस प्रकार की निर्बाध प्रतीति हो, उस समय उसे उसी ही प्रकार की माननी चाहिये। इसलिये जो वस्तु पहले नष्ट हुई थी, वही आज नष्ट हो रही है, और आगे भी पर्याय रूप से वही नष्ट होगी। जो उत्पन्न हुई थी, वही उत्पन्न हो रही है, तथा आगे भी पर्याय रूप से उत्पन्न होगी। जो स्थिर थी, वही स्थिर है, तथा आगे भी द्रव्य रूप से स्थिर रहेगी। जो वस्तु किसी रूप से नष्ट हुई थी, वही किसी अन्य रूप से उत्पन्न हुई थी, तथा वही किसी रूप में स्थिर थी। जो किसी रूप से नष्ट हो रही है, वही किसी अन्य रूप से उत्पन्न हो रही है तथा किसी रूप से स्थिर है। जो किसी रूप से नष्ट होगी, वही किसी अन्य रूप से उत्पन्न होगी, तथा किसी रूप से स्थिर रहेगी। इस प्रकार त्रिकालवर्ती वस्तु की उत्पादादि-त्रयात्मकता युक्ति एवं तर्क से सिद्ध हो जाती है। विश्व की समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओं का सदा उत्पादादि त्रयात्मक रूप से ही निर्बाध प्रत्यक्ष से अनुभव होता है। जब वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक रूप से अनुभव में आ रही है, तब उसमें विरोध की शंका भी नहीं हो सकती। वस्तु का अपने स्वरूप से तो विरोध हो नहीं सकता, अन्यथा घट का अपने रूप रस आदि प्रतीत सिद्ध धर्मों से भी विरोध होना चाहिये।[1]

यशोविजय जी की दृष्टि से अनेकान्त का स्वरूप

यशोविजयजी ने निश्चय के साथ व्यवहारनय को भी अच्छी प्रतिष्ठा दी है। जितनी आवश्यकता निश्चयनय की है, उतनी ही या उससे कुछ अधिक आवश्यकता व्यवहार की है। निश्चय के लिये भी व्यवहारनय की आवश्यकता है।

उनका कहना है—यथार्थ ज्ञान से विमुख शिष्य को सबसे पहले गुरु निश्चयबुद्धि के दीपक को दिखाता है। उससे शिष्य में यथार्थ ज्ञान की ओर उन्मुखता उत्पन्न होती है[2]। निश्चय से निश्चयनय का ही उपभोग करने वाला व्यक्ति मत्त के समान चरण चिन्ह को नष्ट कर देता है, उसको रास्ते पर लाने

---

१. षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३५२।

२. कुमततमोपहतदृशः जगतो भूतार्थबोधविमुखस्य,
आदौ दर्शयति गुरुः निश्चयमतिदीपिकामथवा।
—मार्गपरिशुद्धि श्लोक ८।

के लिये व्यवहारनय रूपी वज्रमयी शृंखला उसके पाँव में डालनी चाहिये।'[1] विवेक के बिना केवल निश्चय की साधना करने वाला व्यक्ति मार्ग से भटक जाता है, उसको मार्ग प्रदर्शन करने वाला व्यवहारनय ही है। जो व्यक्ति व्यवहारनय का ठीक उपयोग करना नहीं जानता, उसे निश्चयनय के विषय का ठीक ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार ऊषर क्षेत्र में फसल पैदा नहीं होती। बिना व्यवहारनय के निश्चयनय की साधना ऊषर क्षेत्र में बीज बोने के समान है[2]। दुर्नय का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिये व्यवहाराभास का प्रयोग संसार की वृद्धि करने वाला है। अनाग्रही व्यक्ति का व्यवहारनय का आचरण करना मोक्ष का बीज है[3]। विवेक से व्यवहारनय का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का थोड़ा सा भी ज्ञान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ता है। इससे भिन्न का विशाल भी ज्ञान कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान घटता है।[4] यह उपर्युक्त कथन व्यवहार नय की वाणी है। निश्चयनय से तो न बन्धन है और न उसके उपाय हैं। निश्चयनय से आत्मा विशुद्ध चिदानंदमय है।[5]

---

१. निश्चयतो निश्चयभाग् मत्त इव भिनत्ति यश्चरणमुद्राम्,
तस्य पदे व्यवहारो वज्रमयी शृङ्खला क्षेप्या।
—मार्गपरिशुद्धि श्लोक ६।

२. अव्यवहारिणिजीवे निश्चयनय-विषयसाधनं नास्ति,
ऊषर-देशे कथमपि न भवति खलु शस्यनिष्पत्तिः।
—वही, श्लोक १०।

३. व्यवहार-प्रतिभासो दुर्नयकृद्बालिशस्य भवबीजम्,
व्यवहाराचरणेपुनः अनभिनिविष्टस्य शिवबीजम्।
—वही, श्लोक ११।

४. व्यवहारवतः तनुरपि बोधः सितपक्षचन्द्र इव वृद्धिम्,
इतरस्य याति हानिं पृथुरपि शितिपक्षचन्द्र इव।
—वही, श्लोक १२ पृ० ५।

५. व्यवहारवचनमेतद् निश्चयतो नैव बन्धनोपायः,
मोक्षोपायः कथमपि परस्पर-विरुद्धभावेन।
—वही, श्लोक १६ पृ० ७४।

इस प्रकार यशोविजयजी ने निश्चयनय के महत्व को बतलाते हुए भी व्यवहार एवं निश्चय— दोनों नयों को समान प्रतिष्ठा दी है।

स्याद्वाद के विषय में प्रधान रूप से आपका कहना है कि स्याद्वाद वस्तु का निश्चय करने में चतुर है। अतः स्याद्वाद के द्वारा ही उपदेश देना चाहिए, यह सामान्य स्थिति है[1]।

अनेकान्त की प्रधान प्रवर्तक मान्यता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के बारे में यशोविजय का कहना है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीनों परस्पर एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते। इनमें कथंचिद् भेद से युक्त और कथंचित् अभेदात्मक अविष्वग्भाव सम्बन्ध है। ये तीनों मिलकर सत् याने द्रव्य या वस्तु का लक्षण हैं। ये एक एक लक्षण नहीं हैं। जैन दर्शन में सभी द्रव्य परिणामी नित्य माने हैं[2]।

उत्पादादि तीनों की अलग अलग असाधारण स्वरूपता इस प्रकार है— वस्तु के भाव (सत्ता का आना) को उत्पाद कहते हैं, नाश को व्यय और ध्रुव स्थिति को ध्रौव्य कहते हैं। यहाँ भाव का मतलब है—भवन याने परिणमन होना बदल होना, यह वस्तु की उत्पत्ति है। नाश का मतलब है—पूर्व के पर्याय के स्वरूप का परित्याग करना। सर्वथा असत् हो जाना नाश नहीं है। यही वस्तु का व्यय है। ध्रुव—इसमें भाव प्रधान निर्देश से 'ध्रौव्य' बना है। ध्रौव्य याने स्थिति, पूर्व और अपर पर्यायों के अनुगामि अर्थात् उनमें अनुस्यूत द्रव्य रूप से जो स्थिति है, वह वस्तु का ध्रौव्य[3] है।

तत्त्वार्थ सूत्र में 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'[4]—इस प्रकार सत् याने वस्तु का लक्षण बताया गया है। जैन दर्शन में वस्तु और द्रव्य एक ही चीज है। सूत्र में युक्त शब्द है, इसमें योग का मतलब है—तादात्म्य-लक्षण-सम्बन्ध-

---

१. वस्तुविनिश्चयपटुना स्याद्वादेनैव देशना देया,
इत्युत्सर्गस्थितिरियम् अपरा त्वपवादमर्यादा।
—मार्गपरिशुद्धि, श्लोक ४ पृ० २।

२. अनेकान्त-व्यवस्था पृ० ८३।

३. वही, पृ० ८३।

४. तत्त्वार्थ सूत्र ५।३०।

स्वरूप। इसका मतलब यह हुआ कि तादात्म्य-लक्षण सम्बन्ध से रहने वाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही वस्तु है।

परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले उत्पादादि तीनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह बड़ी शंका यहाँ उपस्थित होती है। इसको दूर करने के लिये यशोविजयजी ने सुन्दर मार्ग बताया है। अवच्छेदक-भेद, इनके विरोध को दूर करने वाला इस सूत्र की व्याख्या से समझ लेना चाहिये। महावीर के उपदेश की त्रिपदी में 'व' शब्द का ग्रहण[1] है। इससे मालूम पड़ता है कि अवच्छेदक-भेद से इन तीनों की एक जगह स्थिति है। अन्यथा परस्पर विरुद्ध तीनों की एकत्र स्थिति कैसे हो सकती है? परस्पर विरुद्ध धर्मों की एकत्र स्थिति अवच्छेदक भेद से ही संभव है। यहाँ अवच्छेदक का मतलब है, विशेष दृष्टि-कोण से प्ररूपक। जैसे घट में सत्त्व है—अस्तित्व है, वह घटत्व की अपेक्षा से, इसको ऐसे भी कह सकते हैं कि घटत्वावच्छेद से घट में अस्तित्व है। अर्थात् घट में जो अस्तित्व धर्म है, उसका अवच्छेदक घटत्व है। इसी प्रकार घट में नास्तित्व धर्म जो है, वह पटत्वावच्छेदेन है, उसका अवच्छेदक पटत्व है। अर्थात् पटत्व की दृष्टि से उसमें नास्तित्व है। उसी प्रकार अवच्छेदक भेद से एक ही वस्तु में तीनों विरुद्ध धर्म भी रह सकते हैं। कहा भी है—

'उत्पादो वस्तुनो भावो नाशस्तस्य व्ययो मतः,
ध्रौव्यमन्वितरूपत्वम् एकं नान्योन्यवर्जितम्'[2] ॥

जैन दर्शन में नित्यत्व का मतलब है—पूर्व और अपर परिणाम में रहने वाली साधारण रूप से एकस्वरूपता, न कि जैसा अन्य दर्शनकार मानते हैं—नहीं नष्ट होने वाला, नहीं उत्पन्न होने वाला, एवं स्थिर स्वभाव वाला ही कूटस्थ नित्य है। इसलिये एक दूसरे के बिना ये तीन रह नहीं सकते हैं। तीनों का सम्बन्ध परस्पर अविनाभावि है। एक दूसरे के बिना जो रह नहीं सकते, तो इनमें किसी से किसी का भी विरोध हो नहीं सकता। कहा भी है—

---

१. 'उप्पज्जेइ वा', 'विगमेइ वा', 'धुवेइ वा', यह त्रिपदी है
—स्थानांग सूत्र स्थान १०।

२. इसका मतलब पृ० १०२ द्वितीय पैरेग्राफ में कहा गया है।

'अविनाभावि यद् येन, न तत्तेन विरुध्यते,
वृक्षत्वेनेव चूतत्वमिहाप्येवं व्यवस्थितिः[1] ।'

जो जिससे अविनाभाव सम्बन्ध रखता है याने जो जिसके बिना नहीं रहता हो, उन दोनों का परस्पर विरोध नहीं रहता। जैसे आम्रत्व और वृक्षत्व दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है, याने आम्रत्व वृक्षत्व के बिना नहीं रह सकता, अतः दोनों में विरोध नहीं है, या आम्रत्व का वृक्षत्व से विरोध नहीं है। उसी प्रकार की स्थिति यहाँ पर है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते, अतः तीनों में परस्पर अविनाभाव संबंध है, अतः तीनों में परस्पर कोई विरोध नहीं रहता। उत्पादादि तीनों परस्पर अनुविद्ध हैं, अतः रूप एवं रस के समान इनमें विरोध नहीं है। ध्रौव्य का अर्थ है—परिणामि वस्तु का स्वरूप, जो कि उत्पाद और व्यय दोनों नाम से कहा जाता है, वे दोनों उससे अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। वे दोनों भी वस्तु के ही परिणाम हैं, अतः ध्रौव्य भी उनको कहते हैं। उनसे अत्यन्त व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है।[2]

जिस व्यक्ति-स्वरूप से देवदत्त पिता है, उस व्यक्ति-स्वरूप से पुत्र भी है। देवदत्त में पितृत्व-पुत्रत्व रहने पर भी देवदत्त का स्वरूप वही है। अलग अलग शब्दों से जो यह व्यवहार होता है, वह विवक्षा के कारण से है। इसी प्रकार से ध्रौव्व में भी समझना चहिये। ध्रौव्य में ही उत्तर रूप के प्राधान्य की अपेक्षा से उत्पाद का, और पूर्व रूप की निवृत्ति के प्राधान्य की अपेक्षा से व्यय का, तथा उन दोनों में ही अन्वय के प्राधान्य की विवक्षा से ध्रौव्य का व्यपदेश होता है। मनुष्य के कर्म के क्षयोपशम के द्वारा इच्छा के वश से अलग अलग वैसा व्यवहार प्रवृत्त होता है—यह संप्रदाय है।[3]

श्री यशोविजयजी का कहना है कि—'तत्त्वार्थ सूत्र में उक्त नित्य लक्षण' तद्भावाव्ययं 'नित्यम्'[4] इस सूत्र के अनुसार ध्रौव्य के व्ययाभाव स्वरूप होने पर भी अवच्छेदक-भेद से विरोध नहीं होता। वस्तु में रहने वाले ध्रौव्य का

१. अनेकान्त-व्यवस्था पृ० ८३।

२. वही, पृ० ८३।

३. अनेकान्तव्यवस्था, पृ० ८३।

४. तत्त्वार्थ सूत्र ५—३१ (सर्वार्थ-सिद्धि)।

अवच्छेदक द्रव्यत्व है, तथा उत्पाद और व्यय के अवच्छेदक क्रम से उत्तर-परिणामत्व एवं पूर्वपरिणमत्व हैं। अवच्छेदकभेद से विरोधी धर्मों का एकत्र रहने में विरोध नहीं रहता—यह बात केवल जैन दर्शन ही मानता है ऐसी बात नहीं है। अपितु सभी दर्शनकार इस बात को मानते हैं। एक ही वृक्ष में अवच्छेदक भेद से संयोग और संयोगाभाव दोनों की स्थिति सर्वदर्शनकार मानते हैं। एक ही वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपि-संयोगाभाव—दोनों विरुद्ध वस्तुएं रहती हैं। इसमें किसी का विरोध नहीं है। यथा उत्पाद और व्यय हैं, तथा ध्रौव्य नहीं है, ऐसा स्वीकार करने में भी कोई हानि नहीं है। यहाँ यथा का अर्थ यद्धर्मावच्छेदेन करना चाहिये। इसका मतलब यह हुआ कि यद्धर्मावच्छेदेन उत्पाद और व्यय है, तद्धर्मावच्छेदेन ध्रौव्य नहीं है। यह स्पष्ट है। इस प्रकार स्वीकार करने में अनेकान्त के भंग का प्रसंग नहीं आता है। प्रकार में एकान्त मानना, धर्मी में अनेकान्त में अनेकान्तत्व से इष्ट ही है। जैसा कि समन्तभद्र ने कहा है—

> 'अनेकान्तेऽप्यनेकान्तः प्रमाणनय-साधनात्,
> अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्'[1]।

इसीलिये अनेकान्त में भी अनेकान्त मानने में अनवस्था नहीं आती, क्योंकि तृतीय-चतुर्थ अनेकान्तों को प्रथम-द्वितीय रूप मान लिया जाता है, अतः आगे बढ़ने का निरास होने से अनवस्था का प्रसंग ही नहीं है। जैसे नैयायिकादि दार्शनिकों के मत में घटाभाव अतिरिक्त है, घटाभाव का अभाव घटरूप ही है, तृतीया आद्यभाव भाव, चतुर्थ द्वितीय रूप है—इस प्रकार अनवस्था नहीं मानी जाती, उसी प्रकार जैन दर्शन में अनेकान्त यह एक अनेकान्त में अनेकान्त एकान्त, उसमें अनेकान्त प्रथम ही, उसमें अनेकान्त द्वितीय रूप, तृतीय चतुर्थ अनेकान्तों का आद्य और द्वितीय में ही पर्यवसान होने से अनवस्था नहीं आती।

अनेकान्त को सब जगह माना तो अनेकान्त में भी अनेकान्त मानना पड़ेगा और इसका अर्थ होगा एकान्त—इस प्रश्न के उत्तर में यशोविजय का कहना है—

---

१. स्वयंभूस्तोत्र श्लोक १०३। इसका अर्थ ऊपर पृ० ८० में देखिये।

अनेकान्त में भी अनेकान्त मानना हमको इष्ट है। नय की अपेक्षा से एकान्त और प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त है, ऐसा बतलाना चाहिये। नित्य, अनित्य आदि चित्ररूप, और एक स्वरूप वाली वस्तु में नित्यत्व, अनित्यत्व आदि में से एकतर-धर्मावच्छेदक के अवच्छेद से एकतरधर्मात्मकता है, उभय के अवच्छेद से उभयात्मकता है। उसी प्रकार नित्यत्व अनित्यत्व आदि सात धर्मस्वरूप निरूपित प्रतिपादकता के पर्याप्ति[1] संबंध से अधिकरण रूप अनेकान्त के महावाक्य में भी सकलनयों के वाक्य के अवच्छेद से उक्तस्वरूप वाली अनेकान्तात्मकता है और प्रत्येक नय के वाक्य के अवच्छेद से एकान्तस्वरूपता भी दुर्वचनीय नहीं है।[2]

दहन करने के कारण दहन, पचन क्रिया करने के कारण पचन— यहाँ पर भी अनेकान्त माना तो दहन में अदहन और पचन में अपचन इस प्रकार विरुद्ध रूप आ जाने से स्वरूप से अभाव का प्रसंग आवेगा। यहाँ पर आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—

> 'गुणनिव्वत्तियसण्णा, एवं दहणादओ वि दठ्ठव्वा
> जंतु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्हं तहा होई ॥'[3]

दहन, पचन आदि नाम अपने गुण दहनादि के कारण बने हैं, वे भी इसी प्रकार अनेकान्त स्वरूप वाले समझना चाहिये। तृणादि दाह रूप परिणाम के योग्य हैं, उनको दहन करने वाला दहन कहा जाता है। जो वस्तु आत्मा, आकाश आदि दाह के परिणाम के अयोग्य हैं, उनको दहन नहीं जलाता है, अतः दहन न करने के कारण 'अदहन' कहा जायगा। इस कारण जो द्रव्य दहन-रूप से प्रतिषिद्ध है, वह द्रव्य अदहन है, इस प्रकार भजना के प्रकार से कथंचिद् दहन है, कथंचिद् दहन नहीं है, ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है। अतः अनेकान्त अव्यापी नहीं हैं।

---

१. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली कारिका १०८ पृ० ३८६ (प्रभाटीका)
(मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास सन् १९२९)
'द्वित्वादीनां पर्याप्ति लक्षणः कश्चन संबंधः अनेकाश्रयः ॥'
अष्टसहस्री विवरण पृ० १८७।

२. अनेकान्त-व्यवस्था पृ० ८३, ८४।

३. सन्मति-तर्क ३।३०।

इस प्रकार से अनेकान्त को व्यापक माना तो जीवद्रव्य अजीवद्रव्य हो जायगा, और अजीवद्रव्य जीवद्रव्य हो जायगा। इस पर यशोविजयजी उत्तर देते हैं कि इस पर आचार्य सिद्धसेन ने मार्ग प्रदर्शन किया हैं। उन्होंने लिखा है—

'कुंभोण जीवदवियं, जीवो विण होइ कुंभ दवियंति
तम्हा दो वि अदवियं अण्णोण्ण-विसेसिया होंति।'[1]

कुम्भ जीवद्रव्य नहीं होता है, जीव भी घटद्रव्य नहीं होता है। इस कारण एक दूसरे से विशेषित दोनों भी अद्रव्य हैं, परस्पर अभावात्मक हैं। यह अभिप्राय है कि जीवद्रव्य कुम्भादि अजीवद्रव्य से व्यावृत्त है या अव्यावृत्त है ? यदि व्यावृत्त पक्ष माना तो स्वस्वरूप की अपेक्षा से जीव जीवद्रव्य है, तथा कुम्भादि अजीवद्रव्य की अपेक्षा से तो जीवद्रव्य नहीं है—इस प्रकार उभय रूप होने के कारण अनेकान्त है ही। यदि द्वितीय विकल्प माना कि जीवद्रव्य कुम्भादि अजीव द्रव्य से अव्यावृत्त है तो सब सब स्वरूप हो जायेंगे और प्रतिनियत रूप के अभाव होने से उन दोनों का ही गगन कुसुम के समान अभाव हो जायगा। इसलिये सब अनेकान्त है, यह मानना चाहिये। अन्यथा वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप बन नहीं सकेगा।[2]

न्यायदर्शन में दो वस्तुओं में—'यह एक है, यह एक है, फिर ये दो हैं' इस प्रकार एकत्वगुणवान् में द्वित्वविषयक बुद्धि उत्पन्न होती है, लेकिन दो वस्तुओं में द्वित्व बुद्धि नहीं लाते हुए एकत्व बुद्धि ही रखी जाय तो भी द्वित्व चला नहीं जाता। उसी प्रकार नय की एकान्त बुद्धि से भी अनेकान्त चला नहीं जाता है।[3] दो वस्तुओं में एकत्व बुद्धि जिस प्रकार सम्पूर्ण रूप से प्रमाण नहीं है, उसी प्रकार वस्तु में वस्तु के अंश का ज्ञान नयस्वरूप समझना

---

१. सन्मतितर्क ३।३१।

२. अनेकान्तव्यवस्था प्रकरण पृ० ८३, ८४, ८५, ८६।
अनेकान्त की व्यापकता के लिये अष्ट शती अकलंक भाष्य पृ० १६०-१६१ तथा अष्टसहस्त्री पृ० १९४-१९५ देखिये।

३. द्वयोरेकत्वबुद्ध्यापि यथा द्वित्वं न गच्छति
नयेकान्तधियाप्येवमनेकान्तो न गच्छति।
—अध्यात्मोपनिषद् प्रकरण श्लोक ३२ पृ० ७१।

चाहिये ।[1] दो वस्तुओं में एक देश से एकत्व का ज्ञान जिस प्रकार प्रमा माना जाता है, उसी प्रकार वस्तु में वस्तु के अंश का ज्ञान नयात्मक मानना चाहिये ।[2] अपेक्षा भेद से विप्रतिषिद्धों के समूह में विरोध नहीं रहता तो फिर विप्रतिषिद्धता कैसी ! एक वस्तु में द्वित्व विप्रतिषिद्ध है, लेकिन दोनों के समूह में विरोध नहीं होकर द्वित्व आ जाता है, फिर इस विप्रतिषिद्धता का क्या अर्थ है ! भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में पितृत्व पुत्रत्व की कल्पना होती है, और विरोध नहीं माना जाता, उसी प्रकार एक ही वस्तु[3] में नित्यानित्यादि अनेकान्त मानने में भी कोई विरोध नहीं है। दही के रूप से उत्पन्न हुआ, दूध के रूप से नष्ट हुआ, तथा गोरस के रूप से स्थिर जानते हुये भी कौन व्यक्ति स्याद्वाद से द्वेष कर सकता है ।[4]

नित्यानित्यादि से युक्त अनेकान्त दृष्टि से गुरुतम माध्यस्थ की भावना उत्पन्न होती है। सब पुत्रों में समान बुद्धि रखने वाले के समान सब नयों में जो समता का भाव रखता है, उस अनेकान्तवाद की बुद्धि न्यून या अधिक

---

१. सामग्र्येण न मानं स्याद् द्वयोरेकत्वधीर्यथा,
तथा वस्तुनि वस्त्वंश-बुद्धिर्ज्ञेया नयात्मिका ।
—अध्यात्मोपनिषद् श्लोक ३३ पृ० ७१ ।

२. एकदेशेन चैकत्वधीर्द्वयोः स्याद् यथा प्रमा,
तथा वस्तुनि व स्त्वंश-बुद्धिर्ज्ञेयो नयात्मिका ।
वही श्लोक ३४ पृ० ७१ ।

३. कथं विप्रतिषिद्धानां न विरोधः समुच्चये,
अपेक्षाभेदतो हन्त कैव विप्रतिषिद्धता ॥३७॥
भिन्नापेक्षा यथैकत्र पितृपुत्रादिकल्पना,
नित्यानित्याद्यनेकान्तः तथैव न विरोत्स्यते ॥३८॥
अव्याप्यवृत्तिधर्माणां यथावच्छेदकाश्रया,
नापि ततः परावृत्तिः तत् किं नात्र तथेक्ष्यते ॥४०॥
वही श्लोक ३७-४० पृ० ७१ ।

४. उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः,
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः ॥
वही श्लोक ४४ पृ० ७१ ।

कहाँ हो सकती है ! वह तो सब जगह समता का ही भाव रखता है ।[1] इसलिये स्याद्वाद का आलंबन लेकर मोक्ष रूप उद्देश्य के प्रति अविशेष रूप से सर्व दर्शनों की समानता जो देखता है, वह वास्तव में शास्त्रज्ञ है ।[2]

तुलनात्मक समीक्षा

कुन्दकुन्द की विचार प्रक्रिया में मुख्य वस्तु है—निश्चयनय । समयसार को आचार्य ने इसी नय की दृष्टि से लिखा है । निश्चयनय को आचार्य भूतार्थ मानते हैं, व्यवहारनय को अभूतार्थ ।

जैन दर्शन में वस्तु स्वरूप का ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है ।[3] पदार्थ में रहने वाले धर्मों के साथ उसके संपूर्ण स्वरूप के ज्ञान करने वाले को प्रमाण कहते हैं ।[4] प्रमाण के विषयीकृत पदार्थ के धर्मों में से एक को प्रमुख रूप से और अन्य को गौण करके विवक्षा के अनुसार क्रम से ग्रहण करने वाले को नय कहते हैं ।[5] नयों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है शास्त्रीय दृष्टि से नय विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद बतलाये हैं और अध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही नय निश्चय में समा जाते हैं । व्यवहार में केवल उपचार का कथन रह जाता है । शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु के स्वरूप की

---

१. नित्यानित्याद्यनेकान्त-शास्त्रं तस्माद् विशिष्यते,
तद्, दृष्ट्येव हि माध्यस्थ्यं गरिष्ठमुपपद्यते ॥६०॥
यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव,
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥६१॥
—अध्यात्मोपनिषद् श्लोक ६०, ६१ पृ० ७२ ।

२. तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्,
मोक्षोद्देशाविशेषेणय यः पश्यति स शास्त्रवित् ॥
—वही श्लोक ७० पृ० ७३ ।

३. तत्त्वार्थसूत्र प्रमाणनयैराधिगमः । १।६।

४. प्रमाण-नय-तत्त्वालोक १।२ ।

५. वही ७।१ ।

विवेचना का लक्ष्य रहता है, और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इस विषय में सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्दजी की विवेचना महत्वपूर्ण है[1]—

शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है, जितना उपादान कारण के व्यापार का। पर-संयोग जन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है, जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नहीं होता, वैसे ही निमित्त कारण के बिना भी कार्य नहीं होता। कार्य की उत्पत्ति में दोनों का समान व्यापार है। ऐसी स्थिति में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष में अपना फैसला कैसे दे सकती है? मोक्ष जितना यथार्थ है, संसार भी उतना ही यथार्थ है। संसार दशा न केवल जीव की अशुद्ध दशा का परिणाम है, और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अत: शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है, उतना ही सत्य इन दोनों का मेल और संयोगज विकार भी है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जीवा-जीवादि नव तत्त्व यथार्थ और सारभूत हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किसी के हित अहित को दृष्टि में रखकर नहीं करती।

शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्म-तत्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है। जो आत्मा के आश्रित हो, उसे आध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं, वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणा में एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थसत् है और उसकी अन्य सब दशायें व्यवहार-सत्य हैं। इसी से शास्त्रीय क्षेत्र में जैसे वस्तु तत्त्व का विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा किया जाता है, वैसे ही अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्म-तत्व का विवेचन किया जाता है, तथा निश्चय दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि

---

१. कुन्दकुन्द-प्राभृत-संग्रह प्रस्तावना, पृ० ८२-८३।

को अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखाती है और व्यवहार दृष्टि उसकी अशुद्ध अवस्था को दिखाती है। आध्यात्मिक-मुमुक्षु आत्म-तत्व को प्राप्त करना चाहता है अतः उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है, जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने में समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है। अतः मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है, वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये उपयोगी नहीं है। अतः वह अभूतार्थ कही जाती है। इसी दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में निश्चय को शुद्ध नय और भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहा है।[1]

नय के विषय में स्व-विचार

प्राचीन ग्रन्थों में वस्तु विचार निश्चय एवं व्यवहार नय को आश्रित कर किया गया है, जैसे समयसार में है। स्थानांगसूत्र में सप्त संख्या के विषयों को बतलाते हुए सप्त नय बतलाये हैं, जो कि आज भी प्रचलित हैं। निश्चय एवं व्यवहार को शुद्ध एवं अशुद्ध नय भी कहते हैं। विचारणीय प्रश्न यह बन जाता है कि नयों का निरूपण दो विभिन्न शैलियों में या विभिन्न प्रकारों में याने दो प्रकारों में क्यों बतलाया गया? ऐसा मालूम होता है कि जैसे अनुमान दो प्रकार में निरूपित हुआ है—स्वार्थ एवं परार्थ। अपने स्वयं के समझने में दूसरे को समझाने की अपेक्षा कुछ लघु मार्ग रहता है। दूसरे को समझाने में कुछ बड़ा मार्ग रहता है। स्वार्थानुमान में केवल अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से ही काम चल जाता है, लेकिन परामार्थानुमान में दूसरे को समझाने के लिये पंचावयव वाक्य का प्रयोग भी आवश्यक बन जाता है। उसी प्रकार स्वयं के चिन्तन में निश्चय एवं व्यवहार से काम चल जाता है। लेकिन दूसरे को समझाने के लिये अथवा कथन के प्रकारों का चिन्तन करते समय सात नय ही संमुख उपस्थित होते हैं। कथन का निरूपण सात प्रकारों में ही किया जा सकता है।

अब प्रश्न आता है—निश्चय और व्यवहार के द्वारा चिन्तन का। निश्चय नय वस्तु के आंतरिक स्वरूप में ही विचार करता है, किन्तु व्यवहार नय उसके बाह्य स्वरूप को ध्यान में रखते हुए वस्तु का विचार करता है। परिवर्तन एवं

---

१. समयसार गाथा ११।

विभिन्नताएँ वस्तु के बाह्य स्वरूप में ही दृष्टिगत होती हैं, आन्तरिक स्वरूप में नहीं। अतः अनेकान्त का स्थान व्यवहार में अधिक है। जैसे जीव का स्वरूप निश्चित रहता है, वह सच्चिदानंदमय है। इसमें अनेकान्त का स्थान कम है। लेकिन बाह्य स्वरूप एवं पर्याय में उसका स्थान ज्यादा है। वस्तु का विभिन्न-दृष्टियों में निरूपण वस्तु के बाह्य स्वरूप में ही किया जा सकता है। तो फिर इसका मतलब यह हुआ कि अनेकान्त सिद्धान्त वस्तु के वास्तविक स्वरूप में लागू नहीं होता है तो 'सर्वमनेकान्तम्' इस सिद्धान्त का व्याघात हुआ। सूक्ष्म-चिन्तन से पता चलता है कि निश्चय नय में भी अनेकान्त है। लेकिन उसका रूप सूक्ष्म है। यदि वहाँ भी अनेकान्त न होता तो 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्।' इस मूल सिद्धान्त को तिलांजलि देनी पड़ती। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है तो अनेकान्त व्यापक ही रहा। जैसे जीव के स्वरूप का विचार करने लगे तो वहाँ भी सत्त्व के लक्षण का समन्वय है ही। वहाँ जीव के ज्ञान स्वरूप होने पर भी ज्ञान पर्यायों में परिवर्तन तो मानना ही पड़ेगा, अन्यथा विभिन्न विषयों का ज्ञान में अवभास होगा नहीं।

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर प्रतीत होता है, वहाँ भी जीव के ज्ञान स्वरूप में पर्यायों का परिवर्तन भी व्यवहारनय के द्वारा ही जाना जायगा। मालूम होता है यह सब व्यावहारिक दृष्टि ही है। तात्त्विक दृष्टि से तो जीव के स्वरूप याने सच्चिदानन्दमयता में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसीलिये निश्चयनय और व्यवहारनय इन दो नयों का नामकरण भी सार्थक है। व्यवहार नय स्वरूप को न छू कर उसके परिणामों पर विचार करता है। शायद यही मतलब है, कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयासार में निश्चयनय को भूतार्थ एवं व्यवहारनय को अभूतार्थ कहकर निश्चयनय की प्रमुखता बतलाई। इसी प्रमुखता का मतलब यह है कि आत्म स्वरूप की ख्याति[1] को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। आत्मा का वास्तविक प्रमुख स्वरूप निश्चयनय से ही जाना जा सकता है। इस दृष्टिकोण से आचार्य कुन्दकुन्द के विचार अद्वैत-वाद के अधिक निकट हैं। निश्चयनय से अद्वैत ही अवभासित होता है। व्यवहार द्वैत को लाता है। इन्हीं नयों को हम अद्वैत की पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता कहें तो क्या हानि है? इसी बात को हम अन्य शब्दों

---

१. **समयसार गाथा ११, १३ अमृतचंद्र टीका पृ० २९-३० गाथा २२९ से २३६ तक।**

में यों कह सकते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि एवं व्यावहारिक दृष्टि। पारमार्थिक दृष्टि में जीव के साथ अन्य आठ तत्त्वों का कोई सम्बन्ध नहीं[1] आता। व्यावहारिक दृष्टि से ही उनका सम्बन्ध आत्मा से आता है। आत्मा बद्ध है, मुक्त है—यह व्यवहार व्यावहारिक दृष्टि से ही तो है। अजीव का कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध जीव के साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही आता है। यही द्वैत की स्थिति है। आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों के सम्बन्ध की स्थिति आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप तो नहीं है। यह उसका सांसारिक स्वरूप है और यही व्यावहारिक स्थिति है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयासार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म स्वरूप का विवेचन किया है। अतः इनमें निश्चयनय और व्यवहार नय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तु के एक और अभिन्न, स्वाश्रित, पर-निरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला नय निश्चयनय है, और अनेक भेद रूप वस्तु तथा उसके पराश्रित-परसापेक्ष परिणमन को जानने वाला नय व्यवहारनय है। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को आचार्य ने निश्चयनय का विषय माना है, और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहारनय का विषय कहा है। आचार्य ने समय-सार में निश्चयनय से ही विचार किया है। अतः काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को आत्मा में वे स्वीकृत नहीं करते हैं। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं, अतः उन्हें वे पुद्गल के मानते हैं। इसी तरह गुणस्थान, जो आत्मा के विकास के क्रमिक सोपान हैं, को वे जीव का स्वभाव नहीं मानते। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है, विभाव को नहीं। जो स्व में सदा रहता है, वह स्वभाव है, जैसे जीव के ज्ञानादि। जो स्व में पर के निमित्त से होते हैं, वे विभाव हैं, जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव, चूंकि आत्मा में पर के निमित्त से होते हैं, वे आत्मा के नहीं हैं। वे आगन्तुक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द विभावों को व्यवहार का ही विषय मानते हैं। इनके महान्

---

१. समयसार गाथा १६३, १६६ पृ० २३०।

२. समयसार गाथा १६६, १८०, १६६, आत्मख्याति टीका श्लोक १२२ पृ० २४७-२४८।

टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि भी इस विषय में आचार्य का ही अनुसरण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयासार को केवल अध्यात्म दृष्टि से ही लिखा है। इसीलिये उसमें निश्चय नय का ही प्राधान्य है लेकिन आचार्य ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया है। इसीलिये पंचास्तिकाय[1] में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि से भी विवेचन किया गया है और इसीलिये प्रवचनसार में निश्चय एवं व्यवहार का अविरोध भी बतलाया गया है।[2] साधक के परमभाव एवं अपरमभाव की स्थिति की दृष्टि से दोनों नयों का उपदेश आचार्य ने किया है।[3] फिर भी शुद्ध नय की दृष्टि से आत्म-तत्त्व का विवेचन करने वाला समयासार जैन दर्शन में अद्वितीय ग्रन्थ है। प्रतीत होता है, अद्वैत वेदान्त शुद्धनय की दृष्टि से ही ब्रह्म तत्व का विवेचन करता है। व्यवहारनय ही उनकी दृष्टि से व्यावहारिक सत्ता है। शुद्ध नय पारमार्थिक सत्ता है।

यशोविजयजी भी इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए मालूम होते हैं।[4] उनका कहना है—जो व्यक्ति कर्म रूप उपाधि से उत्पन्न

---

१. पंचास्तिकाय गाथा १६, २०। पृ० ३६-४२।

२. प्रवचनसार, पृ० २३० अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति—
एसो बंध समासे जीवाणं णिच्छयेन णिद्दिठ्ठो
अरहंतेहि जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो।
—श्लोक ९७।

३. सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपर में ठिठदा भावे।
समयसार गाथा १२ पृष्ठ २४-२८।

ववहारिओ पुणणओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि॥
—समयसार गाथा ४१४ पृ० ५०६।

४. व्यवहारवचनमेतद् निश्चयतो नैव बन्धनोपायः
मोक्षोपायः कथमपि परस्पर विरुद्ध भावेन॥
—मार्गपरिशुद्धि पृ० ७४ श्लोक १६।

भावों को आत्मा में अध्यवसित करता है, उसने श्रेष्ठ आत्मा के स्वाभाविक रूप को नहीं समझा[1]। जो दृश्य, निर्वचनीय और मननीय है, वह रूप पर से संश्लिष्ट है, वह शुद्ध द्रव्य का लक्षण नहीं है। उपाधि मात्र की व्यवृत्ति से ही शुद्ध आत्मा का लक्षण कहा गया है।[2] मन के साथ वाणीभी आत्मा को नहीं प्राप्त करके वहाँ से निवृत्त हो जाती है[3]—यह श्रुति भी इसी अर्थ को बतलाती है, अतीन्द्रिय परब्रह्म को विशुद्ध अनुभव के बिना शास्त्रों की सैकड़ों युक्तियों से भी नहीं जाना जा सकता।[4] आत्मा के दो स्वरूप—समल और निर्मल यही द्वैत है, यह जब चला जाता है, तब अद्वैत निर्मल ब्रह्म एकमात्र अवशेष रहता है[5]। विकल्प रूप यह माया विकल्प से ही नष्ट होती है,[6] इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के समान यशोविजयजी भी अद्वैत की प्राप्ति

---

१. कर्मोपाधिकृतान् भावान् य आत्मन्यध्यवस्यति,
तेन स्वाभाविकं रूपं न बुद्धं परमात्मनः।
—अध्यात्मोपनिषत् पृ० ७५ ज्ञानयोग शुद्धि अधिकार श्लोक–२९

२. यद्दृश्यं यच्च निर्वाच्यं मननीयं च यद् भुवि
तद्रूपं परसंश्लिष्टं न शुद्धद्रव्यलक्षणम् ॥१८॥
अपदस्य पदं नास्ति इत्युपक्रम्यागमे ततः
उपाधिमात्रव्यावृत्या प्रोक्तं शुद्धात्मलक्षणम् ॥१९॥
—अध्यात्मोपनिषत् श्लोक, १८, १९, पृ० ७५।

३. 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
—तैत्तिरीय उपनिषद् २।४।१ अध्यात्मोपनिषत् पृ० ७५ श्लोक २०।

४. अतीन्द्रियं परब्रह्म विशुद्धानुभवं विना,
शास्त्र-युक्ति-शतेनापि नैव गम्यं कदाचन।
—अध्यात्मोपनिषद्, गाथा २१, पृ० ७५।

५. समलं निर्मलं चेदमिति द्वैतं यदा गतम्
अद्वैतं निर्मलं ब्रह्म तदैकमवशिष्यते ॥
—आध्यात्मोपनिषत् पृ० ७६ श्लोक ४०।

६. विकल्परूपा मायेयं विकल्पेनैव नाश्यते।
अवस्थान्तर भेदेन तथा चोक्तं परैरपि ॥
—वही पृ० ७७, श्लोक ५२।

को उच्चतम लक्ष्य मानते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र भी इसी विचार का अनुसरण करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द से यशोविजय का विचार साम्य होते हुए भी यशोविजय ने व्यवहार को स्पष्ट रूप से निश्चय के समकक्ष माना है। ये व्यवहार को भी आवश्यक मानते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनेकान्त संबंधी विवेचन अन्य आचार्यों से मिलते हैं। पांचों आचार्य इस संबंध में एक शैली पर ही निरूपण करते हैं। सभी अनेकान्त का आधार त्रिपदी को ही मानते हैं। सब वस्तुओं को यहाँ तक कि आत्मा को भी परिणामी द्रव्य मानते हैं। सभी द्रव्य नित्यानित्यात्मक सत्त्वासत्वात्मक, सामान्य-विशेषात्मक एकानेक हैं—यह सब आचार्य मानते हैं। आचार्य समन्तभद्र का यहाँ यह कहना है कि स्याद्वाद सप्तभंगी नय की अपेक्षा से वस्तु के हेयत्व और उपादेयत्व के भेद के लिये उपयोगी है।[1] इन्होंने अनेकान्त में भी अनेकान्त मानकर अनेकान्त को व्यापकता प्रदान की। आचार्य सिद्धसेन ने भी अनेकान्त में अनेकान्त माना है। अनेकान्त को व्यापक मानकर व्यापकता के मानने से आने वाली अनेक शंकाओं का विद्वत्ता के साथ परिहार भी किया है। आचार्य ने अनेकान्त में आने वाले अनेक कुतर्कों का भी समाधान उचित रूप से किया हैं। अनेकान्त में अनेकान्त मान कर और उसे व्यापक मान कर उसे सिद्ध करना बुद्धि कुशलता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य सिद्धसेन में गुण और पर्याय के बारे में विरोध-सा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने गुण और पर्यायों को अलग-अलग माना है। आचार्य सिद्धसेन दोनों को एक बताते हैं। इसकी विस्तृत विवेचना हम ऊपर[2] कर आये हैं। वास्तव में द्रव्य की स्थिति कथंचित् गुण से अभिन्न है। इसीलिये अलग से गुणार्थिक नय का निरूपण नहीं किया गया है। अनेकान्त सिद्धान्त में दृष्टिभेद के कारण होने वाले विचार भेद में कोई विरोध नहीं रहता।

आचार्य हरिभद्र का अनेकान्त चिन्तन भी बहुत गंभीर, सूक्ष्म और समन्वय

---

१. अष्टसहस्त्री कारिका १०४ पृ० २८७।

२. वही पृ० ३८ से ४२ तक।

दृष्टि को पल्लवित करने वाला है। अनेकान्त में समन्वय दृष्टि को खोजने वाले आचार्य सिद्धसेन हैं और उसे पल्लवित एवं विकसित कर पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले हरिभद्र हैं। अनेकान्त दृष्टि समन्वय दृष्टि की जनक या प्रयोजक है—यह कल्पना आचार्य सिद्धसेन की है। इस कल्पना को पूर्ण विकसित कर सजाने एवं संवारने का महान् कार्य हरिभद्र ने किया है। आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय में इस विचारधारा का परिचय मिलता है, लेकिन शास्त्र-वार्ता-समुच्चय में तो इन्होंने इस विचारधारा को उच्च शिखर पर पहुंचा दिया, जिसे देखकर इनकी बुद्धि-कुशलता का प्रमाण मिलता है। आचार्य हरिभद्र की समन्वयशीलता का अवलोकन कर आश्चर्य होता है। आचार्य हरिभद्र ने इस दृष्टि का अवलंबन करके दर्शनों के परस्पर विरोध को समाप्त कर दिया है। अनेकान्त की विचार-धारा को इन्होंने विकसित एवं परिष्कृत किया है।

यशोविजयजी इस नवीन युग के प्रतिनिधि हैं। दर्शन क्षेत्र में विक्रम की तेरहवीं सदी में श्री गंगेशोपाध्याय ने नव्यन्याय की नींव डाल कर दर्शन क्षेत्र की प्रतिपादन एवं निरूपण शैली में महान क्रान्ति कर दी थी। जैन दर्शन में इसका उपयोग यशोविजयजी ने किया। इनका दार्शनिक निरूपण नव्यन्याय की परिष्कृत शैली में है। इन्होंने अपने युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य ढंग से परिष्कृत करने का आद्य और महान् प्रयत्न किया।

नव्य न्याय की शैली जरा जटिल जरूर है, लेकिन इस शैली द्वारा अपना ठीक ठीक मंतव्य परिष्कृत रूप से और स्पष्ट रूप से अन्य के समक्ष रखा जा सकता है, इसकी विश्व में कोई सानी नहीं। नव्यन्याय से थोड़ा भी संपर्क रखने वाला व्यक्ति यशोविजयजी की अनेकान्त की निरूपण की परिष्कृतता को देखकर मुग्ध हुए बिना नहीं रहेगा। नव्यन्याय की परिष्कृत शैली से जन-समक्ष रखे हुए विचारों में शंका की कोई गुंजाइश बाकी नहीं रहती। ऐसा प्रतीत होता है, नव्यन्याय की परिष्कृत शैली दर्शन क्षेत्र के लिये बहुत उपयुक्त है। जैन दर्शन के महान् सिद्धान्त अनेकान्त का परिष्कृत निरूपण एवं विवेचन यशोविजयजी ने किया है, वह मस्तिष्क को ठीक तरह प्रभावित करता है। अनेकान्त को उसके यथार्थ रूप में समझने के लिए यशोविजयजी का इस शैली के द्वारा किया गया निरूपण तथा विवेचन अत्यंत उपयोगी है। इनका निरूपण देखने के बाद अनेकान्त की विचारधारा ठीक तरह मस्तिष्क में जम जाती है। उसके बारे में फिर कोई शंका एवं विरोध को स्थान नहीं रहता।

यशोविजयजी का एक पक्ष और है, जिस पर प्रकाश नहीं डालने से इनको समझना अधूरा ही रह जायगा। समन्वय दृष्टि के प्रस्तोता महान् आचार्य हरिभद्र के समान यशोविजयजी भी इस दृष्टि के महान् समर्थक हैं। आचार्य हरिभद्र के महान् ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय पर यशोविजय ने स्याद्वाद कल्पलता नामक टीका लिखी है उसमें इन्होंने अनेकान्त के द्वारा समन्वयदृष्टि को बहुत पल्लवित किया है। इनकी एवं आचार्य हरिभद्र की समन्वय दृष्टि को देखकर निम्न श्लोक स्मृति पथ में अवतरित हो जाते हैं। ऐसा मालुम होता है कि इन दोनों विद्वानों ने निम्न श्लोकों की भावना का यथोचित कार्यान्वय किया है। वे श्लोक निम्न हैं—

'यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः,
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धि-सुखावहः'[1]।
'सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्'[2]।

उपर्युक्त पाँचों आचार्यों द्वारा किये गये अनेकान्त के निरूपण एवं विवेचन को देखकर समय के प्रवाह के साथ साथ होने वाले अनेकान्त की विचार पद्धति का विकास, परिष्कृतता एवं गंभीरता का परिचय, इनके ग्रंथों को देखकर हमें अच्छी तरह मिलता है।

जैन दर्शन में अनेकान्त के स्वीकार करने पर भी द्रव्य में सर्वावच्छेद से नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं है। वहाँ भी नियम हैं। द्रव्य द्रव्यत्वावच्छेद से नित्य है, पर्यायावच्छेदेन अनित्य है। द्रव्यत्वावच्छेद से वह नित्य ही है। जैसे नित्य का लक्षण उमास्वाति ने दिया है—'तद्भावाव्ययं नित्यम्'[3] जो अपने सत् भाव से नष्ट नहीं होता है या नष्ट नहीं होगा, वह नित्य है। इसका मतलब यह हुआ कि जो द्रव्यांश है, वह नित्य ही है। परन्तु यहाँ द्रव्यांश के नित्य होने के कारण उत्पाद और विनाश का अभाव होने से उसका सत्व नहीं होगा, याने उसमें असत्त्वापत्ति आवेगी। क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप सत् का लक्षण है।[4] यदि उस द्रव्यांश में भी द्रव्य और पर्याय के भेद से नित्यत्व तथा

---

१. **शास्त्रवार्तासमुच्चय श्लोक २ (आ० हरिभद्र)।**

२. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २ (आ० अमृतचन्द्र)।**

३. **तत्त्वार्थ सूत्र ५।३१।**

४. **वही, ५।३०।**

अनित्यत्व माना जाय, तो द्रव्यांश का जो द्रव्यांश है, वह नित्य होगा, तब उसमें सत्त्व नहीं आयगा क्योंकि उसमें सत् का लक्षण उत्पाद और व्यय के अभाव से लागू नहीं होगा। अतः उसके भी द्रव्यांश की कल्पना करने से अनवस्था दोष आवेगा। इसको निवारण करने के लिये यह स्वीकार करना ही होगा कि जो उपर्युक्त प्रथम द्रव्यांश है, वह नित्य ही है। सत् के लक्षण के लागू न होने से असत्त्वापत्ति वहाँ नहीं आती है, क्योंकि वह द्रव्यांश स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। जो स्वतंत्र पदार्थ है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशील है। अथवा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सद्' यहाँ पर सत्त्व का अर्थ है द्रव्यत्व। मतलब यह है कि यह लक्षण द्रव्य का है। दिगंबर आम्नाय में इसके ऊपर एक सूत्र आता है 'सद् द्रव्यलक्षणम्'[1]। सद् यह द्रव्य का लक्षण है। और सद् का लक्षण है उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्तता। यह स्वीकार करना अच्छा है। इसको पदार्थ का लक्षण मान लिया तो गुण में द्रव्यांश का अभाव होने से अव्याप्ति आवेगी, या गुण में पदार्थत्वाभाव की आपत्ति आवेगी। अतः इसको द्रव्य का लक्षण स्वीकार करना ही ठीक है। द्रव्य सर्वदा अविनष्ट और अनुत्पन्न माना गया है। अतः जीवद्रव्य में द्रव्य रूप से नित्यत्व माना जाता है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही माना है।[3]

इस सिलसिले में यह विचार आवश्यक है कि अनेकान्त की वस्तु स्वरूप के यथार्थ दर्शन के लिये हुई है, न कि वस्तु में केवल अनेकान्त को लागू करने के लिये कल्पित किसी अन्य स्वरूप को जबरन् स्थापित करने के लिये। घट में द्रव्य स्वरूप नित्य ही है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है इसीलिये सप्तभंगी में एवकार का प्रयोग किया जाता है।

अनेकान्त की कल्पना करके उसे अन्यथा नहीं कर सकते। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा ही अनेकान्त देखता है, न कि अपनी कल्पना के अनुरूप वस्तु को बनाता है। घट में द्रव्य का स्वरूप नित्य है, उसमें अनेकान्त के नाम पर अन्यथात्व की कल्पना करना अनुचित है। इसके लिये अनेकान्त की स्थापना नहीं हुई है। उसकी स्थापना वस्तु के यथार्थ दर्शन के लिये है।

---

१. तत्वार्थ सूत्र (सर्वार्थसिद्धि) ५।२६।
२. पंचास्तिकाय पृ० ४५ कारिका २१ की अमृतचन्द्र की व्याख्या।
३. वही कारिका १०।

यदवच्छेन घट में नित्यता है, तदवच्छेदन से ही उसमें अनित्यता की कल्पना वस्तु स्वरूप का अपलाप करना है। अनेकान्त के प्रयोग में यही जागरूकता रखना आवश्यक है। नहीं तो वह प्रयोक्ता के ही मस्तकभंग को कर सकता है[1]। अतः अनेकान्त का प्रयोग वस्तु के स्वरूप को ध्यान में रख उसके यथार्थ ज्ञान के लिये ही करना चाहिये, न कि अपनी कल्पना पदार्थ स्वरूप या समाजिकता पर थोपने के लिये। ऐसा करना अनेकान्त की मर्यादा के लिये जबरदस्त अन्याय होगा।

नय

नय और सप्तभंगी में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रयोग के कारण इसे स्याद्वाद भी कहते हैं। स्याद्वाद सकलादेश रूप है और नय विकलादेश रूप[2] सकलादेश एवं विकलादेश का परिचय हम सप्तभंगी प्रकरण में देंगे। इनमें सकलादेश प्रमाण है और विकलादेश को नय कहते हैं। इस प्रकार स्याद्वाद सुनय को निरूपण करने वाली भाषा पद्धति है। इसलिये वह वाचक है। अनेकान्तवाद तो वस्तुनिष्ठ धर्म रूप है। स्याद्वाद वस्तु में रहने वाले धर्मों को बतलाता है, अतः अनेकान्तवाद वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। इस प्रकार स्याद्वाद और अनेकान्तवाद में भेद भी है। स्याद्वाद में नय प्रकरण विशेष महत्व का है।

वस्तुतः देखा जाय तो विविध दर्शन एक ही तत्त्व को अनेक रूप से निरूपित करते थे। अतएव जैसा भी तत्त्व हो, उसके निरूपण के ये अनेक दृष्टि बिन्दु थे—यह स्पष्ट है। किन्तु ये दार्शनिक अपने मत को दृढ़ करने और अन्य मतों के निराकरण में तत्पर थे। अतः उन दार्शनिकों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अनेक दृष्टियों से एक ही तत्त्व का निरूपण करें। न्यायादि सभी दर्शन वस्तु तत्त्व की एक निश्चित प्ररूपणा लेकर चले थे और उसी ओर उनका आग्रह होने से तत् तत् दर्शन की सृष्टि हो गई थी। उस उस दर्शन के उस परिष्कृत रूप से बाहर जाना उनके लिये सम्भव नहीं था।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ५९।

२. उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वाद-नय संज्ञितौ,
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा॥
—लघीयस्त्रय श्लोक ३२।

जैन दार्शनिकों के विषय में ऐसी बात नहीं है। वे दार्शनिक विवाद के क्षेत्र में नैयायिकादि सभी दर्शनों के परिष्कार के बाद अर्थात् तीसरी शती के बाद आये। अतएव वे अपना मार्ग निश्चित करने में स्वतन्त्र थे। उनके लिये यह सुविधा भी थी कि जैनागम ग्रन्थों में वस्तु विचार नयों के द्वारा अर्थात् अनेक दृष्टियों से हुआ था। जैन आगमों में मुख्य रूप से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से तथा द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों के द्वारा विचार करने की पद्धति अपनाई गई है। इसके अलावा व्यवहार और निश्चय इन दो नयों से भी विचार देखा जाता है। इन आगम ग्रन्थों की जब व्याख्या होने लगी, तब सात नयों का सिद्धान्त विकसित हुआ। यही समय है, जब से लेकर जैन दार्शनिक, दर्शन क्षेत्र में जो वाद विवाद चल रहा था, उसमें क्रम से शामिल होते गये। परिणाम स्वरूप विविध मतों के बीच अपने मत का सामंजस्य कैसा है और कैसा होना चाहिये, इस विषय की ओर उनकी दृष्टि गई। यह तो स्पष्ट हो गया था कि वे जब द्रव्यार्थिक दृष्टि से वस्तु का विचार करते हैं, तब वस्तु को नित्य मानने वाले दार्शनिकों से उनका ऐकमत्य होता है, और जब पर्याय दृष्टि से विचार करते हैं, तब वस्तु को अनित्य मानने वाले बौद्ध दार्शनिकों से ऐकमत्य होता है। अतएव इस बात को लेकर वे दर्शनों के अन्य विचारों से भी परिचित होने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। अन्य दर्शनों से जैन दर्शन का किन-किन बातों में मतैक्य है और किन-किन बातों में भेद है—इसकी खोज में प्रवृत्त हुए। उस प्रवृत्ति के फल स्वरूप जैन आचार्यों में अपने नय सिद्धान्त का पुनरवेक्षण करना आवश्यक हो गया। इसके साथ ही अन्य दर्शनों का ठीक ज्ञान भी आवश्यक हो गया। इस अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति नय सिद्धान्त की समयानुकुल व्याख्या करके की गई और अन्य दर्शनों के विषय में सही ज्ञान देने वाले प्रकरण लिखकर और अन्य दर्शनों का नय सिद्धान्त से सम्बन्ध जोड़ कर भी की गई। इसी प्रवृत्ति के फल आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्र वार्ता-समुच्चय में हम विभिन्न रूप से देखते हैं।[1]

नयों के विषय में सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने प्रश्न उठाया है कि एक ही वस्तु का विविध रूप से निरूपण करने वाले ये नय तन्त्रान्तरीय मत हैं या

---

१. **षड्दर्शनसमुच्चय भूमिका (पं० मालवणिया) पृ० ८-९।**

अपने ही मत में प्रश्नकर्ताओं ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार कुछ मतभेद खड़े किये हैं ? उन्होंने उत्तर दिया है कि न तो ये नय तन्त्रांतरीय मत हैं और न ये अपने ही मत के लोगों ने मतभेद खड़े किये हैं। किन्तु एक ही वस्तु के जानने के नाना तरीके हैं। इस पर फिर प्रश्न आता है कि—तो फिर एक ही वस्तु के विषय में नाना प्रकार का निरूपण करने वाले नयों में परस्पर विरोध क्यों नहीं है ? उत्तर में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि एक ही वस्तु को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है, अतएव इनमें विरोध को अवकाश नहीं है। जैसे एक ही वस्तु नाना प्रकार के ज्ञानों से अनेक रूप देखी जा सकती है, वैसे ही अनेक नयों से उसे अनेक प्रकार से माना जा सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं।[1]

इस दृष्टिकोण में कालान्तर में विकास हुआ। नये दृष्टिकोण से नयों का अध्ययन करने से यह पता चला कि इनका विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से साम्य है, तो नय के द्वारा उनमें विरोध शमन का प्रयत्न शुरू हुआ। इस प्रयत्न में आचार्य सिद्धसेन अग्रसर हैं, ऐसा मालुम पड़ता है। इन्होंने सन्मति

---

१. किमेते तन्त्रान्तरीया वादिनः आहोस्वित् स्वतंत्रा एव चोदकपक्ष-ग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविताः ? अत्रोच्यते। नैते तंत्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविताः। ज्ञेयस्य तु अर्थस्य अध्यवसायान्तराणि एतानि। एवमिदानीम् एकस्मिन् अर्थे अध्यवसायनानात्वात्। ननु विप्रतिपत्तिप्रसंगः ? अत्रोच्यते। यथा सर्वमेकं सदविशेषात्, सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात्, सर्वं त्रित्वं द्रव्यगुणपर्यायावरोधात्, सर्वं चतुष्टयं चतुर्दर्शनविषयावरोधात्, सर्वं पञ्चत्वम् अस्तिकायावरोधात्, सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्। यथा एताः न विप्रतिपत्तयः, अथ च अध्यवसायस्थानान्तराणि एतानि, तद्वत् नयवादाः। किं चान्यत्। यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चभिः ज्ञानैः धर्मादीनाम् अस्तिकायानाम् अन्यतमः अर्थः पृथक् पृथक् उपलभ्यते, पर्यायविशुद्धिविशेषाद् उत्कर्षेण, न च ता विप्रतिपत्तयः तद्वद् नय-वादाः। यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैः एकः अर्थः प्रमीयते, स्वविषयनियमात्, न च ता विप्रतिपत्तय भवन्ति, तद्वत् नयवादाः।

तत्वार्थसूत्र उमास्वातिभाष्य पृ० ३४, ३५, ३६।

तर्क में नय और नयाभास सुनय-दुर्नय का भी स्पष्टीकरण करके नयों में अभिनव विचार का सूत्रपात कर दिया। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय अपनी दृष्टिबिन्दु से विचार करें, यह ठीक है, किन्तु अपनी मर्यादा से बाहर जाकर ऐसा आग्रह रखें कि वस्तु का यही एक रूप है तो प्रत्येक नयाभास या मिथ्या दृष्टि होंगे।[1] किन्तु यदि दोनों नव अपने विषय का विभाग करके चलें तो दोनों एकान्त मिलकर अनेकान्त बन जाता है।[2] अपनी ही दृष्टि का आग्रह करने पर प्रत्येक नय दुर्नय बन जाता है।[3] यदि नय परस्पर की अपेक्षा रखते हैं, तो सम्यक् हो जाते हैं।[4] आचार्य सिद्धसेन ने अपने मत की पुष्टि में सुन्दर उदाहरण दिया है। पृथक् पृथक् रहने वाले मूल्यवान् मणि रत्नावलि के नाम से वंचित रहेंगे। उसी प्रकार अपने अपने मतों के विषय में ये नय कितने ही सुनिश्चित हों, किन्तु जब तक वे अन्य अन्य पक्षों से निरपेक्ष हैं, 'वे सम्यग्दर्शन नाम से वंचित ही रहेंगे। जिस प्रकार वे ही मणि जब अपने अपने योग्य स्थान में एक सूत्र ग्रथित हो जाते हैं, तो अपने नामों को छोड़ एक रत्नावलि नाम को धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार से सभी नयवाद भी सब मिलकर अपने अपने वक्तव्य के अनुरूप वस्तु दर्शन में योग्य स्थान प्राप्त करके सम्यग्दर्शन बन जाते हैं।[5] यही अनेकान्तवाद है।

---

१. णय तइ ओ अत्थि णओ ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं,
जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगन्तो
जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे
हंदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा ते वि॥
सन्मति तर्क गाथा १।१४, १५ पृ० ४१६।

२. सन्मति तर्क १।१४ जेण दुवे एगन्ता विभज्जमाणा अणेगन्तो।

३. वही, १।१५।

४. तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिठ्ठी सपक्खपडिबद्धा,
अण्णोण्ण-णिस्सिआ उण हवंति सम्मत्त-सब्भावा।
—सन्मति तर्क १-२१ पृ० ४१९।

५. जहउणेयलक्खणगुणा वेरुलियाई मणी विसंजुत्ता
रयणावलिववएसं न लहंति महग्धमुल्ला वि
तह णियववाय सुविणिच्छिया वि अणोण्णपक्ख णिरवेक्खा
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति

आचार्य सिद्धसेन के मत का तात्पर्य इतना ही है कि अन्य दर्शनों के मत, यदि एकान्त छोड़ देते हैं, तो सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। यहीं से नयवाद के साथ अन्य दार्शनिक मतों के संयोजन की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। आ० सिद्धसेन ने इस प्रक्रिया का सूत्रपात इन शब्दों में कर दिया है—जितने वचन मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं, उतने ही पर मत हैं।[1] सांख्य दर्शन द्रव्यार्थिक नय का वक्तव्य है और बौद्ध दर्शन परिशुद्ध पर्यायार्थिक नय का वक्तव्य है। तथा वैशेषिक मत में दोनों नय स्वीकृत हैं। परंतु ये परस्पर अन्यमत निरपेक्ष हैं। यदि ये अन्य मत सापेक्ष हों और एकान्त का त्याग करें तो ये सुनय होंगे[2]। अनेकान्त दर्शन का इनसे कोई विरोध नहीं रहेगा।

आचार्य हरिभद्र ने नयवाद में विकास का एक कदम और आगे बढ़ाया। आचार्य हरिभद्र का कहना है कि दर्शनों का परस्पर विरोध दूर करना है तो उनके दृष्टिकोण में थोड़े से संशोधन की आवश्यकता है। इस प्रकार इन्होंने नय-दृष्टि में विकास करके दर्शनों में परस्पर समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रश्न है कि नय क्या वस्तु है ? और उनका अनेकान्त दर्शन में क्या स्थान है ? जैन दर्शन में ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन बताये—प्रमाण और नय।

जह पुण ते चैव मणी जहा गुण-विसेस-भागपडिबद्धा
रयणावलि वेत्ति 'भण्णइ जहंति पाडिक्क सण्णाउ
तह सव्वे णयवाया जहाणुरूव-विणिउत्त वत्तव्वा
सम्मद्दंसण सद्दं लहंति ण विसेस सण्णाओ।
—सन्मति तर्क १।२२ से २५ पृ० ४२१।

१. जावइया वयणवहा तावइया चैव होंतिणयवाया,
जावइया णयवाया तावइया चैव परसमया॥
—सन्मति तर्क वही ३।४७ पृ० ६५५।

२. जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं,
सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जव-विअप्पो
दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं,
जं सविस अप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा।
—वही, ३।४८, ४९ पृ० ६५६।

जैसा आचार्य उमास्वाति ने कहा है—प्रमाणनयैरधिगमः'[1]। प्रमाण और नय से ज्ञान होता है। प्रमाण का मतलब है—अर्थ के यथार्थ ज्ञान का साधन, या स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान[2]। प्रमाण की वस्तु के सर्व धर्म का ग्राहक माना गया है, इसीलिये उसको सर्व नयात्मक कहते हैं। अनेक धर्मों से युक्त अर्थ की ग्राहक-बुद्धि को प्रमाण कहते हैं[3]। इसके द्वारा इस क्षेत्र में आये, एक धर्म के समर्थन में प्रवीण तथा शेष धर्म को न स्वीकार, व न तिरस्कार करने वाला नय है।

नय का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—स्याद्वाद से प्रविभक्त अर्थ विशेष को बतलाने वाला नय है[4]। देवसेन ने नयचक्र में कहा है—अनेक स्वभावों से अलग करके एक धर्म में वस्तु का ज्ञान कराने वाला नय है[5]। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है—वस्तु के एक देश का ज्ञान कराने वाला नय है[6]। न्यायावतार की टीका में नय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—अनन्तधर्म से अध्यासित वस्तु को अपने अभिप्रेत एक अर्थ से विशिष्ट बतलाने वाले—ज्ञानकोटि में लाने वाले को नय कहते हैं[7]।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र १।६।

२. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।

—प्रमाणनयतत्वालोकालंकार १।२

३. अनेकधर्मपरीतार्थग्राहिका बुद्धिः प्रमाणम्।

—न्यायावतार पृ० ८२। स्वयंभूस्त्रोत्र श्लोक ६५।

४. सधर्मेणेव साध्यस्य, साधर्म्यादविरोधतः,
स्याद्वादप्रविभक्तार्थ—विशेषव्यंजको मतः

—अष्टसाहस्त्री १०।१०६।

५. (देवसेन) नयचक्र पृ० १।
नाना स्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयतीति नयः।

६. एकदेशविशिष्टोऽर्थः नयस्य विषयो मतः।

—न्यायावतार श्लोक २९ पृ० ६४।

७. अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतधर्म-विशिष्टं नयति प्रापयति। संवेदनमारोहयति इति नयः, प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्शः इत्यर्थः।

—न्यायावतार पृ० ७३।

स्याद्वाद मंजरी में कहा है—प्रमाण से स्वीकृत वस्तु के एकदेश के ज्ञान कराने वाले परामर्श को नय कहते हैं।[1] प्रमाण से ग्रहण की गई वस्तुओं का विभिन्न दृष्टि विन्दुओं से अलग अलग धर्मों के अवच्छेद से विश्लेषण करने वाला नय है[2]। विश्लेषण के बिना पदार्थ का तात्त्विक बोध नहीं होता है, इसलिये नयों की आवश्यकता है। जिस प्रकार विज्ञान में वस्तुओं का विश्लेषण करके सत्य का ज्ञान किया जाता है, उसी तरह प्रमाण से ज्ञात वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर अलग अलग धर्म की दृष्टि से विश्लेषण करके एक धर्म से विशिष्ट वस्तु को बतलाने वाला नय है[3]। अथवा विभिन्न दृष्टियों से पदार्थों की परीक्षा करने में नय उपकारक हैं। क्योंकि नय विभिन्न धर्मों से वस्तु का विश्लेषण करते हैं, अतः वे परीक्षा के अंग हैं। न्याय भाष्यकार ने शास्त्र की प्रवृत्ति को तीन प्रकार की बतलाई है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा।[4] शास्त्र की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति परीक्षा बतलाई गई है। उस परीक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग नय है। मल्लिषेण ने कहा है—नय प्रमाण प्रवृत्ति से उत्तर काल में होने वाला वस्तु का परामर्श है। प्रमाण प्रवृत्ति से उत्तरकाल-भावित्व का मतलब है—प्रमाण से ज्ञात वस्तु में परीक्षा के अंग के रूप से विश्लेषण करना[5]। रत्नाकरावतारिका में नय का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—श्रुत प्रमाण से विषयीकृत वस्तु के एक अंश को इतर अंश की उदासीनता के साथ बतलाने वाला ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय है[6]। आचार्य प्रभाचन्द्र ने

---

१. प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः।

—स्याद्वाद मंजरी पृ० २१०।

२. प्रमाण प्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपकः नयः।

—तत्वार्थ राजवार्तिक १।३३।१।

३. स्याद्वाद मंजरी पृ० २१०।

४. न्यायभाष्य १।२। तृतीय सूत्र के ऊपर की भूमिका।

५. स्याद्वाद मंजरी पृ० २१०।

६. येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाणप्रतिपन्नवस्तुनः अंशः अंशौ, अंशा वा विषयीक्रियन्ते, तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयः।

—रत्नाकरावतारिका ७।१ पृ० १२३।

कहा है—प्रतिपक्ष का निराकरण न करते हुए वस्तु के अंश के ग्रहण करने वाले को नय कहा जाता है।[1]

अब प्रश्न यह है कि प्रमाण के सामने नय की स्थिति क्या है? प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही। अंश का ग्रहण प्रमाण तो नहीं हो सकता। यदि प्रमाण नहीं है तो प्रमाणभास है? नहीं, प्रमाणभास भी नहीं है। तो फिर नय क्या है? आचार्य उमास्वाति ने नय को प्रमाण के समान ज्ञान का साधन तो बतलाया है। नय यदि ज्ञान का साधन है, तो उपेक्षणीय तो नहीं है।

नय प्रमाण नहीं है। मुख्यवृत्ति से प्रमाण ही प्रमाणभूत है। नय प्रमाण के अंग हैं। नय प्रमाण के तुल्य हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

'चत्वारि हि प्रवचनायोग-महानगरस्य द्वाराणि—
उपक्रमः, निक्षेपः, अनुगमः, नयश्चेति[2]।'

व्याख्यारूपी महानगर के चार द्वार में से एक चौथा द्वार नय है। नय के बिना वस्तु की व्याख्या या विश्लेषण नहीं हो सकता। विश्लेषण के बिना वस्तु की परीक्षा[3] नहीं हो सकती। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में प्रमाण, नय एवं दुर्नय का भेद स्पष्ट बतलाया है, इससे प्रमाण और नय का भेद स्पष्ट हो जायगा। वे लिखते हैं—

'सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो
मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः।'[4]

---

१. अनिराकृत-प्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायः नयः।
निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः।
—प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ६७६।

२. विशेषावश्यक भाष्य, ९११, ९१२, ९१३, ९१४ तथा गाथा १५०५ व उसके आगे।

३. न्यायभाष्य १।२। 'लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते नवेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा'।

४. अन्ययोग-व्यवच्छेदिका कारिका २८।

वस्तु का कथन तीन प्रकार से हो सकता है— सदेव'—सत् ही है, 'सत्'—सत् है, 'स्यात् सत्'—कथंचित् सत् हैं। प्रथम प्रकार में भाषा में निश्चयात्मकता आ जाने से अन्य धर्मों का निषेध हो जाता है। द्वितीय प्रकार में इतर धर्मों में उदासीनता रखकर अपना कथन बतलाने का मतलब है। तीसरे प्रकार में सत् को किसी अपेक्षा से माना, क्योंकि वह 'स्यात्' पद से युक्त है[1]। इसका मतलब यह हुआ कि अन्य अपेक्षा से और भी धर्म उसमें हैं। पहला प्रकार दुर्नय माना जाता है। दूसरा प्रकार नय है और तीसरा प्रकार प्रमाण याने अनेकान्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि नय प्रमाण नहीं है, तो प्रमाणभास या मिथ्या भी नहीं है। नय प्रमाण के अंश या अंग हैं, क्योंकि प्रमाण नय समुदाय से संपाद्य होता है।[2] वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने से बड़ी जटिल है। उसको जाना जा सकता है, पर कहना कठिन है। अतः उसके एक एक धर्म का क्रमपूर्वक निरूपण किया जाता है। कौन धर्म पहले और कौन धर्म बाद में कहा जाय, इसका कोई नियम नहीं है। वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है, उस समय अन्य धर्म कथन में गौण रहते हैं निषिद्ध नहीं। इस प्रकार नय की आवश्यकता होने से नयवाद का प्रतिपादन हुआ। नय ज्ञान के साधन हैं[3]। नय में पूर्ण सत्य नहीं रहता, सत्य का अंश रहता है।[4] पर है वह सत्य ही, असत्य नहीं है। सत्य का चाहे अंश ही हो, ग्राह्य तो

---

१. नयास्तव स्यात्पदसत्यलांछिता रसोपविद्धा इव धातवः,
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः।
--बृ० स्वयंभूस्तोत्र श्लो० ६५।

२. न चायम् प्रमाणाद् अत्यन्तं दूरयायी, किं तर्हि, तदंशभूत एव। नयसमुदायसंपाद्यत्वात् प्रमाणस्य।
—न्यायावतार सिद्धर्षिगणि टीका पृ० ७३।

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः,
नासमुद्रः समुद्रो व समुद्रांशो यथैव हि॥
—रत्नाकरावतारिका पृ० १२४।

३. नयप्रमाण प्रकृतांजसार्थम्--युक्त्यनुशासन का० ६।

४. तत्त्वांगव्यवहाराद् अयमपि येन प्रमाणतो भजते,
अंशधिया तु नयत्वव्यपदेशः तत्र तन्त्रविदाम्।
--मार्ग परिशुद्धि श्लोक ४।

वह है ही। इसीलिये वस्तु को अलग दृष्टिकोण से अंश अंश करके बतलाने की परंपरा चली। यही नय है। यह ऊपर बतलाया है कि पूर्ण रूप से वस्तु को कहना जटिल होता है। यह बात अन्य विचारधारा से भी सिद्ध होती है।

नय के विकास के बाद के समन्वय का मार्ग खोजने वाले लेखकों ने अनेकान्तवाद को सर्वनयात्मक माना है[1]। हेमचंद्राचार्य ने भी कहा है—

'अन्योन्य-पक्ष-प्रतिपक्षभावाद्,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषान् अविशेषमिच्छन्,
न पक्षपाती समयस्तथा ते॥'[2]

जैन दर्शन सब नयों को समान रूप से मानता है। आचार्य सिद्धसेन भी कहते हैं—सब नय यदि परस्पर सापेक्ष नहीं है तो वे सत्य ज्ञान के प्रतिपादक नहीं हैं। यदि परस्पर सापेक्ष बन जावें तो वे ही सत्य ज्ञान के प्रतिपादक बन जाते हैं।[3] इसी बात को आचार्य समन्तभद्र ने भी बतलाया है—'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्'[4]। न्यायावतार में भी कहा है—जितने नय हैं, उनका समुदाय रूप अनेकान्त दर्शन है[5]। आचार्य मल्लवादी अपने नयचक्र में

---

१. **सर्वनयात्मकत्वाद् अनेकान्तवादस्य.........स्याद्वाद मंजरी, पृ० २३६, विशेषावश्यक भाष्य २ भाग पृ० ८२ कारिका २४८०।**
२. **अन्ययोगव्यवच्छेदिका कारिका ३०।**
३. **सन्मति तर्क गाथा २१।**
तम्हा सव्वे विणया मिच्छादिठ्ठी सपक्खडिबद्धा,
अण्णोण्णनिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा।
सन्मति तर्क १।२१ पृ० ४१६।
४. **अष्टसहस्री कारिका १०८।**
५. **नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्ते श्रुतवर्त्मनि,**
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते।
—न्यायावतार कारिका ३०।
अत्र टिप्पणी—
यावन्तो नयास्तावत् समुदायरूपः अर्हदागमः
सर्वनयमयं जिनमतम् इतिवचनात्। पृ० ९३।

कहते हैं—नयों के समूह को जैन दर्शन या अनेकान्तवाद कहते हैं।[1] विशेषावश्यक भाष्य में भी कहा है—

'इयमिह सव्वणयमयं जिणमयमणवज्जमच्चंतं[2]।'

आचार्य मल्लिषेण और भी स्पष्टता से कहते हैं—

जैन दर्शन सर्वनयात्मक होने के कारण सर्वदर्शनमय है—यह मानने में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि दर्शन अलग अलग नय रूप हैं।[3]

इसी बात को आचार्य सिद्धसेन भी कहते हैं—

'उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥'[4]

जैसे समुद्र में सब नदियें मिल जाती हैं, वैसे ही अनेकान्त में सब दृष्टियें मिल जाती हैं। लेकिन उनमें अनेकान्त नहीं दिखाई पड़ता, जिस प्रकार कि नदियों में समुद्र दिखाई नहीं देता।

अनन्त सत्य के सागर में सब आंशिक सत्यों की नदियों की धाराएं समाविष्ट हैं। प्रारंभ में धाराओं में भेद चाहे होवे, परन्तु अन्त में जाकर तो अखंड अभेद हो ही जाता है। जो सत्य आज टुकड़े टुकड़े रूप में है, वह आगे जाकर अखंड हो जाता है।

इस प्रकार नयों का प्रतिपादन आवश्यक है। सर्वदर्शन नय रूप है—यह हम आगे इसी परिच्छेद में विवेचन करेंगे। जैन दर्शन में इन दृष्टिकोणों या

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय की भूमिका (पं० मालवणिया) पृ० ११।

२. विशेषावश्यक भाष्य कारिका ७२।

३. सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्ध—
मेव, नयरूपत्वात् दर्शनानाम्—
—स्याद्वाद मंजरी, पृ० २३७।

४. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका स्तोत्र में चतुर्थ द्वात्रिंशिका में १५ श्लोक।

दृष्टिभेदों को नय नाम दिया गया है। ये दृष्टिभेद प्रारंभ में अनेकान्त दर्शन में निश्चय और व्यवहार संज्ञा से व्यवहृत हैं। यह शैली अन्य दर्शनों में भी अपनाई गई है। जैसे अनेकान्त दर्शन में सत् के स्वरूप को समझने के लिये इन दो नयों का प्रयोग हुआ है वैसे वेदान्त दर्शन में भी इन शैलियों का खुलकर प्रयोग हुआ है। वेदान्त की पारमार्थिक दृष्टि और व्यवहार दृष्टि, निश्चय एवं व्यवहार-नय का ही संज्ञान्तर है। एकान्त दर्शनों में सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन में ये दो दृष्टियाँ मिलती हैं। उनके नाम हैं—नीतार्थ सूत्र और नेयार्थ सूत्र।[1] नीतार्थ सूत्र याने पारमार्थिक भाषा तथा नेयार्थ सूत्र का अर्थ है व्यवहार भाषा।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने इन दो नयों का आत्मा के विचार में प्रयोग किया है। इस प्रकार सत् के निरूपण की इन दो दृष्टियों को दर्शन जगत् में प्रस्तुत करने और उनके आधार पर दार्शनिक समस्याओं के निराकरण का प्रथम श्रेय अनेकान्त चिन्तन पद्धति को मिलना चाहिये।

नयों के प्रकार

ऐसे तो नय अनन्त माने गये हैं[2], विश्व में जितने दृष्टिकोण हैं, उतने ही नय हैं—ऐसा सिद्धसेन का कथन है। फिर भी शास्त्रों में प्रारंभ में नय के दो दो भेद मिलते हैं—एक तो निश्चय और व्यवहार, दूसरा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। ये दो प्रकार के भेद क्यों हैं, इसका विवेचन हम ऊपर कर आये हैं। संक्षेप में एक अपने स्वयं के विचार के लिये है, दूसरा अन्य के समक्ष प्रतिपादन के लिये। एक दृष्टिकोण यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय एवं व्यवहार का प्रयोग होता है।[3] लौकिक दृष्टि में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक का प्रयोग होता है।

शास्त्रों में दोनों प्रकार के भेद मिलते हैं। स्थानांगसूत्र में सात नय बतलाये हैं[4]। समवायांग सूत्र में अभयदेवसूरि ने निश्चय एवं व्यवहार-दृष्टि से विचार

---

१. अंगुत्तर निकाय दूसरा निपात प्रथम भाग पृ० ६२।

२. सन्मति तर्क १३।४७ (जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति नयवाया)।

३. देवसेन नयचक्र पृ० २५।

४. स्थानांग सूत्र सप्तम स्थान सू० १९।

किया है[1]। वहीं आगे 'णयप्पमाण[2]' कहा है। इसकी व्याख्या में अभयदेवसूरि ने कहा है—'नय प्रमाणम्—नय नैगमादि सात होते हैं। द्रव्यास्तिक—पर्यायास्तिक भेद से, ज्ञान नय क्रिया नय के भेद से, निश्चय व्यवहार नय के भेद से दो प्रकार हैं। वे सब या वे दोनों प्रमाण हैं। वस्तु के तत्त्व का ज्ञान कराने वाला नय प्रमाण है।[3] यहाँ प्रमाण शब्द का अर्थ है, प्रमाण के तुल्य। भगवती सूत्र में महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में कि गुड़ में कितने रस, वर्ण, गंध और स्पर्श है,—निश्चय एवं व्यवहार दोनों नयों से दिया है। लोक में सफेद रंग का विश्लेषण भी यही बताता है, दिखता सफेद है—यह व्यवहार नय है, परन्तु है सात रंगों का समुच्चय, यह निश्चय नय है। इस प्रकार नयों के प्रारम्भ में दो भेद हैं। पहले भेद निश्चय एवं व्यवहार हैं। इनके विषय में विस्तृत विवेचन ऊपर इसी अध्याय में है। संक्षेप में अभेद तथा अनुपचार से वस्तु का निश्चय करने वाला निश्चय नय है, तथा भेद व उपचार से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार नय है[4]।

निश्चय एवं व्यवहार नय की और भी परिभाषाएं प्राप्त होती हैं। स्वाश्रित कथन को निश्चय, पराश्रित कथन को व्यवहार;[5] अभेद को निश्चय और भेद को व्यवहार;[6] भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार;[7] मुख्य को

---

१. समवायांग सूत्र स्थानक ३६ पृ० ६४।

२. वही मूल पृ० ११४।

३. समवायांग सूत्र स्थानक पृ० ११५।

४. निश्चयनयस्तु उपनयरहितः अभेदानुपचारैकलक्षणम् अर्थं निश्चिनोति इति निश्चयः 'नयचक्र पृ० ३१।'

५. आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः।
—समयसार गाथा २७२ की आत्मख्याति टीका पृ० ३५२।

६. निश्चयो अभेद-विषयः। व्यवहारो भेद-विषयः।
—नयचक्र पृ० २५।

७. ववहारो भूयत्थो भूयत्थो देसिदो दुरुद्धणओ।
—समयसार गाथा ११ पृ० २१।

निश्चय, गौण को व्यवहार कहते हैं।[1]

निश्चय एवं व्यवहार इन दो नयों को सब नयों का मूल माना गया है। द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक ये दोनों निश्चय नय के साधन या हेतु हैं। नयचक्र में कहा है—

'णिच्छयववहार-णया मूलिम भेया णयाण सव्वाणं,
णिच्छय-साहण-हेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणत'।[2]

नयों के मूलभूत दो नय—निश्चय व व्यवहार माने गये हैं। निश्चय नय के साधन के कारण द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय हैं। इसका यह भी अर्थ किया जाता है कि निश्चय नय द्रव्याश्रित और व्यवहार नय पर्यायाश्रित हैं।

दूसरा प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का है। इन्हीं का दूसरा नाम द्रव्यास्तिक या पर्यायास्तिक भी है। ये दोनों प्रधान नय हैं। अन्य नय इनके विकल्प हैं। वस्तु-तत्त्व में दो वस्तुएँ हैं—द्रव्य और पर्याय, इन दोनों को विषय करने वाले उपर्युक्त दो नय हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो दो प्रकार सामान्य और विशेष के हैं। क्योंकि प्रमाण की विषयभूत वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। दोनों को विषय करने वाले ये दो नय हैं। तीसरा कोई प्रकारान्तर नहीं है, जिसको विषय करने वाला नय का तीसरा प्रकार हो। गुण को अलग नहीं माना जाता, अत: तद्विषयक तृतीय नय के प्रकार की आवश्यकता नहीं है। यह इसी अध्याय में ऊपर विवेचन है।

द्रव्यार्थिक नय सामान्य-विषयक या द्रव्य-विषयक हैं। पर्यायार्थिक नय विशेष-विषयक या पर्यायविषयक हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय के तीन प्रकार हैं—नैगम, संग्रह एवं व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार प्रकार हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूप और एवंभूत। इस प्रकार नय की संख्या सात हो जाती है। अन्य नयों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें प्रथम चार नय अर्थनय हैं। बाकी तीन शब्द नय हैं। नय वक्ता के अभिप्राय रूप हैं। अभिप्राय अर्थद्वार

---

१. **मुख्योपचार-विवरण-निरस्त-दुस्तर-विनेय-दुर्बोधाः,**
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक ४।

२. **नयचक्र गाथा १८२।**

से या शब्द द्वार से प्रवृत्त होता है। तीसरी गति नहीं है। उनमें जो कोई अर्थ निरूपण में प्रवण हैं, वे सब पहले चार नय में समाविष्ट हो जाते हैं। जो शब्द विचार में चतुर हैं, वे शब्दादि नयत्रय में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार सात ही नय हैं।

जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक और जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

जो सामान्य और विशेष को परस्पर भिन्न मानते हैं, उनका समुदाय रूप नैगम है।[1] अथवा दो पर्यायों का, दो द्रव्यों का या द्रव्य या पर्याय का प्रधान तथा गौण भाव से विवक्षा करने को नैगम कहते हैं।[2] जैसे आत्मा में सच्चैतन्य[3] है। यहाँ पर आत्मा के चैतन्य और सत्त्व दो धर्म बताये हैं, उनमें सत्त्व विशेषणीभूत होने से गौण है और चैतन्य प्रधान है।

सामान्यमात्र को ग्रहण करने वाला परामर्श संग्रह नय कहा जाता है।[1] यह दो प्रकार का है—पर संग्रह और अपर संग्रह। संपूर्ण विशेषों में औदासीन्य रखते हुये सन्मात्र शुद्ध द्रव्य को मानने वाला पर संग्रह[2] है। जैसे—'विश्व एक

---

१. अंत्यान् विशेषान् सकलासाधारणरूपलक्षणान् अवान्तर-विशेषान् च अपेक्षया पररूपव्यावर्तनक्षमान् सामान्याद् अत्यन्तविनिर्लुठित —स्वरूपान् अभिप्रैति—न्यायावतार सिद्धर्षिगणि टीका पृ० ७५।

२. धर्मयोः धर्मिणोः धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं, स नैगमः।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।७।

३. सच्चैतन्यम् आत्मनि इति धर्मयोः।

—वही ७।८।

४. सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः—प्रमाणनय ७।१३।

५. अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च। —वही ७।१४।
अशेषविशेषेषु औदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रम्, अभिमन्यमानः परसंग्रहः। —वही ७।१५।

है, क्योंकि सब सत्त्व में रहता है ।[1] द्रव्यत्वादि अपर-सामान्यों को मानने वाला और उनके भेदों में अपेक्षा रखने वाला अपरसंग्रह है[2]। जैसे—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य एक हैं, क्योंकि उनमें द्रव्यत्वरूप से अभिन्नता है ।[3]

संग्रह नय से विषयीकृत अर्थों का विधिपूर्वक जिस अभिप्राय से विभाग किया जाय, वह व्यवहार है। जैसे—जो सत् है, वह द्रव्य है या पर्याय है ।[4]

अब पर्यायार्थिक नय में ऋजुसूत्र का विचार में लें। ऋजु—वर्तमान क्षण में रहने वाले पर्यायमात्र को प्रधानता से जो दिखाता है, तथा वहाँ विद्यमान द्रव्य को गौण रूप से नहीं मानता हैं, वह ऋजुसूत्र है। जैसे—इस समय सुख का का विवर्त अभी है ।[5]

काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग भेद से शब्द में अर्थ भेद को मानने वाला शब्द नय है। जैसे—सुमेरु पर्वत हुआ था, होता है, होगा। यहाँ काल त्रय में सुमेरु में भेद माना[6]। भिन्न काल वाले शब्द भिन्न ही अर्थ को बतलाते हैं।

---

१. विश्वमेकं सदाविशेषात् । —वही ७।१६ ।

२. द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानः तद्भेदेषु,
गजनीमिलिकाम् अवलंबमानः पुनरपरसंग्रहः ।
—वही ७।१९ ।

३. धर्माधर्माकाशकालपुद्गल-जीव-द्रव्याणामैक्यं, द्रव्यत्वाभेदात् ।
—वही ७।२० ।

४. संग्रहेण गोचरीकृतानाम् अर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं,
येनाभिसंधिना क्रियते स व्यवहारः । —वही ७।२३ ।
यत् सत् तत् द्रव्यं पर्यायो वा इत्यादि । वही ७।२४ ।

५. ऋजु—वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः
ऋजुसूत्रः वही ७।२८ ।
यथा सुखविवर्तः संप्रति अस्ति इत्यादि, वही ७।२९ ।

६. कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः
यथा—बभूव भवति भविष्यति सुमेरुः इत्यादि, वही ७।३२।३३ ।

पर्याय शब्दों में निर्वचन के भेद से भिन्न अर्थ को स्वीकार करने वाला समभिरूढ़ नय है। जैसे इन्द्र शक्र पुरन्दर ये शब्द व्युत्पत्ति के भेद से भिन्न अर्थ के वाचक हैं।[1]

शब्दों का स्वप्रवृत्ति-निमित्त-भूतक्रिया से आविष्ट अर्थ को वाच्यत्व रूप से स्वीकार करने वाला एवंभूत नय है। जैसे इन्दन क्रिया का अनुभव करने वाला इन्द्र है, शकन क्रिया में परिणत शक्र है, शत्रुओं की नगरी को नष्ट करने में प्रवृत्त पुरंदर है।[2]

ये सातों नय अपने धर्म को बतलावें और उससे भिन्न धर्मों का तिरस्कार करें, तब इनका नाम दुर्नय याने नयाभास है। इनके बल से ही प्रभावित अन्य दर्शन हैं—ऐसा अनेकान्तचिन्तकों का अभिप्राय है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन नैगमनय के दर्शन का अनुसरण करने वाले हैं। संग्रह नय के अभिप्राय को रखने वाले अद्वैतवाद और सांख्य दर्शन है। व्यवहारनय का अनुसरण करने वाला नय चार्वाक दर्शन है। ऋजुसूत्र के अभिप्राय से प्रवृत्त बौद्धदर्शन है। इस प्रकार अन्य दर्शन अलग अलग नय का अभिप्राय रखकर चलने वाले हैं। यदि इन सबको मिला दिया जाय याने सभी दृष्टिभेदों को एकत्रित कर लें तो अनेकान्त दर्शन बन जाता है। अनेकान्त दर्शन का फिर किसी से विरोध नहीं। मतलब यह है कि यदि विभिन्न दर्शनवाद एकान्त को छोड़ दें तो कोई विरोध नहीं। एकान्त का अभिप्राय है कि वे 'ही' कहना छोड़कर 'भी' कहना अपना लें तो सब में सामंजस्य एवं समन्वय आ जाता है।

उपर्युक्त नयों का प्रत्येक का मत इस प्रकार है—'गमनं गमः' याने ज्ञान। निश्चित गम को निगम कहते हैं, याने विभिन्न वस्तुओं का ग्रहण। निगम ही नैगम है (स्वार्थे अण् प्रत्ययः)। अथवा जिनका ज्ञान किया जाता है,

---

१. पर्याय-शब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः वही ७।३६।
इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात्पुरंदरः इत्यादिषु यथा।

२. प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।४०, ४१। शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूत-क्रियाविष्टम् अर्थं वाच्यत्वेन अभ्युपगच्छन् एवंभूतः ॥४०॥
यथेन्दनमनुभवन् इन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरंदर इत्युच्यते ॥४१॥

(निगम्यन्ते—नियतं परिच्छिद्यन्ते इति निगमाः) उनको निगम कहते हैं, उनमें होने वाला नियत ज्ञान रूप अभिप्राय नैगम कहाता है। सत्तालक्षण महासामान्य, अवान्तर-सामान्य-द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि। तथा विशेष और अवान्तर विशेष—इन दोनों को जो अत्यन्त भिन्न मानता है, वह नैगम नय है।[1]

अशेष विशेष को तिरोहित करते हुए सामान्य रूप से जगत् को ग्रहण करने वाला संग्रह है। यह विशेष को नहीं मानते हुये केवल सामान्य को ही मानता है और उसी से व्यवहार करता है।[2]

व्यवहारनय का मत है कि वस्तु जैसी दिखती है, वैसी ही ग्रहण करना चाहिये। अदृष्ट की कल्पना से कोई लाभ नहीं। जो लोक-व्यवहार में आता है, उसका प्रमाण मिलता है, दूसरे का नहीं। इसलिये लोक में अबाधित प्रमाण से सिद्ध, कुछ समय तक रहने वाला जलादि के आहरण की अर्थ क्रिया को करने वाला घटादि ही पारमार्थिक वस्तु है। पूर्वोत्तर काल में होने वाले उसके पर्यायों को मानना उचित नहीं है।[3]

ऋजुसूत्र का मत है कि अतीत काल नष्ट हो गया, अनागत ने अभी आत्मलाभ नहीं किया, वह खरविषाण के समान नहीं है। ये दोनों सकल शक्ति से रहित होने से अर्थ क्रिया करने में समर्थ नहीं है। जो अर्थक्रिया में समर्थ होती है, वही वस्तु है। अर्थक्रिया नहीं होने से भूतकालिक एवं भविष्यत्कालिक वस्तु नहीं है। वर्तमान क्षण में रहने वाली वस्तु ही वस्तु है। वर्तमान क्षण में रहने वाली वस्तु ही समस्त अर्थ क्रिया करती है[4], अतः वही पारमार्थिक है, वह भी निरंश है।

शब्द नय का मत है कि रूढ़ि से जितनी ध्वनियें किसी अर्थ में प्रवृत्त होती है, उन सबका एक ही अर्थ है। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ की विशेषता उनमें नहीं है। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरंदर आदि शब्द एक सुरपति के ही अर्थ को बत-

---

१. न्यायावतार पृ० ७५।

२. न्यायावतार पृ० ७६।

३. स्याद्वादमंजरी पृ० २११-२१२।

४. वही पृ० २१२-२१३।

लाते हैं। इसलिये पर्याय शब्दों का एक ही अर्थ है। जिस प्रकार यह पर्याय शब्दों के एक अर्थ को स्वीकार करता है, वैसे लिंग, संख्या, कारक, काल आदि के भेद से वस्तु में भेद मानता हैं। जैसे तटः, तटी, तटम्।[1]

समभिरूढ़ नय का मत इस प्रकार है—यह पर्याय शब्दों के विभिन्न अर्थ मानता है। यह व्युत्पत्तिजन्य अर्थ को शब्द के अर्थ में समाविष्ट करता है। जैसे ऐश्वर्ययुक्त होने से इन्द्र, शक्तिशाली होने से शक्र और शत्रुओं के पुर को नष्ट करने के कारण पुरन्दर शब्द हैं। इस प्रकार पर्यायवाची शब्दों के अर्थों को व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को मानते हुए विभिन्न बतलाता है।[2]

एवंभूत नय का यह मत है कि—व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ जब वस्तु में है, तभी उस शब्द को उसमें व्यवहृत करता है, सामान्य रूप से नहीं। जैसे—जल लाने के समय स्त्री के मस्तक पर रखा हुआ विशिष्ट चेष्टा वाला ही घट कहलाता है, शेष नहीं। क्योंकि उनमें व्युत्पत्तिनिमित्त जलाहरणादि क्रिया नहीं है। इसलिये, जिस क्षण में वस्तु में व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ लागू होता है, उसी क्षण में वह शब्द उस वस्तु को बताता है, अन्य क्षण में नहीं। यह नय व्युत्पत्ति-निमित्त को लागू होने में विशेष अभिप्राय रखता है।[3]

सप्तभंगी

आचार्य देवसूरि का कहना है कि शब्द सब जगह विधि और निषेधमुख से अपने अर्थ को बतलाता हुआ सप्तभंगी का अनुसरण करता है।[4] तात्पर्य यह

---

१. स्याद्वाद मंजरी २१३।

२. वही पृ० २१३, २१४।

३. वही पृ० २१४।

४. प्रमाणनयतत्त्वालोक ४।१३ (सर्वत्रायं ध्वनिः विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थम् अभिदधानः सप्तभंगीम् अनुगच्छति) यहां सप्तभंगी तरंगिणी कार का भी मत द्रष्टव्य है—
'प्रमाणनयैरधिगमः' इति तत्त्वार्थसूत्रकारः। तत्र अधिगमः द्विविधः स्वार्थः, परार्थश्च। स्वार्थाधिगमो ज्ञानात्मकः मतिश्रुतादिरूपः। परार्थाधिगमः शब्दरूपः। स च द्विविधः—प्रमाणात्मकः, नयात्म-

है कि शब्द अपने अर्थ को बतलाता है, यह सर्वविदित तथ्य है। अर्थ का ठीक तरह से निरूपण करने के लिये विधि एवं निषेध उसे अपनाना पड़ता है। उन्हें अपनाने के बाद वह अर्थ को बतलाता है, तो उसके प्रकार सात ही होते हैं। अर्थ को बतलाने के जो प्रकार रूप वाक्य प्रयोग हैं, वे सात हैं और उनका नाम सप्तभंगी है। विधि और निषेध ये अपेक्षा से अलग अलग कहे जायं तो दो प्रकार हुये। दोनों को मिलाकर एक साथ विधि और निषेध दोनों बतलावें तो ऐसा शब्द हमारे पास नहीं है, जो विधि और निषेध दोनों को बतलावे। इसलिये शब्द के सामर्थ्य के अभाव से विवश होकर हमें कहना पड़ता है कि विधि और निषेध को दोनों को एक साथ हम नहीं कह सकते हैं। इसी को अवक्तव्य नामक तीसरा प्रकार कहते हैं। अवक्तव्य का मतलब यह है कि दोनों प्रकारों की अपेक्षा से शब्द से नहीं कह सकने के कारण अवक्तव्य है याने उसको हम नहीं बतला सकते हैं। ये तीन प्रकार विभाजित करके अलग जोड़ करके कहें तो सात ही विकल्प होते हैं। मूल भंग तीन हैं—विधि, निषेध और अवक्तव्य। गणित के नियमानुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प-भंग सात ही हो सकते हैं। न छह होंगे और न आठ होंगे। जैसे सोंठ मिरच और पीपल के प्रत्येक प्रत्येक तीन विकल्प, तथा द्विसंयोगी तीन विकल्प (सोंठ-मिरच, सोंठ पीपल, मिरच-पीपल) तथा एक त्रिसंयोगी—(सोंठ-मिरच-पीपल मिलाकर)—इस तरह अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। उसी तरह १ सत् २ असत् ३ अवक्तव्य के अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते हैं। (१, २, ३, १–३, २×३, १–२, १–२–३–)।

एक ही वस्तु में विधीयमान और निषिध्यमान अनन्त धर्म माने जाते हैं, तो उनकी दृष्टि से अनन्तभंगी का प्रसंग आता है, अतः सप्तभंगी कैसे हो सकती है,—इस शंका की आवश्यकता नहीं है। विधि एवं निषेध के प्रकार की अपेक्षा से प्रत्येक पर्याय की दृष्टि से वस्तु में अनन्त भी हों, लेकिन सप्तभंगी ही होगी। तात्पर्य यह कि एक एक पर्याय का अवलंबन करने से एक सप्तभंगी होती है। इस तरह अन्यान्य पर्याय का अवलंबन लेकर अलग अलग सप्तभंगियें

कश्च। कात्स्न्यतः तत्त्वार्थाधिगमः प्रमाणात्मकः देशतः तत्त्वार्थाधिगमः नयात्मकः अयं द्विविधो अपि भेदः सप्तधा प्रवर्तते, विधिप्रतिषेधप्राधान्यात्। इयमेव प्रमाणसप्तभंगी नयसप्तभंगीति कथ्यते। सप्तभंगीतरंगिणी। पृ० १ कारिका १।

हो होंगी। मतलब यह है कि भंग तो सात ही होंगे। लेकिन सप्तभंगी अनन्त हो सकती हैं। प्रत्येक पर्याय का आश्रय लेकर शिष्यों के प्रश्न सात ही हो सकते हैं, अतः उत्तर भी सात ही होंगे। प्रश्न भी सात ही तरह के इसलिये होते हैं कि प्रतिपाद्यगत जिज्ञासा सात ही प्रकार की हो सकती हैं। जिज्ञासा भी सात ही तरह की इस कारण होगी कि वस्तु में एक धर्म को लेकर सात प्रकार का ही संदेह उत्पन्न होता है। संदेह भी सात ही इस कारण से होंगे कि अपने विषय-भूत धर्म सात प्रकार के ही हो सकते हैं।[1] अतः सप्तभंगी ही सिद्ध है।

वस्तुतः वस्तु का निज रूप तो वचनातीत—अनिर्वचनीय है। शब्द उसके अखंड आत्मरूप तक पहुँच ही नहीं पाते। कोई विद्वान् उस अनिर्वचनीय—अवक्तव्य अखंड वस्तु को कहना चाहता है, तो पहले उसका अस्तिरूप में वर्णन करता है। पर जब वह देखता है कि इससे वस्तु का पूर्ण रूप वर्णित नहीं हो सकता है तो उसका नास्ति रूप में वर्णन करने की ओर झुकता है। किन्तु फिर भी वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की सीमा को स्पर्श नहीं कर पाता। फिर वह कालक्रम से उभयरूप में वर्णन करके भी उसकी पूर्णता को नहीं पहुँच पाता। तब विवश होकर अपनी तथा शब्द की असामर्थ्य पर खीझकर कह उठता है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[2]।

अर्थात् जिसके स्वरूप की प्राप्ति वचन तथा मन भी कर नहीं कर सकते, वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा है वह, वचन तथा मन का अगोचर, अखंड अनिर्वचनीय अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इस स्थिति के अनुसार वह मूल रूप तो अवक्तव्य है। उसके कहने की चेष्टा जिस धर्म से प्रारम्भ होती है, वह तथा उसका प्रतिपक्षी दूसरा, इस तरह तीन धर्म मुख्य हैं। इन्हीं तीन का विस्तार सप्तभंगी के रूप में सामने आता है। आगे के भंग वस्तुतः स्वतंत्र भंग नहीं हैं, वे तो प्रश्नों की अधिकतम संभावना के रूप हैं।

यदि भंगों के साहित्यिक इतिहास की ओर ध्यान दें तो विश्व की प्राचीन-तम पुस्तक ऋग्वेद के नारूदीय सूक्त[3] में भंगों का कुछ आभास मिलता है।

---

१. **प्रमाणनयतत्त्वालोक ४४।३७ से ४४२ तक।**

२. **तैत्तिरीय उपनिषद् २।४।१।**

३. **ऋग्वेद (नासदीय सूक्त) मंडल १० सूक्त १२९।**

उक्त सूक्त के ऋषि के समक्ष दो मत थे। कोई जगत् के कारण को 'सत्' कहते थे, और कोई 'असत्'। इस प्रकार ऋषि के समक्ष जब यह सामग्री उपस्थित हुई, तब इन्होंने कह दिया कि वह सत् भी नहीं है असत् भी नहीं है। उनका यह निवंधपरक उत्तर भी एक पक्ष में परिणत हो गया। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय—ये तीन पक्ष ऋग्वेद से भी प्राचीन सिद्ध हो गये। क्योंकि ऋग्वेद काल में ये प्रचलित थे। उपनिषदों में भी ये प्रकार प्रचलित थे।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'[1]।
'असदेवेदमग्र आसीत्'[2]॥

दोनों में सत् एवं असत् ये दो प्रकार बतलाये हैं। उस समय का वातावरण ही ऐसा था कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप 'सत् असत्, उभय एवं अनुभय' इन चार कोटियों से ही विचार किया जाता था।

बौद्ध दर्शन में माध्यमिक के मत में भी चार कोटि मानी गई हैं, लेकिन वे निषेधमुख से हैं—

'नसन् नासन् न सदसन् न चाप्यनुभयात्मकम्,
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः'[3]।

बौद्धों में भी उस समय चार कोटि प्रचलित थीं।

उपनिषदों के समय में जब आत्मा या ब्रह्म को परमतत्व मान कर विश्व को उसी का प्रपंच मानने की प्रवृत्ति शुरू हुई। तब यह स्वाभाविक था कि अनेक विरोधों की भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बने। परिणामतः आत्मा या ब्रह्म और ब्रह्मरूप विश्व को ऋषियों ने अनेक विरोधी धर्मों से अलंकृत किया। परन्तु जब उन विरोधों के तार्किक समन्वय में भी उन्हें संतोष नहीं मिला, तब उसे वचनागोचर—अवक्तव्य बताकर अनुभवगम्य कह दिया। यदि इस प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाय तो—

---

१. छांदोग्योपनिषत् ६।२।

२. वही ३।१९।१।

३. भारतीय दर्शनों का समन्वय पृ० १२३ में उद्धृत है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[1]।
'सदसद्वरेण्यम्'[2]॥

आदि उपनिषद् वाक्यों में किसी एक ही धर्मी के परस्पर विरोधी दो धर्मों को स्वीकार किया गया है। विधि और निषेध दोनों पक्षों को विधिमुख से यहाँ कहा गया है।

ऋग्वेद के ऋषि ने दोनों विरोधी पक्षों को अस्वीकृत करके निषेधमुख से तीसरे अनुभय पक्ष को उपस्थित किया है। और उपनिषदों के ऋषियों ने दोनों विरोधी धर्मों को स्वीकृति द्वारा उभयपक्ष का समन्वय कर विधिमुख से चौथे उभय भंग का आविष्कार किया। जब परमतत्त्व को इन धर्मों का आधार मानने पर भी विरोधों की गंध आने लगी तो अंत में उन्होंने दो मार्ग ग्रहण किये। जिन धर्मों को दूसरे लोग स्वीकार करते थे, उनका निषेध कर देना, अर्थात् ऋग्वेद की तरह अनुभय पक्ष का अवलंबन लेकर उत्तर दे देना कि न वह सत् है और न वह असत् है—यह प्रथम मार्ग हुआ। जब इसी निषेध को 'नेति नेति' के चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया, तब उसमें से फलित हो गया कि वह अवक्तव्य है। यह दूसरा मार्ग हुआ।

इस चर्चा का फलितार्थ यह कि जब विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं, तब उसके उत्तर में तीसरा पक्ष तीन प्रकार से हो सकता है—(१) उभय विरोधी पक्षों को स्वीकार करने वाला (उभय) (२) उभय पक्ष को निषेध करने वाला (अनुभय) (३) अवक्तव्य। इनमें से तीसरा प्रकार दूसरे का विकसित रूप है। अतएव अनुभय और अवक्तव्य को एक ही भंग समझना चाहिये।

इतनी चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के समय तक (१) सत् (विधि) (२) असत् (निषेध) (३) सदसत् (उभय) (४) अवक्तव्य (अनुभय)—ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे। इन चार पक्षों की परंपरा बौद्ध त्रिपिटक से भी सिद्ध होती है। भगवान बुद्ध के समयपर्यन्त एक ही विषय के चार विरोधी पक्ष उपस्थित करने की शैली दार्शनिकों में प्रचलित थी।

---

१. कठोपनिषत् १।२०।
२. मुण्डकोपनिषत् २।१।

त्रिपिटकगत संजय वेलाठ्ठिपुत्त के मत के वर्णन से भी यही सिद्ध होता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि भगवान् बुद्ध ने प्रश्नों को अव्याकृत इसलिये कहा कि वे उन 'प्रश्नों' के उत्तर 'हाँ' या 'न' में नहीं देना चाहते थे। जबकि महावीर ने अस्ति आदि चारों पक्षों का समन्वय करके सभी पक्षों को भेद से स्वीकार किया है। महावीर ने स्याद्वाद और संजय बेलाट्ठिपुत्त के भंग-जाल में इतना अन्तर है कि स्याद्वाद प्रत्येक भंग का स्पष्ट रूप से नयवाद और अपेक्षावाद से समर्थन कर निश्चय करता है और संजय कोई निश्चय नहीं करता है, तथा अज्ञानवाद में कर्तव्य की इतिश्री समझता है।[1]

जैन आगमों में भी कई पदार्थों के वर्णन के लिये विधि, निषेध, उभय, अनुभय के आधार पर विकल्प किये हैं। जैसे (१) आत्मारंभ (२) परारंभ (३) तदुभयारंभ (४) अनारंभ।[2] इससे यह फलित होता है कि महावीर के समय पर्यन्त विधि आदि अनुभयपर्यन्त उक्त चार पक्ष स्थिर हो चुके थे, और संभवतः उन्हीं पक्षों का महावीर ने समन्वय किया होगा। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद के निम्नलिखित मौलिक भंग फलित होते हैं—

(१) स्यात् सत् विधि),

(२) स्यात् असत् (निषेध),

(३) स्यात् सत् स्यात् असत् (उभय),

(४) स्यादवक्तव्य (अनुभय)।

इस चार भंगों में से अंतिम भंग अवक्तव्य दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है (१) प्रथम के दो भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके (२) प्रथम के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके। इनमें से प्रथम रूप की स्थिति ऋग्वेद-कालीन और दूसरे रूप की स्थिति उपनिषत्कालीन प्रतीत होती है। जैन आगमों में स्याद्वाद के भंगों में जो अवक्तव्य को तीसरा स्थान दिया गया, वह इतिहास की दृष्टि से संगत मालूम होता है। इसका अनुकरण आचार्य

---

१. सूत्रकृतांग २।१।६।

२. भगवतीसूत्र अभयदेवीयवृत्ति पृ० ५६४-५६६।

उमास्वाति[1] सिद्धसेन[2] आदि ने किया और अवक्तव्य को चौथा स्थान देने का अनुसरण आचार्य देवसूरि मल्लिषेण[3] आदि ने किया। आचार्य समन्तभद्र[4] एवं

---

१. तदुभयपर्याये ...... वा आदिष्टं द्रव्यं ....न वाच्यम् सदसदितिवा तत्त्वार्थभाष्य ५।३१ पृ० १२०।

२. अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं,
वयणाविसेसाइयं दव्वमवत्तव्वयं पडई।

—सन्मति तर्क १।३६ पृ० ४४२।

अस्यास्तात्पर्यार्थः—अर्थान्तरभूतः पटादि : निजोघटः ताभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां सदसत्वं घटवस्तुन: प्रथमद्वितीयभंगनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति प्रथम-द्वितीयो भंगो १-२। यदा तु द्वाभ्यामपि युगपत् तद्वस्तु अभिधातुमभीष्टं भवति, तदा अवक्तव्य-भंगकनिमित्त, तथाभूतस्य वस्तुन अभावात् प्रतिपादकवचनातीतत्वात् तृतीयभंगसद्भावः, वचनस्य वा तथाभूतस्य अभावाद् अवक्तव्यं वस्तु ३—अभयदेवीय टीका पृ० ४४२ गाथा १।३६।

३. स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः।

—स्याद्वादमंजरी पृ० १८१—प्रमाणनय ४।१८।

४. सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासाद् न चेद् न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

तदेवं प्रथमद्वितीयभंगी निर्दिश्य तृतीयादिभंगान् निर्दिशन्ति भगवन्तः—

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यम् अशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषाः त्रयो भंगाः स्वहेतुतः ॥१६॥

—आप्तमीमांसा गाथा १५, १६ अष्ट शती अकलंक भाष्य पृ० १९१ से २०० तक।

यहाँ अवक्तव्य चतुर्थ भंग माना है।

विधिर्निषेधो नभिलाप्यता च त्रिरेकशः त्रिद्विश एक एव।
त्रयो विकल्पाः तव सप्तधामी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥

—युक्त्यनुशासन श्लोक ४६।

यहाँ अवक्तव्य तीसरा भंग माना है।

कुन्दकुन्द[1] ने दोनों मतों का अनुसरण किया। दोनों आचार्यों ने किसी एक पक्ष में प्रतिबद्धता नहीं मानी।

सिय अत्थि, सिय नत्थि, सिय अवत्तव्वा—ये तीन भंग भगवतीसूत्र में मिलते हैं[2]। वहाँ भगवतीसूत्र में जो आत्मा का वर्णन आया है, उसमें स्पष्ट रूप से सातों भंगों का प्रयोग किया गया है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय गाथा १४ में सात भंगों के नाम गिना कर 'सत्तभंग' शब्द का भी प्रयोग किया है। इसमें अंतर इतना ही है कि भगवती सूत्र में अवक्तव्य भंग को तीसरा स्थान दिया है, जबकि कुन्दकुन्द में उसे पंचास्तिकाय[4] में चौथे नंबर पर रखकर प्रवचनसार गाथा २३ (दूसरा अध्याय) में इसे तीसरे नंबर पर ही रखा है। उत्तर-कालीन दिगंबर श्वेतांबर तर्क ग्रंथों में इस भंग का दोनों ही क्रम से उल्लेख मिलता है।

आगम में इसका जो स्वरूप है, उसे बताने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है। महावीर के प्रधान शिष्य गौतम का उनसे प्रश्न है कि रत्नप्रभा पृथिवी आत्मा है या अन्य है? उत्तर में महावीर ने कहा--

(१) रत्नप्रभा पृथिवी स्यादात्मा है।

(२) रत्नप्रभा पृथिवी स्यादात्मा नहीं है।

---

१. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।
—पंचास्तिकाय गाथा १४।

यहाँ अवक्तव्य चतुर्थ भंग है।
अत्थित्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्व मिदि पुणो दव्वं
पज्जायेण दु केणवि तदुभय मादिठ्ठ मण्णं वा।
—प्रवचनसार गाथा २।२३।

यहाँ अवक्तव्य तृतीय भंग है।

२. भगवती सूत्र १२।१०।४६६।

३. जैन तर्क वार्तिक प्रस्तावना पृ० ४४-४६।

४. पंचास्तिकाय गाथा १४।

(३) रत्नप्रभा पृथिवी स्यादवक्तव्य है ।

उक्त तीन भंगों को सुनकर गौतम ने पूछा—एक ही पृथिवी को आप इतने प्रकार से किस अपेक्षा से कहते हैं। महावीर ने कहा—

(१) आत्मा 'स्व' के आदेश से आत्मा है।
(२) 'पर' के आदेश से आत्मा नहीं है।
(३) तदुभव के आदेश से अवक्तव्य है ।

गौतम ने रत्नप्रभा पृथिवी की तरह सभी पृथिवियों, स्वर्ग, सिद्धशिला के के बारे में पूछा और वैसे ही उत्तर मिला। परमाणु पुद्गल के प्रश्न के बारे में भी पूर्ववत् उत्तर दिया गया। परन्तु जब द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, पंचप्रदेशी, षट्प्रदेशी स्कन्धों के बारे में प्रश्न पूछे गये तो क्रमशः छह, तेरह, उन्नीस, बाईस और तेईस भंगों से उपेक्षा के कारणों के साथ उत्तर दिया गया[1]।

इस सूत्र के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विधिरूप और निषेध रूप इन दो विरोधी धर्मों को स्वीकार करने में ही स्याद्वाद के भंगों का उत्थान होता है। दो विरोधी धर्मों के आधार पर विवक्षा भेद से शेष भंगों की रचना होती है। सभी भंगों के लिये अपेक्षा कारण अवश्य होना चाहिये। इन्हीं अपेक्षाओं की सूचना के लिये प्रत्येक भंग के वाक्य में 'स्यात्' पद रखा जाता है। स्याद्वाद के भंगों में से प्रथम चार अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य भंगों की सामग्री तो महावीर के सामने थी। उन्हीं के आधार पर प्रथम चार भंगों की योजना महावीर ने की है। शेष भंगों की योजना महावीर की अपनी है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों में अवक्तव्य का तीसरा स्थान है।

स्याद्वाद के भंगों में सभी विरोधी धर्म युगलों को लेकर सात भंगों की (न कम, न अधिक की) जैन दार्शनिकों द्वारा की गई योजना का कारण यह है कि भगवती सूत्र के ऊपर संकेत किये गये सूत्र में त्रिप्रदेशी और उससे अधिक प्रदेशी स्कंधों के भंगों की संख्या में मूल सात भंग वे ही हैं, जो जैन दार्शनिकों ने अपने सप्तभंगी के विवेचन में स्वीकृत किये हैं। जो अधिक भंग संख्या बताई गई है, वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं, किन्तु एकवचन, बहुवचन

---

१. भगवती सूत्र १२।१०।४६९।

के भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेद कृत संख्या वृद्धि को निकाल दिया जावे तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं। अतएव वर्तमान में प्रचलित स्याद्वाद के सप्तभंग आगमों में कहे गये सप्तभंगों के ही रूप हैं। सकलादेश एवं विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभंगों में विद्यमान है। आगमों के अनुसार प्रथम तीन भंग सकलादेशी भंग हैं और शेष विकलादेशी हैं।[1]

स्यात्-शब्द का प्रयोग सापेक्षता में होता है। जहाँ सापेक्षता नहीं है, वहाँ स्यात् के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। अतः स्यात् का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं। आगम में सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है। कहीं भी गुणों के साथ नहीं।[2] यद्यपि धर्म का अर्थ गुण सामान्यतः होता है। इसे शक्ति भी कहते हैं। तो भी धर्म और गुण में अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं, या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं—जैसे नित्यानित्यत्व, एकत्वानेकत्व, सत्वासत्त्व आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन और सुख आदि।

सप्तभंगी में स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' यह शब्द अस् धातु का विधिलिङ् का रूप नहीं है। इसको अनेकान्तदर्शन में निपात अव्यय माना है। जैसे अन्य विद्वान् 'अस्ति' को अस्ति का प्रतिरूपक याने तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मानते हैं। उसी तरह 'स्यात्' यह शब्द अनेकान्त दर्शन में तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। इसके अनेकान्तादिविधिविचारादि बहुत अर्थ हैं।[3] परन्तु यहाँ विवक्षा के वश से अनेकान्त अर्थ लिया जाता है[4]। यह

---

१. युक्त्यनुशासन ४७ श्लोक व्याख्या, पृ० १०८ से १११ तक।

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग ४ पृ० ५०१।

३. हेमकोष।

४. वाक्येष्वनेकान्तद्योती, गम्यं प्रति विशेषणम्,
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि।
—आप्तमीमांसा श्लोक १०३।

सर्वथात्व का निषेधक है, और कथंचिद् अर्थ में यह ग्रहण किया जाता है[1]।

'स्यात्' कथा रोचक है, महत्त्व की है, ऐतिहासिक है, क्रान्तिकारी है तथा चिन्तन के और विज्ञान के क्षेत्र में यह एक स्थापित प्रणाली है। इसमें विरोधों का परिहार तो है ही, इसके अतिरिक्त ज्ञान के नये क्षितिजों की खोज भी है। सत्य का अन्वेषक आँख से ही नहीं देखता, आँख के पार भी बहुत कुछ देखता है। वह अपनी ही खोज पर अटल नहीं रहता, दूसरों के द्वारा स्थापित खोज परंपराओं का भी उपयोग करता है। जो विज्ञानी ज्ञान को उस तक ले आया है, उसके आगे वह बड़ी सजगता से पाँव रखता जाता है। 'स्यात्' के वैभव को सन्देह की दृष्टि से पाना असंभव है। उसे पक्षातीत और संप्रदायातीत चित्त से ही पाया जा सकता है। कोई प्रणाली किसी एक धर्म या संप्रदाय की है, इसलिये जीवन में उसका प्रवेश निषिद्ध करना संकीर्णता है। अब वह पुरानी बातें, पुराने रागद्वेष सब टूट चुके हैं। अब हम विज्ञान के युग में हैं। हमको तटस्थ भाव से सारी स्थिति और सारे आयाम देखना चाहिये।

सप्तभंगी के प्रत्येक भंगों में एवकार का प्रयोग किया जाता है। यहाँ एवकार विशेषण से संगत है और उसका अर्थ अयोगव्यवच्छेदक है। जैसे शंख सफेद ही है। यहाँ 'ही' विशेषण—सफेद से संगत है और शंख में सफेदपना के अयोग-असंबंध का व्यवच्छेदक है। अयोगव्यवच्छेदक का परिष्कार है—'उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावा प्रतियोगित्वम्'। प्रकृत में शंख को उद्देश्य करके पांडुरत्व का विधान है। अतः उद्देश्यता शंख में रहती है। उद्देश्यावच्छेदक शंखत्व, उसका समानाधिकरण जो अभाव, वह पाण्डुरत्व का अभाव नहीं है, अपितु अन्याभाव है। उसका अप्रतियोत्वि पांडुरत्व में रहता है। इसका शाब्दबोध इस प्रकार है—शंखत्व के समानाधिकरण अभाव का अप्रतियोगि पाण्डुरत्व वाला शंख है।

इस प्रकार सप्तभंगी का मार्ग बहुत साफ हो जाता है। अब सप्तभंगी के अर्थ को देखिये।

---

१. अत्र सर्वथात्वनिषेधकः अनेकान्तिको द्योतक. कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः।

—पंचास्तिकाय गाथा १४ के ऊपर अमृतचंदसूरि टीका पृ० ३०।

'सप्तानां भंगानां वाक्यानां समाहारः-समूहः सप्तभंगी'[1]।

सप्तभंगी के सात वाक्य रहते हैं—

(१) विधिकल्पना	स्यादस्त्येव घटः ।
(२) प्रतिषेधकल्पना	स्यान्नास्त्येव घटः ।
(३) क्रमतोविधिप्रतिषेध कल्पना	स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव घटः ।
(४) सहविधिप्रतिषेध कल्पना	स्यादवक्तव्यः एव घटः ।
(५) विधिकल्पना, सहविधि-प्रतिषेध कल्पना	स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः ।
(६) प्रतिषेधकल्पना, सहविधि प्रतिषेधकल्पना	स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्य एव घटः ।
(७) क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रति-षेध कल्पना	स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः[2]

यह सत् असत् की सप्तभंगी है। इसी प्रकार एकत्व अनेकत्व, नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्मों की भी सप्तभंगी होती है। वस्तु के धर्म अनन्त हैं। धर्म धर्म के प्रति सप्तभगी होती है। इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियें होती हैं। अनन्त भंग नहीं होते।

प्रथम द्वितीय भंग के वाक्यार्थ इस प्रकार हैं—स्यादस्त्येव घटः, इसका वाक्यार्थ है—स्वरूप से अवच्छिन्न जो अस्तित्व, उसका आश्रय घट है। स्यान्ना-स्त्येव घटः—इसका वाक्यार्थ है—पर रूप से अवच्छिन्न नास्तित्व का आश्रय घट है। घटादिरूप वस्तु में स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व स्वीकार करना ही चाहिये। अन्यथा वस्तु का वस्तुत्व ही नष्ट हो जायगा। स्वरूप से

---

१. तद्धितार्थोत्तरपदसमासे च (२।१।५१) इस सूत्र से समाहार अर्थ में 'संख्यापूर्वोद्विगुः (२।१।५२) इस सूत्र से द्विगु समास होने पर 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' (वार्तिक १५५६) इस वार्तिक से स्त्रीलिंग होने पर 'द्विगोः' (४।१।२१) सूत्र के ङीप् प्रत्यय होने पर 'सप्तभंगी' रूप बनता है।

२. अष्टसहस्त्री पृ० १२४, १२५। कारिका १४।

उपादान और पर रूप से अमोहन—इन दोनों से ही वस्तु का वस्तुत्व व्यवस्थापित किया जाता है।[1]

घट का स्वकाल वर्तमान काल, पर काल अतीतादि, तो स्वकाल में अस्ति और परकाल में नास्ति। घट का स्वकाल में की तरह परकाल में भी सत्त्व माना जाय तो प्रतिनियत कालत्व के अभाव से घट का नित्यत्व हो जायगा। पर काल में की तरह स्वकाल में भी असत्त्व हो तो सकल काल में असंबंधित्व के प्रसंग से अवस्तुत्व की आपत्ति आवेगी। क्योंकि वस्तुत्व का मतलब है कुछ काल से संबंधित्व होना। इसी प्रकार घट घटत्व से है, पटत्व से नहीं है। मृद् द्रव्य से है, सुवर्ण द्रव्य से नहीं है। स्वक्षेत्र से है, पर क्षेत्र से नहीं है। स्वकाल से है, पर काल से नहीं है। इस प्रकार सब पर्यवसित हो जाता है।[2]

यहाँ यह बोध प्रकार है—घटः घटत्वेन अस्ति, यहाँ घटत्वेन यहाँ तृतीय का अर्थ है अवच्छिन्नत्व, उसका धात्वर्थ में अन्वय होता है। अस् धातु का अर्थ है अस्तित्व, सत्त्व में पर्यवसित है। आख्यात का अर्थ है—आश्रयत्व। अतः घटत्व से अवच्छिन्न अस्तित्व का आश्रय घट है—यह प्रथम वाक्य से

---

१. 'वाक्यार्थो निरूप्यते। स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घटः, इत्यस्य स्वरूपाद्यवच्छिन्नास्तित्वाश्रयो घटः, पररूपाद्यवच्छिन्ननास्तित्वाश्रयो घटः, इति च बोधः। घटादिरूपे वस्तुनि स्वरूपादिना सत्त्वम्, पररूपादिना असत्त्वम् अंगीकरणीयम्। अन्यथा वस्तुत्वस्यैव विलयापत्तेः, स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थाप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।'
—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ३८।

२. तथा घटस्य स्वकालो वर्तमान कालः, परकालः अतीतादिः तत्र स्वकाले अस्ति, परकाले नास्ति। घटस्य स्वकाल इवकाले अपि सत्त्वे प्रतिनियतकालत्वाभावेन नित्यत्वमेव स्यात्। परकाले इव स्वकाले अपि असत्त्वे सकलकालासंबधित्व प्रसंगेन अवस्तुत्वापत्तिः। कालसंबंधित्वमेव हि वस्तुत्वम्। एवञ्च घटो घटत्वेन अस्ति, पटत्वेन नास्ति, मृद्द्रव्येण अस्ति, सुवर्णद्रव्येण नास्ति, स्वक्षेत्रादस्ति, परक्षेत्रान्नास्ति, स्वकालादस्ति, परकालान्नास्ति इति पर्यवसन्नम्।
—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ४५।

बोध होता है। अभाव अधिकरण स्वरूप रहता है, अतः पटत्वावच्छिन्न अभाव घटस्वरूप है। यहाँ नञ् के साथ कही हुई अस् धातु का अभाव अर्थ है। आश्रयत्व आख्यात का अर्थ है। इस रीति से तादृशअभावाश्रय घट है। इस बोध में भी घट तादृश अभावात्मक ही सिद्ध होता है। क्योंकि अभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है। तीसरे वाक्य में मृद्द्रव्य पद की तृतीया का अवच्छिन्नत्व अर्थ है। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिये।[1]

यहाँ सत्त्व स्वरूप से अवच्छिन्न है, तथा असत्व पर रूप से अवच्छिन्न है—इस प्रकार अवच्छेदक के भेद से उन दोनों में भेद की सिद्धि होती है। अन्यथा स्वरूप से जैसे सत्त्व है, पर रूप से भी सत्त्व की प्रसक्ति होगी, तथा पर रूप से जैसे असत्त्व हैं, वैसे स्वरूप से भी असत्त्व की प्रसक्ति आवेगी।[2]

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि घट का स्वरूप क्या है? और पर रूप क्या है? इसका उत्तर यह है कि 'घटः' इस ज्ञान में प्रकार रूप से भासमान घटपद में रहने वाली शक्यता का अवच्छेद की भूत सदृश परिणाम लक्षण वाला जो घटत्व नाम का धर्म है, वह घट का स्वरूप है और पटत्वादिक पररूप है। घटत्वेन सत्त्व के समान पटत्व रूप से भी घट का सत्त्व माना जाय तो घट पट हो जायगा, तथा पटत्वेन असत्त्व के समान घटत्व से भी

---

१. 'अत्रायं बोधप्रकारः—घटत्वेनेति तृतीयार्थः अवच्छिन्नत्वं, धात्वर्थे अन्वेति। अस् धात्वर्थः अस्तित्वं सत्त्वपर्यवसन्नम् आख्यातार्थं आश्रयत्वम्। तथा च घटत्वावच्छिन्नास्तित्वाश्रयो घट इति प्रथमवाक्याद् बोधः। अभावानामधिकरणात्मकतया पटत्वावच्छिन्नाभावस्य घटस्वरूपत्वात्। तत्र नञ्समभिव्याहृतास्धातोः अभावः अर्थः, आश्रयत्वम् आख्यातार्थः, इति रीत्या तादृशाभावाश्रयो घट इति बोधे अपि तादृशाभावात्मकत्वमेव घटस्य सिध्यति, अभावानामधिकरणात्मकत्वात्। तृतीय वाक्ये मृद्द्रव्यपदोत्तरतृतीयाया अवच्छिन्नत्वमर्थः। एवमग्रे अपि बोधा ऊह्याः।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ४५।

२. स्वरूपाद्यवच्छिन्नम् सत्त्वम्, पररूपाद्यवच्छिन्नम् असत्वम्, इति अवच्छेदकभेदात् तयोः भेदसिद्धेः। अन्यथा स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वप्रसंगात् पररूपेणेव स्वरूपेणापि-असत्त्वप्रसंगाच्च।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ११।

असत्त्व माना जाय तो सर्वथा शून्यता की आपत्ति आयेगी, जैसे शशविषाण शून्य है, वैसे घट भी शून्य रूप हो जायगा ।[1]

घट में पट का अभाव माना जाय तो ठीक है, नहीं तो याने पट का अभाव नहीं माना, इसका अर्थ यह होगा कि पट के अभाव का अभाव माना, तो इसका यह अर्थ होगा कि घट को पट मान लिया, यह प्रत्यक्षबाधित है। इससे बचने के लिये घट में पट का अभाव मानना ही होगा ।

अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के बीच में जो विवक्षित है, वह घट का स्वरूप, उससे भिन्न उसका पररूप। वहाँ विवक्षित रूप से घट है, अविवक्षित रूप से घट नहीं है। यदि विवक्षित भी रूप से घट नहीं है, तो शशविषाण के समान घट का असत्त्व ही प्राप्त होता है। यदि अविवक्षित भी रूप से घट है तो नामादि का परस्पर भेद नहीं होगा। नामादिक निक्षेप माने गये हैं।[2]

अथवा घटत्वावच्छिन्न घटों के बीच जैसा घट लिया जाता है, उसमें रहने वाला स्थूलता आदि धर्म घट का स्वरूप है, इतर घटादि व्यक्ति में रहने वाला धर्म पररूप है। वहाँ उस रूप से घट है, पर रूप से नहीं है। स्वरूप से भी अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो पहले के समान असत्त्व प्रसंग आवेगा ।

---

१. तत्र घटस्य किं स्वरूपम ? किं वा पररूपम् ? इति चेत्-घटइत्यादिबुद्धौ प्रकारतयाभासमानो घटपदशक्यतावच्छेदकीभूतसदृशपरिणामलक्षणो यो घटत्वनामको धर्मः, स घटस्य स्वरूपम्, पटत्वादिकं पररूपम्। तत्र घटत्वादिरूपेणेव पटत्वादिरूपेणापि घटस्य सत्त्वे घटस्य पटात्मकत्वप्रसंगः, पटत्वादिना इव घटत्वादिना अपि असत्त्वे सर्वथा शून्यत्वापत्तिः शशविषाणवत् ।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ३९ ।

२. अथवा नाम-स्थापना-द्रव्य भावानां मध्ये यद्विवक्षितं तत्स्वरूपं, इतरत् पररूपम्। तत्र विवक्षितेन रूपेण अस्ति, अविवक्षितेन नास्ति। यदि विवक्षितेनापि रूपेण नास्ति, तर्हि शशविषाणवत् असत्त्वमेव घटस्य प्राप्नोति। यदि च अविवक्षितेनापि रूपेण अस्ति, तदा नामादीनां परस्परभेदो न स्यात् ।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ३९ ।

इसी प्रकार आगे भी समझना है। तादृश घट उपर्युक्त पररूप से भी है, तब सब घटों में ऐक्य हो जायगा तथा सामान्याश्रय जो पृथक्-पृथक् व्यवहार हैं, उनका विलोप हो जायगा ।[1]

अथवा उसी घट विशेष में, जो कालान्तर में रहने वाला है, पूर्व और उत्तर की कुसूल तक की कपालादि की अवस्था का जो समूह है, वह पररूप है, उसके बीच में रहने वाला घट-पर्याय स्वरूप है। उस रूप से है, इतर रूप से नहीं है। यदि कुसूल तक के कपालादि स्वरूप से भी घट है, तो घट की अवस्था में घट पर्याय के समान कुसूल पर्याय की भी उपलब्धि हो जायगी। कुसूल अवस्था में भी घट की सत्ता मानी जाय तो घटपर्याय की उत्पत्ति एवं विनाश के लिये गुरु प्रयत्न की विफलता हाथ लगेगी, क्योंकि कुसूल अवस्था में बिना प्रयास के घट उत्पन्न हो जायगा। यदि बीच में रहने वाली घट पर्याय से भी यदि घट नहीं है, तो उस समय जल लाना आदि उसका कार्य नहीं प्राप्त किया जायगा ।[2]

---

१. अथवा घटत्वावच्छिन्नेषु मध्ये यादृशघटः परिगृह्यते, तन्निष्ठस्थौल्यादिधर्मः स्वरूपं, इतरघटादिव्यक्तिवृत्तिधर्म एव पररूपम्। तत्र तादृशस्वरूपेण अस्ति, पररूपेण नास्ति। स्वरूपेणापि अस्तित्वानंगीकारे असत्त्वप्रसंगः पूर्ववत्। एवमग्रे अपि। तादृशो घटो यदि निरुक्तपररूपेणापि अस्ति, तदा सर्वघटानाम् ऐक्यप्रसंगात् सामान्याश्रयव्यवहारविलोपापत्तिः।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ४० ।

२. 'अथवा तस्मिन्नेव घटविशेषे कालान्तरावस्थायिनि पूर्वोत्तरकुसूलान्त कपालाद्यवस्थाकलापः पररूपम्, तदन्तरालवृत्तिघटपर्यायः स्वरूपम्, तेनरूपेण अस्ति, इतररूपेण नास्ति। यदि कुसूलान्तकपालाद्यात्मनापि घटः अस्ति, तदा घटावस्थायां घटपर्यायस्येव कुसूलादिपर्यायस्यापि उपलब्धिप्रसंगः। कुसूलाद्यवस्थायामपि घटसत्त्वे घटपर्यायोत्पत्तिविनाशार्थं गुरुप्रयत्नवैफल्यं च। एवं अन्तरालवृत्तिघटपर्यायात्मनापि यदि घटो नास्ति, तदा तत्काले जलाहरणादिरूपं तत्कार्यं नोपलभ्यते।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ४० ।

इस प्रकार घट का स्वद्रव्य मृद्द्रव्य और परद्रव्य सुवर्णादि है। घट मृत्स्वरूप से है, सुवर्ण स्वरूप से नहीं है। घट का स्वद्रव्य के स्वरूप से जैसे सत्त्व माना जाता है, वैसे ही परद्रव्य के स्वरूप से भी सत्त्व माना जाय तो 'घट मिट्टी का है, सोने का नहीं है' ऐसा नियम नहीं हो सकेगा। अतः द्रव्य में प्रतिनियम का विरोध आवेगा।[1]

यहाँ एवकार जो प्रयोग किया जा रहा है, उसका मतलब यह है कि घट में जैसे स्वरूप से अस्तित्व है, वैसे नास्तित्व भी हो जाय—इस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिये 'स्यादस्त्येव' यहाँ एवकार का प्रयोग होता है। अतः स्वरूप से घट में अस्तित्व ही है, नास्तित्व नहीं है, यह निश्चित किया जाता है।

उमास्वाति ने कहा है—'प्रमाणनयैरधिगमः'[2] अधिगम दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ—स्वार्थाधिगम ज्ञानात्मक मतिश्रुतरूप है। परार्थाधिगम शब्द रूप है। यह परार्थाधिगम दो प्रकार का है—प्रमाणात्मक और नयात्मक। संपूर्ण रूप से तत्त्व के अर्थ का ज्ञान प्रमाणात्मक है। एक देश से तत्त्व के अर्थ का ज्ञान नयात्मक है। ये दोनों भी भेद सात प्रकार से प्रवृत्त होते हैं। यही प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी कही जाती है। इन्हीं का दूसरा नाम सकलादेश एवं विकलादेश है।

सप्तभंगी का लक्षण सप्तभंगीतरंगिणी में इस प्रकार दिया गया है—

'प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वेसति एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मक-धर्मप्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यसमुदायत्वम्'[3]।

---

१. एवं घटस्य स्वद्रव्यं मृद्द्रव्यं, परद्रव्यं सुवर्णादि। घटो मृदात्मना अस्ति, सुवर्णाद्यात्मना नास्ति। घटस्य स्वद्रव्यात्मनेव परद्रव्यात्मनापि सत्त्वे घटो मृदात्मको न सुवर्णात्मक इति नियमो न स्यात्। तथा च द्रव्यप्रतिनियमविरोधः।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ४३।

२. तत्त्वार्थसूत्र १।६।

३. सप्तभंगीतरंगिणी पृ० १ से ५ (परमश्रुतप्रभावक मंडल, बम्बई, १९१६)।

इस परिष्कार में अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि कोई दोष नहीं है। अस्तु।

अब सकलादेश और विकलादेश का मतलब इस प्रकार है—

'एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वम् सकलादेशत्वम्'।

'अभेदवृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे—एकधर्मात्मकवस्तुविषयबोधजनकं वाक्यं विकलादेशः।'[1]

इसका मतलब यह है कि प्रमाण से स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तु का कालादि आठ के द्वारा अभेदवृत्ति के प्राधान्य से या अभेदोपचार से यौगपद्य से प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश कहा जाता है। सार यह है कि अनन्त-धर्मात्मक वस्तु का यौगपद्य याने संपूर्ण रूप से प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश है। इससे विपरीत याने संपूर्ण रूप से प्रतिपादन नहीं करने वाला वाक्य विकलादेश है।[2] विकलादेश में अभेदवृत्ति या अभेदोपचार नहीं रहता। अपितु क्रम से भेदवृत्ति और भेदोपचार रहता है। क्योंकि एक शब्द अनेक अर्थ को बतलाने में समर्थ नहीं रहता। यह नयात्मक है।[3]

अब विचारणीय यह है कि अभेदवृत्ति या अभेदोपचार कैसे होता है? द्रव्यार्थत्व का आश्रय लेने पर द्रव्यत्व से अव्यतिरिक्त होने से द्रव्य में अभेद-

---

१. **सप्तभंगीतरंगिणी पृ० २५ से २६।**

२. **प्रमाणनयतत्त्वालोक ४।४४।**
'प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिः अभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। तद्विपरीतस्तु, विकलादेशः।

—प्रमाणनय तत्त्वालोक सूत्र ४।४४, ४५

३. **अयमाशय :—यौगपद्येन अशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिः अभेदप्राधान्यवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्। विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारात् भेदप्राधान्याद् वा तदभिधत्ते, तस्य नयात्मकत्वात्।**

—स्याद्वादमंजरी, पृ० १९२।

वृत्ति होती है। पर्यायार्थत्व का आश्रय लेने पर परस्पर भिन्न होने पर भी एकत्व का अध्यारोप होने से अभेदोपचार किया जाता है। अभेदवृत्ति और अभेदोपचार दोनों का आश्रय नहीं लिया, तब विकलादेश होता है।

एक जीव अस्तित्वादि धर्मों में एक गुण के रूप में अभेदवृत्ति से या अभेदोपचार से निरंश एवं समस्त रूप से कहा जाता है, वह सकलादेश है। एक धर्म रूप वस्तु विषयक बोध के लिये वाक्य कहा जाता है, वह विकलादेश है।

सकलादेश सप्तभंगी प्रमाणसप्तभंगी एवं विकलादेश सप्तभंगी नयसप्तभंगी कही जाती है।[1]

अब विचार इसका करना है कि क्रम क्या चीज है और यौगपद्य क्या है। जब अस्तित्वादि धर्मों की कालादि से भेद विवक्षा होती है, तब एक शब्द की अनेक अर्थ को बताने में शक्ति नहीं होने से क्रम रहता है। जब उन्हीं धर्मों का कालादि के द्वारा अभेद से संपन्न स्वरूप कहा जाता है, तब एक भी शब्द से एक धर्म को बतलाने के द्वारा तत्वस्वरूपता को प्राप्त अनेक अशेष धर्मरूप वस्तु का प्रतिपादन करना संभव हो जाता है, अतः यौगपद्य है। प्रथम में अभेदोपचार है, दूसरे में अभेदवृत्ति है।

कालादि आठ ये हैं—(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) संबंध (५) उपकार (६) गुणिदेश (७) संसर्ग (८) शब्द।

(१) स्यात् जीवादि वस्तु है, यहाँ पर जिस काल में अस्तित्व है, उसी काल में शेष अनन्त धर्म वस्तु में एक स्थान पर है, उन्हीं की काल से अभेदवृत्ति है।

(२) जो ही अस्तित्व का तद्गुणत्व आत्मरूप है, वही अन्य अनन्तगुणों का भी है, इस प्रकार आत्मरूप से अभेदवृत्ति है।

---

१. इयं सप्तभंगी द्विविधा—प्रमाणसप्तभंगी नयसप्तभंगीचेति।……
……सकलादेशः प्रमाणवाक्यं, विकलादेशः नयवाक्यम्।
—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० १६।

(३) जो ही आधार रूप अर्थ द्रव्य अस्तित्व का है, वही अन्य पर्यायों का भी है, इस प्रकार अर्थ से अभेदवृत्ति है।

(४) जो ही अविष्वग्भाव कथंचित् तादात्म्य स्वरूप संबंध अस्तित्व का है, वही शेष विशेष का भी है, इस तरह संबंध में अभेदवृत्ति है।

(५) जो ही उपकार अस्तित्व से अपने में अनुरक्तत्व का है, वही शेष गुणों से भी है, इस तरह उपकार से अभेदवृत्ति है।

(६) जो ही गुणी का संबंधी देश क्षेत्र लक्षण अस्तित्व का है, वही अन्य गुणों का भी है, इस तरह गुणिदेश से अभेदवृत्ति है।

(७) जो ही एक वस्तु के स्वरूप से अस्तित्व का संसर्ग है, वही शेष धर्मों का भी हैं, इस तरह संसर्ग से अभेदवृत्ति है।

यहाँ अविष्वग्भाव में अभेद प्रधान रहता है और भेद गौण रहता है। संसर्ग में तो भेद प्रधान रहता हैं और अभेद गौण रहता है। यह दोनों में भेद है।

(८) जो ही 'अस्ति' यह शब्द अस्तित्व धर्मातमक वस्तु का वाचक है, वही शेष अनन्तधर्मात्मक का भी, इस तरह शब्द से अभेदवृत्ति है।[1] इस प्रकार

---

१. 'कः पुनः क्रमः, किं च यौगपद्यम् ? यदास्तित्वाविधर्माणां कालादिभिः भेदविवक्षा, तदा एकशब्दस्य अनेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः, यदातु तेषामेव धर्माणां कालादिभिः अभेदेन वृत्तम् आत्मरूपम् उच्यते, तदा एकेनापि शब्देन एकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकताम् आपन्नस्य अनेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसंभवात् यौगपद्यम्।

—स्याद्वादमजरी पृ० १६२।

यदा तावदस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिः भेदविवक्षा, तदा अस्त्यादिरूपैकशब्दस्य नास्तित्वाद्यनेकधर्मबोधने शक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेंव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपम् उच्यते, तदा एकेनापि अस्त्यादिशब्देन अस्तित्वादिरूपैकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकताम् आपन्नस्य सकलधर्म-स्वरूपस्य प्रतिपादनसंभवात् यौगपद्यम्।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ३३।

पर्यायार्थिक नय को गौण और द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से अभेदवृत्तिउपपन्न होती है। द्रव्यार्थिक को गौण माना और पर्यायार्थिक को प्रधान माना तो गुणों की अभेदवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि समान काल में एक स्थान पर नाना गुण नहीं रहते। यदि रहें तो तदाश्रय के भेद का प्रसंग आवेगा। अनेक गुणों का सबंधी आत्मरूप भी भिन्न होगा, आत्मरूप को अभिन्न माना तो भेद का विरोध होगा। स्वाश्रय अर्थ भी अनेक होंगे, अन्यथा अनेकगुणाश्रयता से विरोध आवेगा। संबंध का भी संबंधि भेद से भेद दिखाई देता है, अतः अनेक संबंधियों से एक जगह संबंध घटित नहीं होगा। उन्हीं के द्वारा किये हुए प्रतिनियत रूप उपकार भी अनेक हैं, अनेक उपकारियों से क्रियमाण एक उपकार का विरोध आवेगा। गुणिदेश प्रति गुण में भिन्न है। उसका अभेद मानने पर भिन्न अर्थ के गुणों का भी गुणिदेश से अभेद आवेगा। संसर्ग का भी प्रतिसंसर्गी से भेद है। उससे अभेद रहने पर संसर्गी भेद से विरोध आवेगा शब्द प्रतिविषय नाना है। सब गुण एक शब्द वाच्य है, ऐसा माना तो तब अर्थ एक शब्द से ही वाच्य होते रहेंगे और इससे अन्य शब्द व्यर्थ हो जायेंगे[1]।

इस तरह पूर्वोक्त प्रकार के तत्त्व की दृष्टि से अस्तित्वादिक की एक ही वस्तु में अभेदवृत्ति असंभव है, अतः कालादि के द्वारा भिन्न स्वरूपों का अभेदोपचार किया जाता है। तो इस प्रकार इन अभेदवृत्ति तथा अभेदोपचार के द्वारा प्रमाण से प्रतिपन्न अनन्तधर्मात्मक वस्तु का समान समय में ही अभिधायक जो वाक्य है, वह सकलादेश या प्रमाण वाक्य है।[2]

नय से विषयीकृत वस्तु के धर्म का भेद वृत्ति के प्राधान्य से भेदोपचार से क्रम से जो अभिधायक वाक्य है, वह विकलादेश कहा जाता है। उसका नाम नय है।[3]

उपर्युक्त कथन का सार यह है कि पर्यायार्थिक नय के गौणत्व की ओर द्रव्यार्थिक नय के प्राधान्य की विवक्षा करने पर कालादि के द्वारा अभेदवृत्ति हो सकती है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय के गौणत्व की और पर्यायार्थिक नय के

---

१. स्याद्वादमंजरी पृ० १९३। सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ३८।
२. वही पृ० १९४। वही पृ० ३८।
३. वही पृ० १९४। वही पृ० ३९।

प्राधान्य की विवक्षा की जाय तो गुणों की अभेदवृत्ति होना संभव नहीं है, अतः अभेदोपचार किया जाता है। प्रथम मामले में एक धर्म को बतलाने के द्वारा धर्मी वस्तु का बोध किया जाता है। उस धर्म का और उस धर्मी में रहने वाले समस्त धर्मों का उसमें तादात्म्य सम्बन्ध से अस्तित्व है। अतः धर्मी के बोध होने से उसमें रहने वाले सब धर्मों से अभेदवृत्ति हो जाती है। लेकिन द्वितीय मामले में द्रव्य की विवक्षा न होकर केवल धर्म की विवक्षा होती है। एक धर्म की अन्य धर्मों से अभेदवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः अभेदोपचार किया जाता है। यह विवक्षा पर निर्भर है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं। सब धर्मों का कथन पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से एक समय होना सम्भव नहीं है। सब धर्म नहीं कहे जायं तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप का कथन संभव नहीं हो सकेगा। सब धर्म के साथ धर्मी के कहने के द्वारा ही वस्तु का वास्तविक पूर्ण कथन होता है और इसी से वह ज्ञान प्रमाण माना जाता है। वस्तु का एक देश से याने एक धर्मावच्छेद से निरूपण तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप का अवबोधक नहीं होने से प्रमाण नहीं होता है। अतः वस्तु के अशेष स्वरूप का कथन पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सम्भव नहीं होता है और पदार्थ का पूर्ण स्वरूप बतलाने के लिये उसका संभवकरण आवश्यक है। द्रव्यार्थिक नय के प्राधान्य की विवक्षा में कोई दिक्कत नहीं आती लेकिन जब द्रव्यार्थिक को गौण मानकर पर्यायार्थिक नय के प्राधान्य की विवक्षा की जाय तो वहाँ वस्तु के पूर्ण रूप को बतलाने के लिये मार्ग निकालने की आवश्यकता है। इसीलिये आचार्यों ने उस विवक्षा में अभेदोपचार का रास्ता निकाला है।

किन्तु एक बात फिर भी है कि यह रास्ता अभेदोपचार के द्वारा निकाला गया है। उपचार लक्षणा है। अतः लक्षणार्थ के आरोपित अर्थ होने के कारण उसमें लाया गया प्रमाणत्व भी आरोपित होगा। अन्तर यह है कि लक्षणा में असद्भूत अर्थ का आरोप किया जाता है। जैसे 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द में नहीं रहने वाले 'गंगातट' अर्थ को गंगा शब्द में आरोपित करते हैं। परन्तु यहाँ जो धर्म, जिस वस्तु में आरोपित करते हैं, वे धर्म उस वस्तु में सद्भूत हैं। यहाँ उपचार केवल उनको एक साथ कहने में है। इस पर्यायार्थिक की विवक्षा में वस्तु के पूर्ण कथन न हो सकने के कारण यह अभेदोपचार है। विवक्षा व्यक्ति के अधीन है। द्रव्यार्थिक के प्रधान की विवक्षा न करते यदि

कोई व्यक्ति पर्यायार्थिक के प्राधान्य की विवक्षा से कहे, उसके लिये यह मार्ग है। अतः अभेदोपचार के द्वारा वस्तु का पूर्ण कथन प्रमाण ही है, औपचारिक प्रमाण नहीं है, क्योंकि वस्तु के सब सद्भूत अर्थों का ही कथन उसमें किया गया है।

इस प्रकरण में दो मत मिलते हैं। एक मत आचार्य मलयगिरि, सिद्धसेन, हेमचन्द्र आदि का है। दुसरा मत है आचार्य अकलंकदेव का।

दूसरे मत में सकलादेश एवं विकलादेश दोनों सप्तभंगियों में 'स्यात्' पद लगाया जाता है। सकलादेश में सम्पूर्ण वस्तु के कथन की विवक्षा है। विकलादेश में वस्तु के एक धर्म के कथन की विवक्षा है। इनके मत में 'एव' कार के प्रयोग से अन्य धर्मों का तिरस्कार न मालूम पड़े, इस भ्रम की निवृत्ति के लिये स्यात् पद का प्रयोग आवश्यक है। सब कथन विवक्षा के अधीन हैं। स्यात् पद का प्रयोग दोनों जगह करते हैं।[1]

प्रथम मत में आचार्यों का दृष्टिकोण यह कि स्यात् पद अनेकान्त का द्योतक है। अतः स्यात् पद के लगाने से ही अशेष धर्मों का कथन हो जाता है और फलतः उस वाक्य को प्रमाण माना है।[2] आचार्य मलयगिरि का कहना है कि 'स्यात्' पद के प्रयोग से अशेष धर्मों का संग्रह हो जाता है और वह संपूर्ण वस्तु का ग्राहक होने से प्रमाण है। आचार्य सिद्धसेन का भी

---

१. ननु च सामान्यार्थविच्छेदेन विशेषणविशेष्यसंबंधावद्योतनार्थे एवकारे सति तदवधारणात् इतरेषां निवृत्तिः प्राप्नोति, नैष दोषः। अत्रापि अतएव स्याच्छब्दप्रयोगः कर्तव्यः 'स्यादस्त्येव जीव' इत्यादि (विकलादेश)। कोऽर्थः? एवकारेण इतरनिवृत्तिप्रसंगे 'स्वात्मलोपात् सकलो लोपो मा विज्ञायि इति वस्तुनि यथावस्थितं विवक्षितधर्मस्वरूपं तथैव द्योतयति स्यात्शब्दः। 'विवक्षितार्थवागंगम्' (स्याच्छब्द) इतिवचनात्।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ४।४२, पृ० २६०-१।

२. आवश्यकनिर्युक्ति मलय टीका पृ० ३७१। सन्मतितर्क पृ० ४४५, ४४६। अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक २८, स्याद्वादमंजरी पृ० २०० से २१०।

यही मत है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी स्पष्ट यही बात कही है। उनका कथन है—

'सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो,
मीयेत दुर्नीति-नय प्रमाणैः ।'

'सदेव' यह कथन दुर्नय है। 'सत्' यह कहना नय है। तथा 'स्यात् सत्' यह बतलाना प्रमाण है। सन्मति तर्क के महान टीकाकार अभयदेवसूरि दोनों ही पक्ष को मानते हैं।[1]

इस बात को आधुनिक विद्वान् डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने भी माना है कि 'स्यात् पद होने से शेष (उक्त धर्म से शेष-अवशिष्ट) धर्मों का संग्रह इनमें भी हो जाता है।'[2] और यह प्रमाण है।

दोनों ही मत अपनी अपनी जगह हैं। दोनों विवक्षा के अधीन है। अतः दोनों में विरोध नहीं है। द्वितीय मत में नय सप्तभंगी में भी स्यात् पद का प्रयोग होता है। प्रथम मत में विकलादेश याने नय सप्तभंगी में स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं होगा।

विवक्षा व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। यदि कोई पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से विचार करे तो वहाँ अभेदोपचार के आश्रय की आवश्यकता लगती है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि सप्तभंगी अनेकान्त को प्रकट करने की शैली है। इस शैली से प्रत्येक भंग के द्वारा वस्तु के अनेक धर्म कहे जाने चाहिये, अन्यथा वस्तु का पूर्ण रूप ज्ञात न होने से वह कथन प्रमाण नहीं हो सकता। गंभीर विचार से हम देखते हैं कि शब्द की शक्ति परिमित है। एक ही शब्द या वाक्य वस्तु के पूर्ण रूप को बतलाने में असमर्थ है। ऐसी स्थिति में ऐसा रास्ता निकालना आवश्यक है कि वस्तु का पूर्ण स्वरूप उससे ज्ञात हो सके। इसके लिये द्रव्यार्थिक नय का आश्रय लेकर अभेदवृत्ति से धर्मी के पूर्ण ज्ञान का यत्न किया है। धर्मी में तादात्म्य संबंध से रहने वाले धर्मों में से विवक्षीकृत एक धर्म का शेष धर्मों से अभेदवृत्ति के द्वारा धर्मी में ऐक्य

---

१. सन्मति तर्क अभयदेवसूरि टीका पृ० ४४६।

२. जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार) पृ० ५०९।

स्थापित कर उस धर्म के द्वारा सब धर्मों से युक्त धर्मी का कथन किया जा सकता है। यह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से ही संभव है। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विवक्षा की तो द्रव्य दृष्टि के अभाव में धर्मी का विचार अलग रह जाता है और केवल पर्यायों का ज्ञान हम करते हैं। तब एक धर्म से सब धर्मों का ग्रहण संभव नहीं होने से अभेदोपचार किया जाता है। पर्यायार्थिक दृष्टि में पूर्ण वस्तु के कथन के लिये इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। यदि अभेदोपचार नहीं किया जाय तो पूर्ण वस्तु का कथन नहीं हो सकेगा। इसके मूल में प्रयत्न यह है कि किसी प्रकार पूर्ण वस्तु का कथन किया जा सके। यह इसलिये भी आवश्यक है कि शब्दों की शक्ति सीमित है। कोई भी शब्द वस्तु को पूर्ण रूप से बतलाने में असमर्थ है। शब्द की इस शक्ति सीमितता के कारण यह मार्ग अपनाना पड़ता है। अन्यथा अनेकान्त वस्तु का कथन ही संभव नहीं होगा।

एक विचार करने की बात यह है कि स्यात् शब्द से ही अनेकान्त का बोध हो जाता है, फिर अस्ति आदि पद का कथन अनर्थक है, ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि स्यात् शब्द से सामान्यतः अनेकान्त का बोध न होने पर भी विशेष रूप से बोध कराने के लिये अस्ति आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे कहा है—

'स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्यावबोधने,
शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये।'

जैसे 'यह वृक्ष न्यग्रोध है'—इस वाक्य में वृक्षत्व रूप से सामान्यतः न्यग्रोध का भी अवबोध हो ही जाता है, फिर भी विशेष रूप से न्यग्रोधत्व के रूप से न्यग्रोध का अवबोध कराने के लिये न्यग्रोध पद का प्रयोग किया जाता है। यदि स्यात् शब्द को द्योतक माना तो फिर अस्ति आदि पद का प्रयोग न्याय प्राप्त ही हो जाता है। अस्ति आदि शब्द से उक्त अनेकान्त को स्यात् शब्द प्रकट करता है (द्योतन करता है)। स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं हो तो सर्वथा एकान्त के व्यवच्छेद के साथ अनेकान्त का ज्ञान संभव नहीं होगा। जिस प्रकार एवकार के कथन नहीं होने से विवक्षित अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती, उसी तरह यहां भी स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं किया तो विवक्षित अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकेगा।[1]

१. सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ३०-३१।

तृतीय अध्याय

(अ) भारतीय दर्शनों में अनेकान्त-विरोधी तर्क

भारतीय दर्शनों में अनेकान्त की रचना कुछ ऐसी विचित्र-सी है कि ऊपरी तौर पर देखने से उसमें भ्रम उत्पन्न होते हैं। कोई वस्तु है भी, और नहीं भी है—यह कथन अन्य दर्शनकारों को हृदयंगम नहीं होता। किसी भी वस्तु में अस्तित्व के साथ नास्तित्व को भी धर्म रूप से बतलाना ऊपरी सतह वाले मानसिक धरातल पर जमता नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्म दिखते हैं। विरोधी धर्म एक साथ एक ही वस्तु में कैसे रह सकते हैं? इसी तर्क के साथ अन्य तर्क भी अनेकान्त के विरोध में प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण है कि अन्य दर्शनकारों को अनेकान्तवाद सदोष मालुम पड़ा, और उन्होंने इसमें तर्क द्वारा कई दोष उद्‌भावित किये हैं।

सर्वप्रथम हम आचार्य धर्मकीर्ति को लेते हैं। ये विद्वान् बौद्ध आचार्य हैं और उपलब्ध साहित्य के अनुसार अनेकान्त-विरोधी तर्क के सर्वप्रथम प्रस्तोता हैं। आचार्य धर्मकीर्ति का 'प्रमाण-वार्तिक' प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें आप लिखते हैं—

> 'एतेनैव यदह्रीकाः किमप्यश्लीलमाकुलम्।
> प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात्॥
>
> सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
> चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥
>
> अथास्त्यतिशयः कश्चिद् येन भेदेन वर्तते।
> स एव दधि सोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं परम्॥

सर्वात्मत्वे च सर्वेषां भिन्नौ स्यातां न धी-ध्वनी।
भेदसंहारवादस्य तदभेदादसंभवः ॥१[1]

इस पर मनोरथनंदि की टीका इस प्रकार है—

'एतेन सांख्यमतनिराकरणेनैव अह्रीका दिगंबरा यत् 'स्यादुष्ट्रः दधि वस्तुत्वात्, न वा स्यादुष्ट्रो विशेषरूपतया' इति किमप्ययुक्ततया हेयोपादेयविषयापरिनिष्ठानाद् आकुलं प्रलपन्ति, तदपि प्रतिक्षिप्तम्; एकान्तस्य भेदस्य संभवात्।

आकुलत्वमेव आख्यातुमाह—सर्वस्य वस्तुनः उभयरूपत्वे स्वपररूपत्वे सति तद्विशेषस्य दध्येव दधि न उष्ट्रः, उष्ट्र एव उष्ट्रः न दधि इत्यस्य भेदस्य निराकृतेः दधि खाद इति चोदितः नियोज्यः किम् उष्ट्रं नाभिधावति ?

अथ अस्ति दध्नः सकाशात् उष्ट्रस्य अतिशयो विशेषः कश्चिद् येन विशेषेण चोदितेन भेदेन प्रतिनियमेन दधिशब्दाद् दध्न्येव, उष्ट्रशब्दाद् उष्ट्र एव प्रवर्तते ? एवं तर्हि स विशेषः एव अन्यत्र असंभवी उष्ट्रो विशेषो दधिलक्षणो अन्यत्र वस्तुनि नास्ति इति सर्वं वस्तु अनुभयं न स्वपररूपम्, किन्तु परमेव परस्मात्।

किं च सर्वेषां भावानां सर्वात्मत्वे च भिन्नौ धी-ध्वनी न स्याताम्, एकविषयत्वात्। तयोर्धीध्वन्योः अभेदात् भेदसंहारवादस्य असंभवः स्यात्। उष्ट्राद् भिन्नं दधि' इति भेदव्यवहारः, 'दध्येव उष्ट्रः' इति च तदात्मतोपसंहार-व्यवहारश्च बुद्धिशब्दयोरभेदान्न स्यात्। न हि बुद्धिशब्दयोः भेदव्यवहारः युक्तः, तन्निबंधनत्वात् तस्यातदभावे अपि भावे च अतिप्रसंगात्। भेदप्रतीत्योः भावात् तादात्म्योपसंहारश्च कथम्, तदधीनत्वात् तस्य।[2]

इसका मतलब है कि सांख्यमत के खंडन करने से ही दिगम्बर लोगों का अयुक्त और आकुल प्रलाप खंडित हो जाता है। यदि सभी तत्त्वों को उभयरूप

---

१. प्रमाणवार्तिक कारिका १८१-१८५ पृ० ३१३-१४। तथा इस पर मनोरथनन्दी की टीका भी देखिये (बौद्धभारती वाराणसी सन् १९६८)।

२. प्रमाणवार्तिक मनोरथनंदि टीका पृ० ३१४-१५।

याने स्वपररूप माना जाता है, तो पदार्थों में विशेषता का अर्थात् प्रतिनियत-स्वभावता का निराकरण हो जाने से, दही खाओ' इस आज्ञा से पुरुष ऊँट को खाने के लिये क्यों नहीं दौड़ता ? क्योंकि दही स्वस्वरूप दही की तरह पर-ऊँट रूप भी है। यदि दही और ऊँट में कोई विशेषता या अतिशय है, जिसके कारण दही शब्द से दही में तथा ऊँट शब्द से ऊँट में ही प्रवृत्ति होती है, तो वही विशेषता सब जगह मान लेनी चाहिये। ऐसी स्थिति में तत्त्व उभयात्मक न रहकर अनुभयात्मक याने स्वपररूपात्मक नहीं है, अर्थात् प्रतिनियत स्वरूप वाला सिद्ध होगा।

यदि सबको सबस्वरूप मान लिया तो बुद्धि और शब्द भिन्न नहीं होंगे, क्योंकि एक ही विषय होने से एक शब्द से ही सब अर्थों का बोध होगा। बुद्धि और ध्वनि के अभेद होने से 'ऊँट से दही भिन्न है'—यह भेद व्यवहार तथा 'दही ही ऊँट है'—इस तदात्मकता को निवारण करने वाला व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसलिये सबको सब स्वरूप मानना योग्य नहीं है।

इस सम्पूर्ण कथन का विश्लेषण करने से आचार्य धर्मकीर्ति के दो तर्क सामने आते हैं—

(१) एक तो वस्तु को स्वपररूप मानने से बड़ी कठिनाई पैदा होना।

(२) दूसरे सब को सब स्वरूप मानने से बुद्धि और शब्द भिन्न नहीं हो सकेंगे।

आचार्य वसुबंधु बौद्ध दर्शन के योगाचार मत के विद्वान् थे। ये आचार्य असंग के छोटे भाई थे। इन्होंने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' बीस और तीस कारिकाओं में लिखी, जिसका संस्कृत मूल 'विंशिका' और त्रिंशिका' नाम से डा० लेवी ने पेरिस में प्रकाशित किया है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' विज्ञान वाद का सर्वमान्य और नितान्त प्रामाणिक ग्रंथ है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में आचार्य वसुबन्धु दोष बतलाते हैं—

'सद्भूता धर्माः सत्तादिधर्मैः समाना भिन्नाः चापि, यथा निर्ग्रन्थादीनाम्। तन्मतं न समंजसम्। कस्मात्? न भिन्नाभिन्नमते अपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोः दोषभावात्·········उभयोः एकस्मिन् असिद्धत्वात्।····भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूतं न्यायासिद्धं सत्याभासं गृहीतम्।'[1]

---

१. **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि परि० २ खं० २।**

इसका अभिप्राय यह है कि दो धर्म (विरुद्ध) एकधर्मी में असिद्ध है। भिन्नाभिन्न की कल्पना सद्भूत नहीं है, न्याय से असिद्ध है और सत्याभासरूप है।

इस कथन में आचार्य ने बातें दो बतलाई हैं, तर्क एक ही प्रस्तुत किया है। तर्क यह है—

दो धर्म (विरुद्ध) एक धर्मी में असिद्ध हैं, क्योंकि विरोध आता है। इसी प्रकार भेदाभेद की कल्पना भी विरोध के कारण असद्भूत है।

आचार्य कर्णकगोमि प्रमाणवार्तिक की स्ववृत्ति के टीकाकार हैं। उनका कथन है—

'तेन योऽपि दिगंबरो मन्यते— नास्माभिः घटपटादिषु एकं सामान्यम् इष्यते, तेषामेकान्तभेदात्, किन्तु अपरापरेण पर्यायेण अवस्थासंज्ञितेन परिणामि द्रव्यम्, एतदेव च सर्वपर्यायानुयायित्वात् सामान्यमुच्यते। तेन युगपदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् इति वस्तुनो लक्षणम्। तदाह-घटमौलिसुवर्णार्थी......।'

सोऽप्यत्र निराकृत एवं द्रष्टव्यः, तद्वति सामान्यविशेषवति, वस्तुनि अभ्युपगम्यमाने अत्यन्तम् अभेदभेदो स्याताम्......। अथ सामान्यविशेषयोः कथंचिद् भेद इष्यते। अत्राप्याह-अन्योन्यमित्यादि। सदृशासदृशात्मनोः सामान्यविशेषयोः यदि कथंचिद् अन्योन्यं परस्परं भेदः, तदा एकान्तेन तयोः भेद एव स्यात्......दिगंबरस्यापि तद्वति वस्तुनि अभ्युपगम्यमाने अत्यंतभेदाभेदौ स्याताम्।...... मिथ्यावाद एव स्याद्वाद।[1]

इसका आशय यह है कि सामान्य और विशेष-उभयस्वरूप वस्तु के मानने पर या तो अत्यन्त अभेद रहेगा, या अत्यन्त भेद। कथंचिद् भेद नहीं हो सकता। अतः स्याद्वाद मिथ्यावाद है।

आचार्य कर्णकगोमि का तर्क यह है—वस्तु सामान्य और विशेष उभयात्मक नहीं हो सकती। सामान्य और विशेष में परस्पर भेद माना तो एकान्त रूप से उनमें भेद ही होगा। परस्पर विरोधी धर्म एक स्थान पर नहीं रह सकते।

---

१. प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका पृ० ३३२-४२।

प्रज्ञाकर गुप्त आचार्य धर्मकीर्ति के शिष्य थे। उनका ग्रन्थ प्रमाणवार्तिकालंकार है। उसमें वे अनेकान्त दर्शन के उत्पाद, व्यय ध्रौव्यात्मक परिणामवाद में दोष उद्भावित करते हैं—

'अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत् सदिष्यते।
एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावावियोगतः॥

यदा व्ययः तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते ?
पूर्वप्रतीते सत्त्वं स्यात् तदा तस्य व्ययः कथम् ॥

ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्वं प्रतीयते।
प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात् सत्वं कुतोऽन्यथा॥

तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः संभवः क्वचित्।
अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत्॥'[1]

उनका अभिप्राय यह है कि जिस समय व्यय होगा, उस समय सत्व कैसे रह सकता है ? यदि सत्व है तो व्ययनाश कैसे हो सकता है ? अतः नित्यानित्यात्मक वस्तु की सम्भावना नहीं है। या तो वह एकान्तरूप से नित्य हो सकती है या एकान्त रूप से अनित्य।

इनका भी इसमें तर्क यही है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य या नित्यत्व एवं अनित्यत्व परस्पर विरोधी होने से एक वस्तु में उनका रहना असंभव है।

अर्चट हेतुबिन्दु के टीकाकार हैं। ये भी वस्तु के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक लक्षण में ही दोष को उद्भावित करते हैं—

'ध्रौव्येण उत्पादव्यययोः विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिणि अयोगात्।'[2]

इसका मतलब यह है कि जिस रूप से उत्पाद और व्यय है, उस रूप से ध्रौव्य नहीं है। जिस रूप से ध्रौव्य है, उस रूप से उत्पाद और व्यय नहीं है। एक धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते।

१. प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० १४२।

२. हेतुबिन्दु टीका पृ० १४६।

इनका भी उपर्युक्त तर्क ही है कि एक वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म नहीं रह सकते।

द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद के बारे में अचेट कहते हैं—

'द्रव्यपर्यायरूपत्वात् द्वैरूप्यं वस्तुनः किल।
तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेदः संज्ञादिभेदतः॥

भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथं न ते॥

न चैवं गम्यते तेन वादो च जाल्मकल्पितः।'[1]

इसका आशय यह है कि द्रव्य और पर्याय में संज्ञा आदि के भेद से भेद मानना उचित नहीं है। भेद और अभेद पक्ष में जो दोष होते हैं, वे दोनों पक्ष मानने पर अवश्य होंगे। परस्पर विरोधी होने से भिन्नाभिन्नात्मक एक वस्तु की संभावना नहीं है। अतः यह वाद दुष्ट-कल्पित है।

इनका तर्क यह है कि भेद व अभेद के प्रत्येक पक्ष में जो दोष आते हैं, वे दोनों में भी आवेंगे। भेदाभेदात्मक एक वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें विरोध है।

श्री जयराशिभट्ट एक विशेष प्रकार के असाधारण विद्वान् हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वोपप्लवसिंह' हैं। इसमें इन्होंने प्रमाण, प्रमेय, आदि तत्त्वों का उपप्लव ही निरूपित किया है। वे अनेकान्त में प्रकार दोष का उद्भावन करते हैं—

एकं हि इदं वस्तु उपलभ्यते। तच्चेदभावः, किमिदानीं भावो भविष्यति? तद्यदि पररूपतया भावः, तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति। यथा पररूपतया भावत्वे अंगीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेशः, तथा अभावत्वे अपिअंगीक्रियमणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात्। अथ पररूपस्य भावः, तदविरोधि तु एकत्वं तस्याभावः। नहि तस्मिन् सति भवान्तस्य अनुपलब्धेः प्रष्टा, अन्यथा हि आत्मनः अपि अभावो भवेत्। अथ आत्मसत्ताविरोधित्वेन स्वात्मनः अभावो न भवत्येव, परसत्ताविरोधित्वात् परस्यापि अभावो न भवति। अथ अपरा-

---

१. हेतुबिन्दु टीका पृ० १०४-१०७।

कारतया नोपलभ्यते, तेन परस्य भावो न भवति, अभावाकारतया व अनुपलब्धेः परस्य अभावः अपि न भवेत् अथ अभावाकारतया उपलभ्यते, तदा भावः अन्यः नास्ति, अभावाकारन्तरितत्वात्, अभावस्वभावावगाहिना अवबोधेन अभाव एव द्योतितो, न भावः....[1] ।

इसका अभिप्राय यह है कि वस्तु एक उपलब्ध होती है। यदि उसे आप अभाव (नास्ति) कहते हैं तो फिर भाव किसको कहेंगे? यदि पररूप से भाव कहेंगे तो घट पट रूप हो जायेगा। जिस प्रकार पररूप से भावत्व स्वीकार करने पर पररूप का अनुप्रवेश होता है, उसी प्रकार अभावत्व के स्वीकार करने पर पररूप का अनुप्रवेश होता ही है। अतः सब सब रूप हो जायेंगे। यदि पररूप का अभाव कहते हैं, तो जब पररूप का अभाव है, तो वह अनुपलब्ध हुआ, तब आप उस पररूप के द्रष्टा कैसे हुए? अन्यथा स्वस्वरूप का भी अभाव होगा। यदि यह कहा जाय कि पररूप से वस्तु नहीं मिलती, अतः पर का सद्भाव नहीं है, तो अभाव रूप से निश्चय नहीं है। अतः पर का अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि पररूप से वस्तु उपलब्ध होती है तो अभावग्राही ज्ञान से अभाव ही सामने रहेगा, फिर भाव का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

इस कथन में इनके तर्क इस प्रकार उपस्थित होते हैं—

(१) वस्तु एक है, अतः उसमें स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व मानना ठीक नहीं है।

(२) पररूप से वस्तु में भाव कहो या अभाव। दोनों ही स्थितियों में वस्तु में पररूप के प्रवेश को रोका नहीं जा सकता।

(३) यदि पररूप का अभाव है और वह वस्तु में अनुपलब्ध है, तो आप उसके द्रष्टा कैसे हो सकते हैं? अनुपलब्ध वस्तु का द्रष्टा कोई भी नहीं हो सकता?

आचार्य शान्तिरक्षित स्वतंत्र माध्यमिक संप्रदाय के आचार्य थे। इन्होंने धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' पर विस्तृत टीका लिखी है। परन्तु इनका मौलिक

---

१. तत्त्वोपप्लवसिंह पृ० ७७-७९। यह एक खंडन ग्रंथ है।

विपुलकाय ग्रथ 'तत्वसंग्रह'[१] है। इस ग्रंथ में स्याद्वाद-परीक्षा[२] नामक एक स्वतंत्र प्रकरण ही है। उसमें ये कहते हैं—

'यदि सामान्य और विशेष रूप एक ही वस्तु है, तो एक वस्तु से अभिन्न होने के कारण सामान्य और विशेष में स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। यदि सामान्य और विशेष परस्पर पर भिन्न हैं और उससे वस्तु अभिन्न है, तो वस्तु में भेद हो जायगा।'

'विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी है, अतः वे एक वस्तु में नहीं रह सकते। नरसिंह और मेचकरत्न आदि दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वे सब अनेक अणुओं के समूह रूप हैं, अतः उनका यह स्वरूप अवयवी की तरह विकल्प कल्पित है।[३]

इस कथन में इनके तर्क निम्नलिखित हैं—

(१) एक वस्तु दो रूप वाली नहीं हो सकती।

(२) विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी है, अतः विरुद्ध होने से एक वस्तु में नहीं रह सकते।

आचार्य व्योमशिव प्रशस्तपाद भाष्य को सबसे प्राचीन टीका 'व्योमवती' के लेखक हैं। उदयनाचार्य ने किरणावली में 'आचार्याः' कहकर तथा राजशेखर ने न्यायकंदली में भाष्य के टीकाकारों में सबसे पहले इन्हीं का नाम उल्लिखित किया है।[४]

आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में मणिभद्र ने भी प्रमाण की संख्या के संदर्भ में इनके मत का उल्लेख[५] किया है। अनेकान्त के विषय में व्योमशिव का कथन इस प्रकार है—

---

१. भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० १५५।

२. स्याद्वादपरीक्षा पृ० ४८६।

३. तत्वसंग्रह। जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार) पृ० ५४० से उद्धृत।

४. भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० २१६।

५. षड्दर्शन समुच्चय पृ० ६३ (चौखंभा संस्करण)।

'एकस्मिन् धर्मिणि विधिप्रतिषेधौ न, विरोधात्। मुक्तो अनेकान्तत्वेन समुक्तोऽपि संसार्यपि स्यात्' अनेकान्ते अनेकान्तस्वीकारेऽनवस्था'[1]।

इसका अभिप्राय यह है कि एक धर्मी में विधिप्रतिषेध रूप दो विरोधी धर्मों की संभावना नहीं है। मुक्ति में भी अनेकान्त लगने से वही मुक्त भी होगा और वही संसारी भी। इसी तरह अनेकान्त में अनेकान्त मानने से अनवस्था दोष आता है।

इस कथन में आचार्य व्योमशिव ने तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(१) एक धर्म में विरोधी धर्म नहीं रह सकते।

(२) मुक्ति में अनेकान्त माना तो वह मुक्त भी है और संसारी भी है।

(३) अनेकान्त में अनेकान्त माना तो अनवस्था दोष आवेगा।

अब शंकराचार्य को लें। शंकराचार्य दर्शन जगत् के माने हुए विद्वान् एवं अद्वैत मत के प्रवर्तक हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य में लिखा है—

'विवसन-समयः इदानीं निरस्यते······। सर्वत्र चेमं सप्तभंगीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति।······ अत्राचक्ष्महेनायम् अभ्युपगमो युक्तः इति। कुतः एकस्मिन्नसंभवात्। नहि एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति, शीतोष्णवत्।'

एते सप्त पदार्था निर्धारित एतावन्त एवंरूपाश्च इति ते तथैव वा स्युः, नैव वा तथा स्युः। इतरथा हि तथा वा स्युः अतथा व इति अनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञापवत् अप्रमाणमेव स्यात्।

ननु अनेकात्मकं वस्तु इति निर्धारितरूपमेव ज्ञानम् उत्पद्यमानं संशयज्ञानवद् न अप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः। निरंकुशं हि अनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वविशेषात् स्यादस्ति स्यान्नास्ति इत्यादि विकल्पोपनिपाताद् अनिर्धारणात्मकता एव स्यात्। एवं निर्धारयितुः निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षे अस्तिता, स्याच्च पक्षे नास्तिता इति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः सन् तीर्थंकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिषु अनिर्धारितासु उपदेष्टुं शक्नुयात् कथं वा तदभिप्रायानुसारिणः तदुपदिष्टे अर्थे अनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्'

---

१. व्योमवती टीका पृ० २०।

एकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकः अनाकुलः प्रवर्तते नान्यथा। अतश्च अनिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन् मत्तोन्मत्तवत् अनुपादेय-वचनः स्यात्।

तथा पंचानाम् अस्तिकायानां पंचत्वसंख्या अस्ति वा नास्ति वा इति विकल्प्यमाना स्यात् तावत् एकस्मिन् पक्षे, पक्षांतरेतु न स्याद् इत्यतः न्यूनसंख्या-त्वम् अधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्।

न च एषां पदार्थानाम् अवक्तव्यत्वं संभवति। अवक्तव्याश्चेद् न उच्चेरन्। उच्यन्ते व अवक्तव्याश्च इति विप्रतिषिद्धम्। उच्यमानाश्च तथैव अवधार्यन्ते नावधार्यन्ते इति च।

तथा तदवधारणफल सम्यग्दर्शनम् अस्ति वा नास्ति वा। एवं तद्विपरीतम् असम्यग्दर्शनम् अपि अस्ति या नास्ति वा इति प्रलपन् मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यात्, न प्रत्यायितव्यपक्षस्य।

स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः, पक्षे च अभावः, तथा पक्षे नित्यता पक्षे च अनित्यता इति अनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः।

अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानाम् अयथावधृत-स्वभावत्वप्रसंगः।

एवं जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्वासत्वयोः विरुद्धयोः धर्मयोः असंभवात् सत्वे च एकस्मिन् धर्मे असत्वस्य धर्मान्तरस्य असंभवात् असत्वे च एवं सत्त्वस्य असंभवात् असंगतम् इदम् आर्हतंमतम्।

एतेन एकानेक—नित्यत्वानित्यत्व —व्यतिरिक्ता-व्यतिरिक्तादि अनेकान्ता-भ्युपगमा निराकृता मंतव्याः[1]।

इसका आशय यह है कि एक धर्मी एक समय में सत्त्व और असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मों का समावेश शीत और उष्ण के समान संभव नहीं है।

जो ये सात पदार्थ कि इतने ही है, और इस प्रकार के स्वरूप वाले हैं,

---

१. शांकरभाष्य २।२।६।३३ पृ० ४८० से ४८४।

निर्धारित किये हैं, वे वैसे ही होंगे, या वैसे नहीं होंगे । इस प्रकार एक ही पक्ष सिद्ध हो सकता है, अन्यथा वे वैसे ही होंगे या वैसे नहीं होंगे, इस प्रकार से अनिर्धारित स्वरूप वाला ज्ञान संशय ज्ञान के समान अप्रमाण होगा ।

यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि वस्तु अनेकात्मक है—इस प्रकार निर्धारित रूप वाला ज्ञान उत्पन्न होता है । अतः वह संशय ज्ञान नहीं हो सकता और परिणामतः वह अप्रमाण नहीं हो सकता । यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि अनेकान्त निरंकुश है । सब वस्तुओं में वह रहता है । आपका निर्धारण भी वस्तु है । उसमें भी स्यादस्ति, स्यान्नास्ति विकल्प आवेंगे । इससे निर्धारण को अनिर्धारणरूपता प्राप्त होगी । इसी प्रकार निर्धारणकर्ता और निर्धारण के फल की एक पक्ष में अस्तित्व और अन्य पक्ष में नास्तित्व होगा । ऐसा होने पर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन सबके निर्धारित न होने पर तीर्थंकर भी प्रमाणभूत होता हुआ उपदेश के लिये कैसे समर्थ होगा ? अथवा गुरु के अभिप्राय के अनुसार प्रवत्त होने वाले शिष्य गुरु से उपदिष्ट अनिर्धारित स्वरूप वाले अर्थ में कैसे प्रवृत्त होंगें ? एकान्तिक (निश्चित) फलवत्व के निर्धारण होने पर ही उस फल के साधनों को करने के लिये सब लोक अनाकुल होकर प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं । इसलिये अनिर्धारित अर्थवाले शास्त्र की रचना करने वाला मत्त और उन्मत्त के समान अग्राह्य वचन वाला होगा ।

इसी प्रकार पांच अस्तिकायों की पाँच संख्या है या नहीं है—इस प्रकार विकल्प किये जाने पर एक पक्ष में पाँच संख्या होगी, और दूसरे पक्ष में पाँच संख्या नहीं होगी । इससे कम या अधिक संख्या की प्राप्ति होगी ।

इन पदार्थों का अवक्तव्यत्व बतलाना भी संभव नहीं है । यदि वे अवक्तव्य हैं तो कहे नहीं जा सकते । पदार्थ कहे जाते हैं और अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध कथन है । कहे गये पदार्थ, जिस प्रकार कहे गये हैं, वैसे ही निश्चित किये जाते हैं और नहीं निश्चित किये जाते हैं—यह कथन भी विरुद्ध है ।

इसी प्रकार उस अवधारण का फलरूप सम्यग्दर्शन या तो है, या नहीं है । इसी प्रकार उससे विपरीत असम्यग्दर्शन भी या तो है, या नहीं है । इस प्रकार प्रलाप करता हुआ मनुष्य मत्त और उन्मत्त पक्ष का ही होगा, विश्वासपात्र आप्त पक्ष का नहीं होगा ।

स्वर्ग तथा मोक्ष का भी पक्ष में भाव होगा, और पक्ष में अभाव होगा। उसी प्रकार पक्ष में नित्यता और पक्ष में अनित्यता होगी। इस प्रकार अनिश्चय अवस्था में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

अपने शास्त्र द्वारा निश्चित स्वभाव वाले अनादिसिद्ध जीव आदि उपर्युक्त प्रकार से निश्चित स्वभाव वाले नहीं हैं—ऐसा प्रसंग आवेगा।

इसी प्रकार जीवादि पदार्थों में एक धर्मी में सत्त्व और असत्त्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म असंभव होने से एक धर्म के सत्त्व होने पर असत्त्वरूप धर्मान्तर के असंभव होने से, अथवा एक धर्म असत्त्व के होने पर सत्त्व रूप धर्मान्तर के असंभव होने पर यह आर्हतमत असंगत है।

इसी तरह एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, व्यतिरिक्तत्व अव्यतिरिक्तत्व आदि अनेकान्त के पक्ष निराकृत समझ लेना चाहिये।

आचार्य शंकर का कथन निम्न है—

(१) सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरोधी धर्म हैं। अतः एकधर्मी में उनका रहना असंभव है।

(२) सात पदार्थों की संख्या और स्वरूप निर्धारित किया है, वह संख्या या स्वरूप होगा या नहीं होगा, इस प्रकार अनिश्चित होने पर संदेह की प्रवृत्ति होगी।

(३) अनेकान्त निरंकुश है। वह सब वस्तुओं में लागू होगा। अनिर्धारण भी वस्तु है, अतः उसमें भी अनेकान्त लागू होने से वह अनिर्धारण हो जायगा। परिणामतः संदेह आवेगा।

(४) निर्धारणकर्ता और निर्धारण का फल है और नहीं है—यह स्थिति आने पर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के अनिश्चित होने पर तीर्थंकर उपदेश न दे सकेगा।

(५) अनिश्चय अवस्था में गुरु के उपदेश से शिष्य की प्रवृत्ति न हो सकेगी।

(६) अस्तिकाय पाँच कहे हैं। इस पाँच संख्या में अनिर्धारण होने से न्यूनाधिक संख्या होगी।

(७) पदार्थों का कथन किया जाना और उन्हें अवक्तव्य कहना—यह विरोधी कथन है।

(८) स्वर्ग और मोक्ष का भाव और अभाव दोनों होंगे। पक्ष में नित्यता और पक्ष में अनित्यता होगी। अतः अनिश्चय में प्रवृत्ति नहीं होगी।

(९) शास्त्र द्वारा निश्चित स्वभाव वाले जीव सिद्ध आदि निश्चित स्वभाव वाले नहीं होंगे।

(१०) अवधारण का फल सम्यग्दर्शन है, नहीं है, इस तरह अनिश्चय होने से इनका उपदेष्टा उन्मत्त के समान अप्रमाण होगा।

शंकराचार्य के कथन से दस बातें सामने आती हैं। उनमें तर्क चार हैं—

(१) सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरोधी धर्म होने से एकधर्मी भी नहीं रह सकते।

(२) अनेकान्त से अनिश्चय की स्थित होने से संशय उत्पन्न होने से प्रवृत्ति नहीं होगी।

(३) अनेकान्त निरंकुश है। वह सब जगह लागू होगा और उससे सर्वत्र अनिश्चय होने से विचार में निश्चय नहीं हो सकेगा।

(४) पदार्थों का विवेचन करना और अवक्तव्य कहना—दोनों बातें विरोधी होने से असंगत हैं।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में आचार्य भास्कर भेदाभेदवादी माने जाते हैं। शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यों में इनका नाम प्रमुख है। इन्होंने अनेकान्त पर निम्न दोष उद्भावित किये हैं। यद्यपि ये भेदाभेदवादी हैं, फिर भी अनेकान्त में दोष बतलाते हैं, वे निम्न हैं—

'सर्वमनेकान्तमिति निश्चीयते न वा ? यदि निश्चीयते तर्हि एकान्तप्रसक्तिः, यदि न निश्चीयते तर्हि निश्चयस्यापि अनिश्चियरूपत्वेन निश्चयरूपत्वं न संभवेत्। अतः एतादृश शास्त्रप्रणेता तीर्थंकरः उन्मत्ततुल्यः।[1]'

---

१. ब्रह्मसूत्रभास्कर भाष्य २।२।३३।

आचार्यजी जैन दर्शनकारों से पूछते हैं—सब अनेकान्त रूप हैं। ऐसा आप निश्चय करते हैं या नहीं ? यहाँ हाँ कहेंगे तो यह एकान्त हो गया, और यदि नहीं तो निश्चय भी अनिश्चय रूप होने से निश्चय नहीं रह जायगा। अतः ऐसे शास्त्र के प्रणेता तीर्थंकर उन्मत्ततुल्य है।

आचार्यजी ने अनेकान्तविरोधी यह उपर्युक्त अभिनव तर्क प्रस्तुत किया है।

रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत मत के प्रवर्तक हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है, जिसका नाम 'अणुभाष्य' है। ब्रह्मसूत्र की टीका भी इन्होंने लिखी है, जिसका नाम 'वेदान्तदीप' है। इनका अनेकान्त के विषय में निम्न कथन है—

'द्रव्यस्य तद्विशेषभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च 'इदम् इत्थम्' इति प्रतीतेः, प्रकारिप्रकारतया पृथक् पदार्थत्वात् नैकस्मिन् विरुद्धप्रकारभूत-सत्त्वासत्त्वस्वरूपधर्मसमावेशो युगपत् संभवति''' एकस्य पृथिवीद्रव्यस्य घटत्वाश्र-यत्वं शरावत्वाश्रयत्वं च प्रदेशभेदेन न तु एकेन प्रदेशेन उभयाश्रयत्वं, यथा एकस्य देवदत्तस्य उत्पत्तिविनाशयोग्यत्वं कालभेदेन। न हि एतावता द्वयात्मक-त्वम् अपि तु परिणामशक्तियोगमात्रम्।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि एक धर्मी में विरुद्ध प्रकारभूत सत्त्व-असत्त्व स्व-रूप धर्मों का समावेश एक साथ नहीं हो सकता। प्रकार-भेद से धर्म भेद संभव है। एक ही पृथ्वी द्रव्यप्रदेशभेद से घटत्व का और शरावत्व का आश्रय है। एक प्रदेश से उभय का आश्रय नहीं हो सकता। जिस प्रकार देवदत्त कालभेद से उत्पत्ति और विनाश की योग्यता रखता है। इतने से द्वयात्मक वस्तु नहीं होती, अपितु परिणाम शक्ति का संबंध मात्र है।'

आचार्यजी का तर्क है—

(१) बिना प्रकार भेद के धर्मी में विरुद्ध सत्त्व असत्त्व धर्म एक साथ नहीं रह सकते। परंतु प्रकार भेद से रह सकते हैं।

(२) प्रकारभेद से धर्मों के रहने पर भी वस्तु द्वयात्मक नहीं होगी। द्वयात्मकता परिणाम शक्ति का संबंध मात्र है।

---

१. वेदान्तदीप पृ० १११-११२।

निंबार्काचार्य ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार हैं। इनका भाष्य स्वल्पकाय है। उसका नाम है—'वेदान्तपारिजातसौरभ'। इनके शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने इस पर विस्तृत व्याख्या लिखी है।

आचार्यजी 'नैकस्मिन्नसंभवात्' (२।२।३३) इस ब्रह्म सूत्र पर व्याख्या लिखते हैं—

'जैना वस्तुमात्रम् अस्तित्व-नास्तित्वादिना विरुद्धधर्मद्वयं योजयन्ति, तन्नोपपद्यते, एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादेः विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपत् असंभवात्'[1]।

इसका आशय यह है कि जैन वस्तु मात्र में अस्तित्व और नास्तित्व से विरुद्ध धर्म-द्वय को योजित करते हैं। यह उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व आदि विरुद्ध धर्म छाया और धूप के समान एक साथ नहीं रह सकते।

आचार्यजी का भी उपर्युक्त तर्क ही है कि एक धर्मी में विरुद्ध सत्त्व और असत्त्व धर्म नहीं रह सकते।

आचार्य स्वतः स्वभावतः भेदाभेदवादी हैं। अतः इस तर्क पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आपके मत में भी एक धर्मी में विरुद्ध धर्मद्वय की स्वीकृति है। तथा 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'[2] इत्यादि में एकत्व का भी प्रतिपादन किया जाता है। 'द्वा सुपर्णा'[3] इत्यादि में अनेकत्व भी प्रतिपादित है।

इसका उत्तर आचार्य के शिष्य श्री निवासाचार्य निंबार्क भाष्य की टीका में देते हैं।

'ननु भवन्मते अपि एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयांगीकारो अस्ति, तथा 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म इत्यादिषु एकत्वं प्रतिपाद्यते। प्रधानक्षेत्रपतिर्गुणेशः 'द्वाः

---

१. ब्रह्मसूत्र निंबार्क भाष्य २।२।३३।

२. वेदान्तसार पृ० ३९ उद्धृतम्।

३. ऋग्वेद २।३।१९। पृ० ३१६ सूक्त १६४।

सुपर्णा' इत्यादौ अनेकत्वं च प्रतिपाद्यते, इति चेत् न, अस्यार्थस्य युक्तिमूलत्वाभावात्। श्रुतिभिरेव परस्पराविरोधेन यथार्थनिर्णीतत्वात्.....इत्थं जगद्ब्रह्मणोः भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिसूत्रसाधितौ भवतः, कः अत्र विरोधः'[1]।

इसका आशय यह है कि—उपर्युक्त अर्थ युक्तिमूलक नहीं है, क्योंकि श्रुतियों ने ही परस्पर अविरोध से यथार्थ का निर्णय कर दिया है।.........इस प्रकार जगत् और ब्रह्म के भेद तथा अभेद स्वाभाविक हैं, तथा श्रुति, स्मृति एवं सूत्र से साधित हैं। यहाँ विरोध कैसा ?

श्री निवासाचार्यजी का यह तर्क है कि यह विषय श्रुति-स्मृति से साधित है। इसमें युक्ति का प्रवेश नहीं है। जैन दर्शन में एक धर्मी में सत्त्व-असत्त्व आदि विरुद्ध धर्म मानना श्रुति-स्मृति से असाधित होने से विरोधग्रस्त है।

श्रीकंठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर शैव भाष्य लिखा है। इनके टीकाकार प्रसिद्ध विद्वान् अप्पय दीक्षित हैं। आप अनेकान्त में इस प्रकार दोषोद्भावन करते हैं। सप्तभंगी में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द को आप ईषदर्थक मानते हैं। भाष्यकार लिखते हैं—

'जैना हि सप्तभंगीन्यायेन........स्याच्छब्द ईषदर्थः। एतदयुक्तम् कुतः ? एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभेदादीनाम् असंभवात्। पर्यायभाविनश्च द्रव्यस्य अस्तित्वनास्तित्वादिशब्दबुद्धि विषयाः परस्परविरुद्धाः पिंडत्वघटत्व-कपालत्वाद्यवस्थावत् युगपत् न संभवन्ति। अतो विरुद्ध एव जैनवादः'[2]।

इसका अभिप्राय है, एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद आदि होना असंभव है। पर्यायभावि द्रव्य के अस्तित्व और नास्तित्व आदि शब्द बुद्धि के विषय है, किन्तु परस्पर विरुद्ध हैं। जिस प्रकार पिंड, घट और कपाल अवस्थाएं एक साथ नहीं हो सकतीं, वैसे ही उपर्युक्त परस्परविरुद्ध-धर्म एक साथ वस्तु में नहीं रह सकते। अतः जैनवाद विरुद्ध ही है।

इनके टीकाकार अप्पय दीक्षित लिखते हैं—

---

१. निंबार्कभाष्य टीका २।२।३३।

२. श्रीकंठ भाष्य २।२।३३।

'यदि एवं पारिभाषिकः अयं सप्तभंगीनयः स्वीक्रियते एव। घटादिः स्वदेशे अस्ति, अन्यदेशे नास्ति, स्वकाले अस्ति, अन्यकाले नास्ति। स्वात्मना अस्ति, अन्यात्मना नास्ति, इति देशकालप्रतियोगिरूपोपाधिभेदेन सत्त्वासत्त्वसमावेशे लौकिकपरीक्षकाणां विप्रतिपत्त्यसंभवात्। न च एतावता पराभिमतं वस्त्वनेकान्त्यम् आपद्यते—स्वकाले सदेव, अन्यकाले असदेव इत्यादि नियमस्य भंगाभावात्। स देश इह नास्ति, स काल इदानीं नास्ति इत्यादि प्रतीतौ देशकालाद्युपाध्यन्तराभावात्, तत्रापि उपाध्यन्तरापेक्षणे अनवस्थानात्। इतरान् अंगीकारयितुं परं गुड़जिह्विकान्यायेन देशकालाद्युपाधिभेदमन्तर्भाव्य सत्त्वासत्त्वप्रतीतिः उपन्यस्यते। वस्तुतो विमृश्यमाना सा निरुपाधिकैव सत्त्वासत्त्वादिसंकरे प्रमाणम्। अतएव स्याद्वादिनः 'घटः अस्ति, घटः नास्ति, पटः सन्, पटः असन्' इत्यादि प्रत्यक्षप्रतीतिमेव सत्त्वासत्त्वाद्यनेकान्त्ये प्रमाणम् उपगच्छन्ति,........ परस्पर विरुद्धधर्मसमावेशे सर्वानुभवसिद्धः तावद् उपाधिभेदः न अपह्नोतु शक्यते। लोकमर्यादामनतिक्रममाणेन देशकालादिसत्त्वनिषेधे अपि देशकालाद्युपाध्यवच्छेदः अनुभूयते एव। इह आत्माश्रयः, परस्पराश्रयः, अनवस्था वा न दोषः, यथा प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिवृत्तौ, यथा च बीजांकुरादि कार्यकारणभावे विरुद्धधर्म-समावेशे। सर्वथा उपाधिभेदं प्रत्याचक्षाणस्य चायम् अस्याः पुत्रः, अस्या पतिः, अस्याः पिता, अस्याः श्वसुरः इत्यादिव्यवस्थापि न सिध्येद् इति कथं तत्र तत्र स्याद्वादे मातृत्वाद्युचितव्यवहारान् व्यवस्थया अनुतिष्ठेत्। तस्मात् सर्वबहिष्कार्यः अयम् अनेकान्तवादः।'[1]

इसका अभिप्राय यह है कि यदि उपाधि भेद को स्वीकार करके विरुद्ध धर्म का समावेश करते हैं, तो यह पारिभाषिक सप्तभंगी नय स्वीकार करते हैं। घटादि स्वदेश में है, अन्यदेश में नहीं है। स्वकाल में है, अन्य काल में नहीं है। स्वस्वरूप (स्वात्मा) से है, अन्यात्मना नहीं है। इस प्रकार देशकालप्रतियोगीरूप उपाधिभेद से सत्त्व और असत्त्व के समावेश में लौकिक और परीक्षकों को कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इतने से जैनाभिमत वस्तु की अनेकान्तता नहीं आती है। घट स्वकाल में सत् ही है, अन्यकाल में असत् ही है—यह नियम टूटता नहीं।...........वस्तुतः विचार की हुई वह वस्तु उपाधिरहित ही सत्त्वासत्त्वादि के संकर में प्रमाण है। इसीलिये स्वाद्वादी—'घट है, घट नहीं है; पट सत् है, पट असत् है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति को ही

१. श्रीकंठभाष्य टीका पृ० १०३।

सत्वासत्त्वादि अनेकान्तता में प्रमाण मानते हैं।.........परस्पर विरुद्धधर्मों के समावेश में सर्वानुभवसिद्ध उपाधिभेद का अपह्नव नहीं किया जा सकता। लोक-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करने वाला देशकालादि के सत्त्व के निषेध में भी देशकालादि उपाधि की अवच्छेदकता अनुभव करता ही है।.........सर्वथा उपाधि-भेद को निराकरण करने वाले को—'यह इसका पुत्र है, यह इसका पति है, यह इसका पिता है, यह इसका श्वसुर है'—इत्यादि व्यवस्था भी सिद्ध नहीं होगी। तो वह किस प्रकार वहाँ वहाँ स्याद्वाद में मातृत्वादि उचित व्यवहारों की व्यवस्था करेगा। इसलिये यह अनेकान्तवाद सबों के लिये बहिष्कार्य है।

श्री अप्पयदीक्षित का कथन यह है कि उपाधिभेद से विरुद्ध धर्मों का कथन हो सकता है। लेकिन स्याद्वादी उपाधिभेद को स्वीकार नहीं करते, अतः उनका कथन विरोधग्रस्त है, और इसीलिये वह सब के लिये बहिष्कार्य है। उपाधिभेद मान लिया जाय तो फिर कोई हानि नहीं है।

श्री वल्लभाचार्य ब्रह्मसूत्र के अपने अणुभाष्य में अनेकान्त में दूषण उपस्थित करते हुए लिखते हैं—

'ते हि अन्तर्निष्ठाः प्रपंचे उदासीनाः सप्तविभक्तीः परेच्छया वदन्ति। स्यात् शब्दः अभीष्टवचनः।.....'तद्विरोधेन असंभवात् अयुक्तम्'।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि—जैन अंतर्निष्ठ होकर प्रपंच में उदासीन सात विभंग कहते हैं। स्यात् शब्द अभीष्ट अर्थ का है।.........उनमें विरोध आने से अनेकान्त अयुक्त है।

इन्हीं का भी वही तर्क है कि विरुद्ध धर्मों का एक में मानना विरोधग्रस्त है। अतः अयुक्त है।

श्रीविज्ञानभिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है। उसका नाम है 'विज्ञाना-मृतभाष्य'। ये अनेकान्त की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

'अपरे वेदबाह्यादिगंबरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यंदे'......। वस्तु अव्यवस्थितमेव स्यादस्ति, स्यान्नास्ति'.....अत्र इदम् उच्यते; न, एकस्मिन् यथोक्तभावाभावादिरूपत्वमपि। कुतः? असंभवात्। प्रकारभेदं विना

---

१. अणुभाष्य २।२।३३।

विरुद्धयोः एकदा सहावस्थानसंस्थानाभावात्। प्रकारभेदाभ्युपगमे वा अस्मन्मत-प्रवेशेन सर्वैव व्यवस्था अस्ति, कथम् अव्यवस्थितं जगद् अभ्युपगम्यते भवद्भिः इत्यर्थः'[1]।

इनका आशय यह है कि प्रकारभेद के बिना विरुद्ध धर्मों का एक काल में सहावस्थान नहीं हो सकता। प्रकारभेद यदि मान लिया जाय तो हमारे मत में प्रवेश होने से सब व्यवस्था हो जाती है। फिर आप अव्यवस्थित जगत् को क्यों मानते हैं ?

विज्ञानभिक्षु ने भी विरुद्ध धर्मों के एक जगह रहने में विरोध माना है। यदि प्रकारभेद मान लिया जाय तो फिर अनेकान्तवाद और विज्ञानभिक्षु का मत एक हो जाता है।

अब आधुनिक विद्वानों के विरोधी तर्क लेना है। सर्वप्रथम डा० संपूर्णानंद को लेते हैं। ये लिखते हैं —

'मैं सप्तभंगी न्याय को तो बाल की खाल निकालने के समान आवश्यकता से अधिक बारीकी में जाना समझता हूँ। परन्तु अनेकान्तवाद की ग्राह्यता को स्वीकार करता हूँ।[2]'

आपका अनेकान्तवाद से विरोध नहीं है। केवल सप्तभंगी न्याय के विषय आपका कथन है।

डा० बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—

यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है, परन्तु दार्शनिक विवेचन अनेक अंश में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन दर्शन ने वस्तु विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाध्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जायगा। यह निश्चित है कि इसी समन्वय दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता, तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुंच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने

---

१. **विज्ञानामृतभाष्य २।२।३३।**

२. **जैन धर्म (कैलाशचन्द्र शास्त्री) की प्रस्तावना पृ० ४-५।**

इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खंडन अपने शारीरक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है। यह जैन सिद्धान्त दार्शनिक विवेचन के लिये आपाततः उपादेय तथा मनोरंजनक प्रतीत होता है। पर वह मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वथा असमर्थ है। इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोबीच तत्त्व विचार को कतिपय क्षणों के लिये विस्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्रामगृह से बढ़कर महत्त्व नहीं रखता।[1]

उपाध्याय जी का यह कथन है कि यद्यपि अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है, फिर भी उसका दार्शनिक विवेचन त्रुटिपूर्ण है। जैन दर्शन का लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न करते हुए उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष है। वह समग्र विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक नहीं पहुँचा। इसीलिये शंकराचार्य ने उसका मार्मिक खंडन किया। जैन दर्शन मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वथा असमर्थ है। इसीलिये वह व्यवहार और परमार्थ के बीचोबीच तत्त्व विचार को विराम देने वाला विश्राम गृह है।

डा० राधाकृष्णन् स्याद्वाद के विषय में लिखते हैं—यह विचार स्याद्वाद कहलाता है, क्योंकि यह समस्त ज्ञान को केवल संभावित रूप में ही मानता है। प्रत्येक स्थापना 'संभव है', 'हो सकता है' अथवा 'स्याद्' या 'शायद' इत्यादि रूपों में ही हमारे सामने आती है।' हम किसी भी पदार्थ के विषय में निरुपाधिक या निश्चित रूप से स्वीकृतिपरक अथवा निषेधात्मक कथन नहीं कर सकते।'[2]

यदि जैन दर्शन का तर्कशास्त्र इस तत्त्व की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद अंतर्निहित है तो इसका कारण यह कि यह सम्पूर्ण सत्य के आंशिक सत्य के केवल आंशिक रूप को ही ग्रहण करता है[3]।

डा० राधाकृष्णन् के कथन के तर्क इस प्रकार हैं—

---

१. **भारतीय दर्शन (बल० उपा०) पृ० ११७, ११८।**

२. **भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्) पृ० २७७।**

३. **वही पृ० २८१।**

(१) स्याद्वाद में स्याद् शब्द का अर्थ शायद या संभव है।

(२) हम किसी भी पदार्थ के विषय में निश्चित रूप से कथन नहीं कर सकते।

(३) जैन दर्शन का तर्कशास्त्र सत्य के केवल आंशिक रूप को ही ग्रहण करता है।

डा० देवराजजी ने 'स्यात्' शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद किया है।'[1]

प्रो० एम० हिरियन्ना अच्छे विचारक हैं। स्याद्वाद के ऊपर आपका अभिप्राय है—

'जैन दर्शन के स्याद्वाद नामक सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त का आधार यही धारणा है कि सत् का स्वरूप अत्यधिक अनियत है। 'स्यात्' शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु का विधिलिङ् का रूप है। इसका अर्थ है 'हो सकता है' 'शायद'। इसलिये स्याद्वाद 'शायद' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य है कि वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और प्रत्येक दृष्टिकोण से एक भिन्न निष्कर्ष प्राप्त होता है। वस्तु का स्वरूप पूरी तरह से इनमें से किसी के भी द्वारा व्यक्त नहीं होता, क्योंकि उसमें जो वैविध्य मूर्तिमान् होता है, उस पर सभी विधेय लागू हो सकते हैं। अतः प्रत्येक कथन असल में सोपाधिक मात्र होता है। एकान्त विधान और एकान्त निषेध दोनों गलत हैं।......... यह सिद्धान्त बताता है कि हमें अत्यधिक सतर्क रहना चाहिये और वस्तु के स्वरूप की परिभाषा देने में कोई साग्रह कथन करने से बचना चाहिये।......... दार्शनिक दुराराध्यता की बात यहाँ पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।'[2]

.........जैनों के विचार से तत्त्व का स्वरूप इतना जटिल है कि उसके बारे में इन मतों में से प्रत्येक अंश तो सही है, लेकिन पूर्णतः सही कोई भी नहीं है।[3]

.........चूंकि ये दोनों द्रव्य (जीव-पुद्गल) परस्पर निर्भर हैं, इसलिये इनके

---

१. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ६५।

२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिरियन्ना) पृ० १६४।

३. वही, पृ० १६५।

द्वैत का भी अंत में एकवाद में विलय हो जाना चाहिये। इस प्रकार ये एक ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की ओर संकेत करते हैं, जो अपने आवश्यक रूप से परिवर्तनशील स्वरूप के कारण अपने अन्दर जीव और अजीव के प्रसिद्ध अंतर विकसित करता है। यह जैन मत का अनिवार्य परिणाम है। जैन दर्शन का यह अधूरा चिन्तन उसके सप्तभंगी न्याय में भी झलकता है। वह अनेक एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है और उनके वैषम्य को उचित संश्लेषण के द्वारा दूर करने की चेष्टा नहीं करता।[1]

श्री हिरियन्ना के तर्क इस प्रकार हैं—

(१) स्याद्वाद के आधार पर सत् का स्वरूप अत्यधिक अनियत है।

(२) स्यात् अस् धातु का विधिलिङ् का रूप है, इसका अर्थ है, शायद। इसलिये स्याद्वाद शायद का सिद्धान्त है।

(३) स्याद्वाद से दार्शनिक दुराराध्यता की बात पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

(४) इस मत के विचार से तत्त्व का स्वरूप जटिल है। इन मतों से प्रत्येक अंश सही है, लेकिन पूर्णतः सही कोई भी नहीं है।

(५) जैन दर्शन के दो तत्त्व द्वैत बतलाते हैं। इनका विलय एक वाद में हो जाना चाहिये।

(६) जैन मत जीव और अजीव के प्रसिद्ध अंतर को विकसित करता है। यह इस मत का अनियार्य परिणाम है।

(७) जैन दर्शन का यह अधूरा चिंतन सप्तभंगी न्याय में भी झलकता है।

(८) यह एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है। उनके वैषम्य को उचित संश्लेषण के द्वारा दूर करने की चेष्टा नहीं करता।

अब श्री दामोदरन् को लेते हैं। आपकी पुस्तक है—'भारतीय चिन्तन परंपरा।' इसके दसवें अध्याय में आप स्याद्वाद के विषय में अपने विचार बतलाते हैं—

---

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिरियन्ना), पृ० १७३, १७४।

जैन दर्शन का स्याद्वाद हमें सिखाता है कि 'प्रत्येक यथार्थ का यह पक्ष हो भी सकता है, अथवा नहीं भी हो सकता है' अर्थात् प्रत्येक वस्तु के बारे में ज्ञान केवल संभावित है। यह घोषणा करता है कि किसी वस्तु के अस्तित्व की एक दृष्टि की जा सकती है (स्यादस्ति) और दूसरी दृष्टि से उससे इन्कार किया जा सकता है (स्याद् नास्ति) स्याद् का शाब्दिक अर्थ है—संभवतः। किसी वस्तु का कोई विशिष्ट पक्ष एक विशेष संदर्भ में सही हो सकता है, किन्तु दूसरे दृष्टि-बिन्दु से देखने पर यह गलत हो सकता है। इस बात को समझाने के लिये जैन मतावलंबी प्रायः ही छह अंधे आदमियों और एक हाथी की कथा कहा करते थे। इन छह आदमियों में से प्रत्येक ने हाथी को टटोला और बताया कि हाथी इस प्रकार का है। इनमें से प्रत्येक मनुष्य की समझदारी अत्यन्त सीमित अर्थ में सही थी। किन्तु वह पूर्णतः सही नहीं थी।....

इस प्रकार स्याद्वाद में किसी सानुपातिक या न्यूनाधिक स्वीकृति ही परिलक्षित है। कारण यह कि कुछ भी निश्चित नहीं।[1]

श्री दामोदरन के निम्नलिखित तर्क हैं—

(१) स्याद् का शाब्दिक अर्थ है—संभवतः। स्याद्वाद में ज्ञान केवल संभाविक है। इसमें कुछ भी निश्चित नहीं।

(२) एक दृष्टि से वस्तु के अस्तित्व की पुष्टि की जा सकती है, और दूसरी दृष्टि से उससे इन्कार किया जा सकता है।

(३) वस्तु का विशेष पक्ष विशेष संदर्भ में सही हो सकता है, दूसरे दृष्टि-बिन्दु से गलत हो सकता है।

भारतीय दर्शनों से प्राचीन आचार्यों के और आधुनिक विद्वानों के अनेकान्त विरोधी तर्क हम ऊपर लिख चुके हैं। इनसे भिन्न भी अनेकान्त विरोधी तर्क संभावित हो सकते हैं। ये संभावित तर्क जैन आचार्यों ने ही पूर्व पक्ष में अपने ग्रन्थों में उपस्थित किये हैं।

सर्व प्रथम सन्मति तर्क की अभयदेव सूरि की टीका को लें। उसमें उन्होंने पाँच तर्क प्रस्तुत किये हैं—

---

१. भारतीय चिन्तन परंपरा (दामोदरन) पृ० १३५, १३६।

(१) अनेकान्त ज्ञान मिथ्या ही है, क्योंकि उसमें बाधक उपस्थित हैं। जिस ज्ञान में बाधक उपस्थित होते हैं, वह ज्ञान मिथ्या ही है—यथार्थ नहीं हो सकता, जैसे वह्नि में शीतत्व का ज्ञान अनेकान्तज्ञान में भी बाधक उपस्थित है, अतः वह मिथ्या ज्ञान है। अनेकान्त ज्ञान। वस्तु को नित्य और अनित्य दोनों बतलाता है। नित्य और अनित्य विधिप्रतिषेधरूप है, अतः एक ही धर्मी में दोनों का अभाव ही होगा। इसी प्रकार सत्त्व और असत्त्व दोनों विधिप्रतिषेध रूप हैं। अतः एक ही वस्तु में दोनों नहीं रह सकते। दोनों के रहने में प्रत्यक्ष और अनुमान से बाध आवेगा। जो नित्य है, सत् है, वह अनित्य या असत् नहीं हो सकता।

(२) अनेकान्तवादी कहते हैं कि घट मृदादिरूप से नित्य है। यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि मृद्रूपता घटरूप से अर्थान्तर है। मृद्रूपता घट से भिन्न है, मृत्त्व समान है। सामान्य नित्य है, लेकिन उसके नित्य होने से घट नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि घट उससे भिन्न है। विनाशकारण सामग्री के उपस्थित होते ही घट नष्ट हो जाता है, अतः घट अनित्य ही है।

(३) जो यह कहा जाता है कि 'स्वदेशादि में सत्त्व और परदेशादि में, असत्त्व है— यह हम (विरोधी) मानते ही हैं। क्योंकि इतरेतराभाव को हम मानते हैं। इतरेतराभाव को अलग से अभाव मानना आवश्यक है, क्योंकि देशादि में इतर घट का अभाव रहता है, वह अनुत्पत्ति भी याने प्रागभाव भी नहीं है और न प्रध्वंस है। इतरेतराभाव के स्थान पर दोनों अभाव नहीं रहते हैं। यदि वस्तु को द्विरूप माना तो परदेशादि की तरह स्वदेशादि में भी अनुपलब्धि का प्रसंग आवेगा।

(४) अनेकान्त को व्यापक माना जाता है, ऐसी स्थिति में मुक्ति से अनेकान्त व्यावृत नहीं होगा, याने मुक्ति में भी अनेकान्त लागू होगा। लागू होने पर वही मुक्त है, वही संसारी है, यह आपत्ति उपस्थित होगी।

(५) अनेकान्त में भी अनेकान्त मानना दूषण है। अनेकान्त का मतलब है वस्तु को सदसद्रूप मानना। इसमें भी अनेकान्त लागू हुआ तो रूपान्तर की प्रसक्ति होगी।[1]

---

१. सन्मति तर्क टीका पृ० १५५।

तत्वार्थ राजवार्तिक में भट्ट अकलंकदेव ने निम्न संभावित विरोधी तर्क दिये हैं[1]—

(१) वही है, वही नहीं है, वही नित्य है, वही अनित्य है—यह अनेकान्त का प्ररूपण छलमात्र है।

(२) अनेकान्तवाद संशय का हेतु है, क्योंकि एक ही अधिकरण में अनेक विरोधी धर्म मानने से संशय उत्पन्न होता है।

(३) एक ही वस्तु में विधिप्रतिषेध रूप दो धर्म मानने से विरोध आता है। जो सत् है, वह असत् नहीं हो सकता।

आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन समुच्चय में अनेकान्त के संभावित विरोधी तर्कों का विवेचन किया है[2]—

संशय और विरोध का दिग्दर्शन ऊपर दिया है। आचार्य हरिभद्र का विवेचन इस प्रकार है—

(१) जो वस्तु सत् है, वही असत् कैसे हो सकती है? यदि असत् हैं तो सत् कैसे हो सकती है? क्योंकि सत्त्व एवं असत्त्व एक दूसरे को छोड़कर ही रह सकते हैं। जिस प्रकार शीतस्पर्श एवं उष्णस्पर्श दोनों एक जगह नहीं रहते, जहाँ शीत स्पर्श है, वहाँ उष्ण स्पर्श नहीं रहेगा, जहाँ उष्ण स्पर्श है, वहाँ शीत स्पर्श नहीं रहेगा। दोनों एक दूसरे को छोड़कर ही रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं।

(२) यदि सत्त्व असत्त्व रूप से और असत्त्व सत्त्व रूप से रहने लगे तो सत्त्व और असत्त्व में कोई विशेषता नहीं रहेगी और दोनों एक हो जायेंगे। इससे वस्तु की प्रतिनियत स्वभावता नहीं रह सकेगी। इसी प्रकार नित्यानित्य मानने में दोष आता है। यदि उभय रूप वस्तु मानी तो वस्तु सद् है या असद्—यह निर्णय न हो पाने से संशय आवेगा।

(३) जिस अंश से सत्त्व है, उससे क्या सत्त्व ही है या उससे सत्त्वासत्त्व है।

---

१. तत्वार्थ राजवार्तिक पृ० ३६।

२. षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३५६-३६६।

पहला पक्ष लिया तो स्याद्वाद की हानि होगी, क्योंकि एकान्तवाद आया। दूसरे पक्ष में जिस अंश से सत्त्व है, उससे क्या सत्त्व ही है या उससे भी सत्त्वासत्त्व है, इसमें आगे भी यही प्रश्न कायम रहने से अनवस्था दोष आवेगा। इसी प्रकार भेदाभेद, नित्या-नित्य, सामान्य विशेष आदि में भी अनवस्था दोष है।

(४) सत्त्व का आधार अन्य होना चाहिये तथा असत्त्व का अन्य। इस तरह विरोधी धर्मों के एक आधार में न रह सकने के कारण वैयधिकरण्य दोष आता है।

(५) जिस रूप से सत्त्व उसी से सत्त्व और असत्त्व होगा, इस तरह एक ही रूप से दोनों धर्मों की युगपत् प्राप्ति होने से संकर नामक दूषण है। दोनों की एक साथ प्राप्ति को संकर कहते हैं।

(६) जिस रूप से सत्त्व, उससे असत्त्व भी होगा, और जिससे असत्त्व उससे सत्त्व भी होगा, इस प्रकार व्यतिकर दोष आता है। एक दूसरे के विषय में जानने को व्यतिकर दोष कहते हैं।

(७) सबको अनेकान्तात्मक स्वीकार किया तो जल भी अग्नि रूप, अग्नि भी जल रूप हो जायगी। इससे जलार्थी की अग्नि में और अग्नि के अर्थी की जल में प्रवृत्ति होगी। इससे प्रतिनियत व्यवहार का लोप होगा तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाध भी आवेगा। इस प्रकार विषय व्यवस्था हानि दोष आता है।

सप्तभंगी तरंगिणीकार ने इनके अतिरिक्त अप्रतिपत्ति नामक एक दोष और मानकर दोषों की संख्या आठ मानी है।[1] स्याद्वाद मंजरीकार का भी यही मत है।[2]

उपर्युक्त दोषोद्भावन के तर्कों पर सिंहावलोकन न्याय से दृष्टिपात करें तो संक्षेप में निम्न अनेकान्त विरोधी तर्क हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ दोष एक ही है, परन्तु विवेचन की शैली एवं तर्क भिन्न है, जिससे वह दोष भिन्न सा लगता है, जैसे विरोध। वहाँ उन तर्कों को प्राधान्य

---

१. सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ७९-९०।

२. स्याद्वादमंजरी पृ० १९५-१९७।

देकर हमने अलग से ही उनकी गणना की है। जैनाचार्यों ने ८ आठ संभावित दूषणों की चर्चा की है, वे निम्न हैं—

(१) विरोध।
(२) वैयधिकरण्य।
(३) अनवस्था।
(४) संकर।
(५) व्यतिकर।
(६) संशय।
(७) अप्रतिपत्ति।
(८) विषय-व्यवस्थाहानि।

इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

विभिन्न दर्शनों के आचार्यों के अनेकान्त विरोधी तर्क कुछ उपर्युक्त दोषों में अंतर्भावित हो जाते हैं, कुछ अलग हैं। अतः हम नीचे एक तालिका दे रहे हैं, जिसमें संक्षेप में सब का संग्रह हो जाता है। कुछ दोषों के नामकरण नहीं हैं, केवल तर्क है, वे भी इनमें सम्मिलित हैं।

संख्या दोष का नाम	संक्षिप्त परिचय	आचार्य
१. प्रतिनियत-स्वभावताहानि (विषय-व्यवस्था-हानि)	(१) अने० मानने पर वस्तु की प्रतिनियत स्वभावता की हानि होगी। सब सब स्वरूप होंगे।	(१) धर्मकीर्ति (२) शंकराचार्य
	(२) जल अग्निरूप व अग्नि जल रूप होगी।	(३) हरिभद्र
२.	पर रूप से वस्तु में भाव कहो या अभाव दोनों में वस्तु में पररूप के प्रवेश को रोका नहीं जा सकता। इससे सब सब रूप होंगे।	(१) जयराशि

संख्या दोष का नाम	संक्षिप्त परिचय	आचार्य
३.	सबको सब स्वरूप मानने से बुद्धि व शब्द भिन्न नहीं होंगे।	(१) धर्मकीर्ति
४. विरोध	विरोध के कारण विरुद्ध धर्म एक वस्तु में नहीं रह सकते हैं।	(२) शांतिरक्षित
५. विरोध	भेदाभेदात्मक, सामान्य-विशेषात्मक विरोधी धर्म एक वस्तु में नहीं रह सकते।	(१) कर्णकगोमि (२) शांति-रक्षित
	उपर्युक्त ३-४ नं० में अनेक आचार्य आते हैं।	(१) प्रज्ञाकर गुप्त (२) अचेट (३) जयराशि घट्ट (४) शांतिरक्षित (५) व्योमशिव (६) शंकराचार्य (७) रामानुजाचार्य (८) निंबार्काचार्य (९) श्रीकंठाचार्य (१०) वल्लभाचार्य (११) विज्ञानभिक्षु
	निंबार्काचार्य के मत से श्रुति में विरोध नहीं आता। वहाँ विरोध दोष की गुंजाइश नहीं है। श्रुति से अन्यत्र विरोध दोष जाता है।	
६.	पर रूप का अभाव है, वह वस्तु में अनुपलब्ध है तो आप उसके द्रष्टा कैसे हो सकते हैं।	(१) जयराशि
७. स्वरूप सांकर्य	इसका अंतर्भाव संकर में हो सकता है। यह और संकर दोष एक ही है।	(१) शांतिरक्षित

संख्या दोष का नाम	संक्षिप्त परिचय	आचार्य
८. अनवस्था	अनेकान्त में अनेकान्त माना तो यह दोष जाता है।	(१) व्योमशिव
९. सन्देह	अनेकान्त में निर्धारण के अभाव से संशय आता है।	(१) शंकराचार्य
१०. विरोध	पदार्थ का कथन करना और उसे अवक्तव्य कहना—दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं।	(१) शंकराचार्य
११. एकान्तवाद सन्देह	अनेकान्त निश्चयरूप है या नहीं ? प्रथम पक्ष—एकान्तवाद। दूसरे में सन्देह।	(१) भास्कराचार्य
१२. अतिसूक्ष्म में जाना	बाल की खाल निकालना। सप्तभंगी बाल की खाल निकालना है।	(१) डा० संपूर्णानंद
१३. अपूर्णता	(१) स्याद्वाद अपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि वह परमतत्त्व तक नहीं पहुँचा। (२) द्वैत का अद्वैत में विलय या परिवर्तन होना चाहिये।	(१) बलदेव उपाध्याय (२) हिरियन्ना
१४. संभववाद	स्याद्वाद याने संभववाद स्याद् का अर्थ शायद।	(१) डा० राधाकृष्णन् (२) डा० देवराज (३) प्रो० हिरियन्ना
१५. अनिश्चय	हो सकता है, नहीं भी हो सकता है संभावितवाद—स्याद्वाद अनिश्चय।	(१) के० दामोदरन्

संख्या दोष का नाम	संक्षिप्त परिचय	आचार्य
१६. मिथ्यात्व	बाधक उपपन्न होने से अनेकान्त मिथ्या है।	सन्मति तर्क अभय-देवीय टीका
१७. रूपान्तरप्रसक्ति	अनेकान्त में अनेकान्त माना तो वह अनेकान्त न रहकर रूपान्तर हो जायगा।	सन्मति तर्क अभय-देवीय टीका
१८. छल	अनेकान्त में द्विरूपता बतलाना छल है।	राजवार्तिक अकलंक
१९.	सत्त्व-असत्त्व—इतरेतराभाव रूप है। इतरेतराभाव मानने पर अनेकान्त की आवश्यकता नहीं।	सन्मति तर्क अभय-देवीय टीका
२०. अनेकान्त	अनेकान्त को व्यापक माना तो मुक्त भी होगा, संसारी भी होगा।	सन्मति तर्क अभय-देवीय टीका
२१. वैयधिकरण्य	सत्त्व का आधार अन्य होना चाहिये तथा असत्त्व का अन्य। इस तरह विरुद्ध धर्मों के एक आधार में न रह सकने के कारण वैयधिकरण्य दोष आता है।	आ० हरिभद्र
२२. व्यतिकर	जिस रूप से सत्त्व, उससे असत्त्व भी होगा। इस तरह एक दूसरे के विषय में जाना व्यतिकर दोष है।	आ० हरिभद्र
२३. अप्रतिपत्ति	संशय या अनिर्धारण के कारण ज्ञान नहीं हो पाना।	सप्तभंगी तरंगिणीकार

(आ) जैनाचार्यों द्वारा उनका समाधान

अनेकान्त के विरुद्ध प्रस्तुत आचार्यों के तर्कों का समाधान जैनाचार्यों के अनुकूल निम्नानुसार दिया जा सकता है।

विभिन्न दर्शनकारों के अनेकान्त के विरोधी तर्कों के मूल में खासकर यह बात है कि अनेकान्त वस्तु को अनेकधर्मात्मक, यहाँ तक कि परस्पर विरोधी से दिखने वाले धर्मों को भी वस्तु में स्वीकार करता है। इसी बात को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न शैली एवं विभिन्न भाषा में इस प्रकार प्रकट किया है कि उनके कथन विभिन्न से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः मूल में एक ही बात है।

अनेकान्त के विरोधी तर्कों पर गंभीरता से विचार किया जाय तो पता लगता है कि विभिन्न दर्शनकारों ने जो अनेकान्त विरोधी तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनमें उन दर्शनकारों ने अनेकान्त दर्शन के साथ न्याय नहीं किया है। मालूम होता है कि विरोधी दर्शनकारों ने अनेकान्तवाद को समझने का या तो प्रयत्न ही नहीं किया, या समझकर भी ऊपर ऊपर ही उसका विरोध किया। वैज्ञानिक मार्ग यह है कि हम अपने विरोधियों की बात को ठीक समझें, फिर उस पर आलोचना करें। यदि हम उसको ठीक न समझकर अथवा उसके द्वारा उक्त शब्दों के अर्थ को घुमाकर या उसके एक देश को लेकर उसका उपहास करने की दृष्टि से कुछ तो भी अर्थ करें, यह उचित मार्ग अथवा तत्त्वान्वेषण या तत्त्व जिज्ञासा का मार्ग नहीं है, और यह संदर्भित चिन्तन के प्रति अन्याय भी है। जैसे कोई कहता है—'के यूयम् ? स्थल एव संप्रति वयम्'। कोई व्यक्ति सरलता से प्रश्न करता है 'आप कौन हैं ?' सामने वाला उसका मजाक करने की प्रवृत्ति या उसको नीचा दिखाने की प्रवृत्ति से 'क' शब्द का अर्थ जल लेकर उत्तर देवे कि 'हम पानी में कहाँ हैं ? हम तो जमीन पर ही हैं'' तो यह प्रश्न व उत्तर उपहास एवं साहित्य की दृष्टि से ग्राह्य हो सकता है,

क्योंकि यह उक्ति-प्रत्युक्ति मनोविनोद का साधन है। किन्तु यह मार्ग दर्शन के विषय में अपनाया जाना उपयुक्त नहीं है। विरोधी दर्शनकारों ने अनेकान्तवाद की आलोचना में यही मार्ग अपनाया है।

विरोधी तर्कों को लेते समय सर्वप्रथम प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति हमारे संमुख उपस्थित होते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति का यह कथन है कि सब वस्तु को उभयरूप याने स्वपररूप माना गया तो प्रतिनियत-स्वभावता के निराकरण होने से 'दही खाओ' इस वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'ऊँट खाओ', क्योंकि दही से पर ऊँट भी है, यदि ऊँट भी दही का स्वरूप हुआ तो उपर्युक्त अर्थ होगा ही।

घट शब्द प्रतिनियत स्वभाव वाला है। उसके उच्चारण मात्र से कंबु-ग्रीवादिमान्, पानी लाने में समर्थ घट पदार्थ का बोध होता है। यही स्वभाव प्रत्येक शब्दों का होता है। यदि पदार्थ स्वस्वरूप के साथ परस्वरूप वाला भी मान लिया जाय तो घट का पर पट हुआ, तो पट स्वरूप भी घट के होने से घट का अर्थ पट भी हो सकता है। अतः पदार्थ को उभयरूप याने स्वपररूप मानना उचित नहीं है। आचार्य धर्मकीर्ति की दृष्टि में अनेकान्तवाद प्रत्येक पदार्थ को स्व पररूप मानता है। इसीलिये उसमें यह दूषण उन्होंने उप-स्थापित किया है।

दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि सबको सब स्वरूप मान लिया तो एक ही विषय हो जाने से एक शब्द से ही सब अर्थों का बोध हो जायगा। बुद्धि के और ध्वनि के अभेद होने से 'ऊँट दही से भिन्न है'—यह भेद व्यवहार, तथा 'दही ही ऊँट है' इस तदात्मकता को निवारण करने वाला व्यवहार नहीं हो सकेगा। आचार्यजी की दृष्टि में अनेकान्तवाद के मत में सब सब रूप हैं। इसी-लिये उन्होंने यह दूषण उद्भावित किया है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने जो प्रथम विरोधी तर्क उपस्थित किया है, वह वस्तु को स्वपररूप मानने की मान्यता को लेकर है। लेकिन साधारण तौर पर देखा जाय तो यह अनेकान्तवाद की मान्यता नहीं है। अनेकान्तवाद वस्तु में स्वरूप की दृष्टि से सत्त्व और पररूप की दृष्टि से असत्त्व मानता है। घट घटत्व की अपेक्षा सत् है, पटत्व की अपेक्षा असत् है। इसका मतलब यह हुआ कि घट पट नहीं है। तभी तो पटत्वावच्छेदेन घट में नास्तित्व आता है। यदि घट को

पट रूप भी मान लिया तो पटत्वावच्छेदेन उसमें नास्तित्व धर्म नहीं आयेगा। अनेकान्तदर्शन तो वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों को मानता है। उसके मत में सत्त्व असत्त्व को छोड़ कर नहीं रहता है। दोनों धर्म वस्तु में अवच्छेदक भेद से रहते हैं।[1] इस विवेचन के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो अनेकान्त दर्शन वस्तु को पररूप नहीं मानता है। अतः आचार्य धर्मकीर्ति का यह दूषण उद्भावित करना अनुचित एवं निर्मूल है।

वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने का यह अर्थ नहीं है कि जल अनलरूप हो जाय या वस्तु में जबरन धर्म थोप दिया जाय। अनेकान्त का आविर्भाव वस्तु में जबरन धर्म थोपने के लिये नहीं हुआ है। जबरन धर्म थोपने से वस्तु उस धर्म वाली कभी भी नहीं बन जाती। यदि हम वैसा करेंगे तो यथार्थ या सत्य से बहुत दूर चले जावेंगे। घट को पट कहने से या उसमें पटत्व कहने से वह पट नहीं बन जाता। वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसको उसी रूप में ठीक तरह जानने का साधन अनेकान्त है। अनेकान्त वस्तु के यथार्थ दर्शन के लिये आविर्भूत हुआ है। अनेकान्त के बिना वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता। अनेकान्त के इस मूल अभिप्राय को सदा ध्यान में रखने की आवश्यकता है। जल की जलरूपता स्वस्वरूप की दृष्टि से है। जल में जलत्व धर्म रहता है, इसलिये वह जल है। वह अनल कैसे हो सकता है? अनल का प्रवृत्तिनिमित्त अनलत्व है, वह उष्णस्पर्शवत्त्व है। यह धर्म जल में नहीं है, अतः जल अनल नहीं बन सकता। जल में जलरूपता स्वस्वरूप जलत्व की अपेक्षा से है, न कि पररूप अनलत्व की अपेक्षा से।[2]

दूसरा तर्क आचार्यजी ने यह दिया है कि सबको सब स्वरूप मान लेने से एक शब्द से ही सब अर्थों का बोध हो जायगा। साधारणतः अनेकान्त दर्शन

---

१. स्याद्वादमंजरी श्लोक २४, पृ० १९५।
उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च
इत्यप्रबुध्यैव विरोधमीताः.......................। —॥२४॥

२. तथा यदपि अवादि 'जलादेरपि अनलादिरूपता' इत्यादि, तदपि महामोहविलसितम्। यतः जलादेः स्वरूपापेक्षया जलादिरूपता, न पररूपापेक्षया। न ततो जलार्थिनाम् अनलादौ प्रवृत्तिप्रसंगः।
—षड्दर्शन समुच्चय (पूर्वपक्ष पृ० ३५७) उत्तरपक्ष पृ० ३६४।

में सबको सब स्वरूप नहीं माना गया है। यदि सबको सब स्वरूप मान लिया जाय तो पर या अन्य के अभाव से वस्तु भावाभावात्मक नहीं हो पायगी और वस्तु की प्रतिनियत स्वभावता के लिये आवश्यक अन्यव्यावृत्ति रूप स्वभाव वस्तु का नहीं बन पायगा। यदि घट पटादि रूप हो जाय तो अन्य के अभाव हो जाने से अन्यव्यावृत्ति न हो पायगी, फलस्वरूप वस्तु की प्रतिनियत स्वभावता नहीं रहेगी। अतः प्रत्यक्षबाध आवेगा। अनेकान्त का मूल सिद्धान्त है वस्तु को भावाभावात्मक आदि मानना[1]। इस सिद्धान्त को भी क्षति पहुँचेगी। अतः सबको सब स्वरूप नहीं माना जाता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आचार्य धर्मकीर्ति यह बात याने उपर्युक्त विरोधी तर्क की मूल मान्यतायें कहाँ से लायें ? अनेकान्त दर्शन केवल पुद्‌गल द्रव्य में विविध परिणाम होने की योग्यता को मानता है। पार्थिव पुद्‌गल जल तेज वायु पुद्‌गलों में परिणत हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्य पुद्‌गल अन्य पुद्‌गलों में। तेल और बत्ती दोनों पार्थिव हैं, ये दोनों तेज में परिवर्तित होकर प्रकाशदान करते हैं। अरणि पार्थिव है, वह अग्नि को उत्पन्न करती है। चन्द्रकान्त पार्थिव है, परन्तु जल का उद्‌भावक है। यव पार्थिव है, वह वायु को उत्पन्न करता है।[2] इस प्रकार पुगद्‌ल द्रव्य में विभिन्न परिणाम होने की योग्यता रहती है। अतः पुद्‌गल द्रव्य में पर्यायों की दृष्टि से 'सब पुद्‌गल द्रव्य सब पुद्‌गल द्रव्यात्मक है' ऐसा कह सकते हैं। इनके पर्याय एक के दूसरे में भी उत्पन्न हो सकते हैं।[3] यह बात केवल पुद्‌गल द्रव्य में ही लागू होती है, अन्य द्रव्यों में नहीं।

---

१. प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन अनन्तधर्मात्मकस्यैव सकलस्य प्रतीतेः……… घटः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः विद्यते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः च न विद्यते।
—षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३२९।

२. व्यक्तस्पर्शादिचतुष्काणां च चन्द्रकान्तारणियवानाम् आरंभकैरेव पुद्‌गलैः अव्यक्तगंधाव्यक्तगंधरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानाम् अब्ज्योति-रुदरमरुताम् आरंभदर्शनात्।
—प्रवचनसार पृ० १७०।

३. स्वपरपर्यायात्मकत्वेन 'सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युपगमात्', अन्यथा वस्तुस्वरूपस्यैव अघटमानत्वात्।
—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६४।

इसी बात को एक देश से लेकर सब पदार्थों में लागू करके धर्मकीर्ति आचार्य द्वारा अनेकान्त की आलोचना न्यायसंगत नहीं है। अनेकान्त दर्शन के द्वारा मान्य वस्तु के एकदेश को सब में लागू कर विरोध उपस्थित करना न्यायदर्शनप्रतिपादित जात्युत्तर है। यह वास्तविक विरोध नहीं है।

जब कि सब पदार्थ स्वरूप है ही नहीं तो बुद्धि और शब्द भिन्न नहीं होने का प्रश्न ही नहीं है।

ऊपर बतलाया गया है कि अनेकान्त से प्रतिनियत स्वभावता की हानि नहीं होती है, अपितु परपदार्थ से व्यावृत्ति बतलाने के द्वारा वह उसमें सहायक है। अतः इस प्रकार विषय व्यवस्था की हानि का इसमें प्रश्न ही नहीं उठता।

अब जयराशि भट्ट के तर्क दूसरे नंबर पर लेवें। उनके तर्क निम्न हैं—

(१) वस्तु एक है, अतः उसमें स्वरूप से सत्त्व और पर रूप से असत्त्व मानना ठीक नहीं है।

(२) पररूप में वस्तु में भाव कहो या अभाव। दोनों ही स्थितियों में वस्तु में पररूप के प्रवेश के रोका नहीं जा सकता।

(३) यदि पर रूप का अभाव है और वह वस्तु में अनुपलब्ध है, तो आप उसके द्रष्टा कैसे हो सकते हैं? अनुपलब्ध वस्तु का द्रष्टा कोई भी नहीं हो सकता।

(१) जयराशि भट्ट का कथन यह है कि वस्तु एक है, अतः उसमें सत्त्व और असत्त्व दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते। जो वस्तु सत् है, वही असत् कैसे हो सकती है। असत् है तो सत् कैसे हो सकती है। क्योंकि सत्त्व और असत्त्व एक दूसरे को छोड़ कर ही रह सकते हैं, क्योंकि दोनों में विरोध है। जैसे शीत स्पर्श और उष्ण स्पर्श में विरोध है, दोनों एक साथ नहीं रहते हैं, वैसे ही सत्त्व और असत्त्व एक साथ नहीं रह सकते हैं।

वस्तु में सत्त्व और असत्त्व दोनों ही प्रतीत हो रहे हैं, तो उसमें विरोध नहीं है। विरोध उनमें होता है, जिन दोनों की एक साथ उपलब्धि नहीं

हो सकती। जैसे शीत और उष्ण स्पर्श। ये दोनों एक दूसरे का परिहार करके रहते हैं, अतः इनमें विरोध है। अथवा वंध्या स्त्री का और उसके गर्भ और पुत्र का विरोध है, दोनों एक दूसरे का परिहार करके रहते हैं। दोनों एक साथ कभी भी उपलब्ध नहीं होते। परन्तु वस्तु में स्वरूप से सत्त्व रहने पर उसी समय पररूप से असत्त्व का अनुपलम्भ नहीं है, अपितु उपलम्भ है। अतः दोनों में विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि स्वरूप से सत्त्व के समान पर रूप से असत्त्व को भी प्रतीति अनुभव सिद्ध है। वस्तु का सर्वथा भाव ही स्परूप है, ऐसी बात नहीं है, यदि ऐसा हुआ तो पररूप से भी भाव का प्रसंग अवेगा। इसी प्रकार वस्तु का अभाव ही स्वरूप नहीं है, यदि ऐसा मान तो पररूप से जैसे अभाव आता है, वैसे ही स्वरूप से भी अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा।[1]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'पर रूप से असत्त्व है', इसका मतलब 'पररूप का असत्त्व है' होगा। घट में पट स्वरूप अभाव के रहने पर 'घट नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते। जिस प्रकार भूतल में घट के अभाव के रहने पर 'भूतल पर घट नहीं है' ऐसी वाक्य की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार घट में पटस्वरूप के अभाव के रहने पर 'पट नहीं है' ऐसा कहना उचित है।[2]

इसके समाधान में हम पूछते हैं कि घट में जो पर रूप का असत्त्व रहता

---

१. कथंचित् प्रतीयमाने स्वरूपाद्यपेक्षया विवक्षितयोः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतीयमानयोः न विरोधः। अनुपलंभ-साध्यो हि विरोधः, न हि स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिः असत्त्वस्य अनुपलम्भः अस्ति। स्वरूपादिभिः सत्त्वस्येव पररूपादिभिः असत्त्वस्यापि प्रतीति-सिद्धत्वात्।

न खलु वस्तुनः सर्वथा भाव एव स्वरूपम्, स्वरूपेणेव पर-रूपेणापि भावप्रसंगात्। नापि अभाव एव, पररूपेणेव स्वरूपेणापि अभावप्रसंगात्। —सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८३।

२. ननु पररूपेण असत्त्वं नाम पररूपासत्त्वमेव। नहिघटे पटस्वरूपाभावे घटो नास्ति इति वाक्यप्रवृत्तिवत् घटे पटस्वरूपाभावे पटो नास्ति इत्येव वक्तुमुचितत्वात्। इति चेन्न, विचारासहत्वात्।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८३।

है, वह पट का धर्म है या घट का धर्म है ? पट का धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि पट का अभाव पट का धर्म मानने से व्याघात आता है। पटरूप का अभाव पट में कैसे रह सकता है ? यदि रहेगा तो पट शून्य रूप हो जायगा। अपना धर्म अपने में नहीं है ऐसा तो नहीं कह सकते ? क्योंकि उसके स्वधर्मत्व से विरोध आवेगा। अर्थात् वह स्व का धर्म कैसे हो सकेगा ? पट का धर्म घट का आधारक नहीं बन सकता।

यदि दूसरा पक्ष 'घट का धर्म है'—ऐसा माना तो विवाद समाप्त है। भाव धर्म के रहने से जैसे वस्तु भावात्मक होती है, वैसे ही अभाव धर्म के रहने से अभावात्मक भी मान लेना चाहिये। इस प्रकार 'घट नहीं है' यह प्रयोग हो सकेगा। अन्यथा जिस प्रकार अभाव धर्म के योग में असत् नहीं है, उसी प्रकार भाव धर्म के योग में भी सत् नहीं होगा।[1]

'घट में पररूप का अभाव है'—इसका अर्थ है 'घट में रहने वाले अभाव का प्रतियोगित्व'। यह प्रतियोगित्व पट का धर्म हुआ, घट का नहीं। जिस प्रकार भूतल में घट नहीं है, यहाँ भूतल में रहने वाले अभाव के प्रतियोगित्व का मतलब है 'भूतल में नास्तित्व' और वह है घट का धर्म। इस प्रकार वस्तु में अभावात्मकता सिद्ध नहीं होती है।

ऐसा मान भी लिया तो भी पर रूप का अभाव घट का धर्म हो—इसमें कोई विरोध नहीं है, जैसे घटाभाव भूतल का धर्म है। इस प्रकार घट भावा-

---

१. घटादिषु पररूपासत्त्वं पटादिधर्मः घटधर्मं वा ? नाद्यः, व्याघातात्। नहि पटरूपासत्त्वं पटे अस्ति। पटस्य शून्यत्वापत्तेः न च स्वधर्मः स्वस्मिन्नास्तीति वाच्यम्, तस्य स्वधर्मत्वविरोधात्। पटधर्मस्य घटाद्याधारकत्वायोगाच्च। अन्यथा वितानवितानाकारस्यापि तदाधारकत्वप्रसंगात्। अन्त्यपक्ष-स्वीकारे तु विवादो विश्रान्तः, भावधर्मयोगाद् भावात्मकत्ववद् अभावधर्मयोगाद् अभावात्मकत्वस्यापि स्वीकरणीयत्वात्। एवं च घटो नास्तीति प्रयोग उपपन्नः। अन्यथा यथैव अभावधर्मयोगेऽपि असत् न, स्यात्, तथैव भावधर्मयोगे अपि सद् न स्यात्।

—वही पृ० ८३, ८४।

भावात्मक सिद्ध हो जाता है। कथंचित् तादात्म्यलक्षणसंबंध से संबंधी ही स्वधर्म हो जाता है।[1]

इस प्रकार से घट के भावाभावात्मक सिद्ध होने पर भी 'घट है, पट नहीं है' ऐसा ही कहना चाहिये। पट के अभाव को बतलाने वाले वाक्य की ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार 'भूतल में घट नहीं है, यह घटाभाव को प्रतिपादन करने वाला वाक्य प्रवृत्त होता है, और 'भूतल नहीं है' ऐसा वाक्य प्रवृत्त नहीं होता है। उसी प्रकार प्रकृत विषय में घटाभाव को घटात्मक मान भी लिया जाय तो भी 'पटो नास्ति' पट नहीं है—ऐसा ही प्रयोग करना योग्य है। क्योंकि अभावबोधक वाक्य में प्रतियोगी प्रधान रहता है। जिस प्रकार घटाभाव कपाल स्वरूप है, तो भी कपालदशा में 'घट उत्पन्न होगा' ऐसा प्रागभाव का प्रतिपादक प्रयोग दिखाई देता है। 'कपाल होगा' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। और जिस प्रकार 'घट का ध्वंस' उत्तरकालीन कपाल स्वरूप होते हुए भी 'घट नष्ट हुआ' ऐसा ही प्रयोग होता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये।[2]

---

१. ननु घटे पटरूपासत्त्वं नाम घटनिष्ठाभावप्रतियोगित्वम्। तच्च पटधर्मः यथा भूतले घटो नास्ति इत्यत्र भूतलनिष्ठाभावप्रतियोगित्वमेव भूतले नास्तित्वं, तच्च घटधर्मः। इति चेन्न—तथापि पररूपाभावस्य घटधर्मत्वाविरोधात्, घटाभावस्य भूतलधर्मत्ववत्। तथा च घटस्य भावाभावात्मकं सिद्धम्। कथंचित् तादात्म्यलक्षणसंबंधेन सबंधिन एव स्वधर्मत्वात्।

—वही पृ० ८४, ८५।

२. ननु एवं रीत्या घटस्य भावाभावात्मकत्वे सिद्धे घटः अस्ति, पटो नास्ति इत्येव वक्तव्यम्। पटाभावप्रतिपादनपरवाक्यस्य तथा प्रवृत्तेः। यथा भूतले घटो नास्ति इति घटाभावप्रतिपादनपरं वाक्यं प्रवर्तते—न तु भूतलं नास्ति इति, तथा प्रकृते पटाभावस्य घटात्मकत्वे अपि पटो नास्ति इत्येव प्रयोगो युक्तः। अभावबोधकवाक्यस्य प्रतियोगिप्रधानत्वात्। यथा घटप्रागभावस्य कपालात्मकत्वे अपि कपालदशायां घटो भविष्यति इत्येव प्रागभावप्रतिपादकः प्रयोगो दृष्टः, न तु कपालो भविष्यति इति। यथा च घटध्वंसस्य उत्तरकपालात्मकत्वे अपि घटो नष्ट इत्येव प्रयोगः, तथा प्रकृते अपि'।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ८५।

इसका समाधान यह है कि घट के भावाभावात्मक सिद्ध होने पर हमारा विवाद विश्रान्त हो गया है, क्योंकि हमारे इष्ट की सिद्धि हो गई है। शब्द का प्रयोग तो पूर्व पूर्व प्रयोग के अनुसार होगा। पदार्थ की सत्ता के अधीन शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे 'देवदत्त पकाता है'—यह प्रयोग है। यहाँ देवदत्त पदार्थ क्या चीज है? शरीर, आत्मा या शरीर से विशिष्ट आत्मा? पहले पक्ष में 'देवदत्त का शरीर पकाता है' ऐसा प्रयोग होने का प्रसंग आवेगा। दूसरे पक्ष में 'देवदत्त की आत्मा पकाती है' ऐसा प्रयोग होगा। 'शरीर विशिष्ट आत्मा पकाती है' ऐसे प्रयोग के अभाव में तीसरा पक्ष भी उपपन्न नहीं होता है। इस विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिपादित के प्रयोग के अभाव में पूर्व पूर्व प्रयोग का अभाव होना ही शरण है। अतः पूर्व प्रयोग की अनुकूलता से प्रयोग की प्रवृत्ति होने से शब्द प्रयोग के बारे में कुछ भी पूछना योग्य नहीं है।[1]

और दूसरी बात, घट में रहने वाला पररूप का अभाव घट से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो वह भी पर है, अतः उसका भी अभाव वहाँ कल्पित करना चाहिये। अन्यथा उसके परत्व की अनुपपत्ति होने से घटादि पदार्थ के कथंचित् असद्रूपत्व की सिद्धि नहीं होगी। उसके अभाव की कल्पना करने से अनवस्था आवेगी, क्योंकि वह भी पर है। घटादि में पररूप के आतानवितानाकार के भावाभाव की कल्पना करने से उनके घटत्व की आपत्ति

१. इति चेदुच्यते, घटस्य भावाभावात्मकत्वे सिद्धे अस्माकं विवादो विश्रान्तः। समीहितसिद्धेः। शब्दप्रयोगस्तु पूर्वपूर्वप्रयोगानुसारेण भविष्यति। नहि पदार्थसत्ताधीनः शब्दप्रयोगः। तथा हि 'देवदत्तः पचति' इति प्रयोगो वर्तते। तत्र देवदत्तपदार्थः शरीरं वा? आत्मा वा? शरीरविशिष्टात्मा वा? आद्ये देवदत्तस्य शरीरं पचति इति प्रयोगापत्तिः। द्वितीये देवदत्तस्य आत्मा पचति इति प्रयोगापत्तिः शरीरविशिष्टात्मा पचति इति प्रयोगाभावात् तृतीय पक्षे अपि नोपपत्तिः तथा च प्रतिपादितप्रयोगाभावे पूर्व पूर्व प्रयोगाभाव एव शरणम्। तथा च पूर्वपूर्वप्रयोगानुगुण्येन प्रयोगप्रवृत्तेः शब्दप्रयोगस्य पर्यनुयोगानर्हत्वात्।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ८५।

का प्रसंग उपस्थित होगा। क्योंकि दो निषेध प्रकृत रूप हो जाते हैं। यदि अभिन्न माना तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि अपने से अभिन्न भाव धर्म से जैसे घट में सत्त्व माना जाता है, उसी प्रकार अभाव धर्म से उसमें असत्त्व भी मान लेना चाहिये[1]।

अब प्रश्न यह आता है कि स्वरूप से भाव ही पररूप से अभाव है और पररूप से अभाव ही स्वरूप से भाव है—इस प्रकार भाव और अभाव में एक वस्तु में भेद नहीं होने से वस्तु उभयात्मक कैसे हो सकती है ?

इसका समाधान यह है कि भाव और अभाव से अपेक्षणीय निमित्त के भेद से उनमें भेद माना जाता है। स्वद्रव्यादिक निमित्त की अपेक्षा करके भावप्रत्यय को उत्पन्न करती है और परद्रव्यादिक निमित्त की अपेक्षा करके अभावप्रत्यय को। इस प्रकार एकत्व-द्वित्वादिसंख्या के समान एक वस्तु में भाव और अभाव का भेद है। एक द्रव्य में अन्य द्रव्य की अपेक्षा से प्रतीयमान द्वित्वादि संख्या, स्वात्म मात्र की अपेक्षा से मालूम होने वाली एकत्व संख्या से अन्य मालूम होती है। उसी प्रकार अपेक्षणीय के भेद से सत्त्व और असत्त्व का भेद है। भिन्न इन दोनों के एक वस्तु में प्रतीयमान होने से कौन विरोध है[2] ?

---

१. किं च घटादौ वर्तमानः पररूपाभावः घटाद् भिन्नः अभिन्नः वा ? यदि भिन्नः, तस्यापि परत्वात्, तदभावः तत्र कल्पनीयः। अन्यथा तस्य परत्वानुपपत्त्या घटादेः कथंचिद् असद्रूपत्वासिद्धेः। तदभाव-कल्पनायां च अनवस्था, तस्यापि परत्वात्। घटादिषु पररूपस्य आतान-वितानाकारस्य अभावाभावपरिकल्पनायां तेषां घटत्वापत्तिश्च, निषेधद्वयेन प्रकृतरूपसिद्धेः। यदि अभिन्नः, तर्हि सिद्धं स्वस्माद् अभिन्नेन भावधर्मेण घटादौ सत्त्ववद् अभावधर्मेण तादृशेन असत्त्वमपि स्वीकरणीयम्'।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८६।

२. ननु स्वरूपेण भाव एव पररूपेण अभावः, पररूपेण अभाव एव च स्वरूपेण भावः इति भावाभावयोरेकत्र वस्तुनि भेदाभावाद्, वस्तुनः कुतः तदुभयात्मकता, इतिचेत्, भावाभावापेक्षणीयस्य निमित्तस्य भेदादिति ब्रूमः। स्वद्रव्यादिकं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययं जनयति

और दूसरी बात यह भी है कि विरोध तीन प्रकार से आता है, एक वध्य-घातक भाव से, दूसरा सहानवस्थान रूप से और तीसरा प्रतिबध्यप्रतिबंधक रूप से। इनमें पहला विरोध सर्प और नकुल, वन्हि और जल के समान है। यह विरोध एक ही काल में वर्तमान दोनों के संयोग होने पर होता है, क्योंकि संयोग द्वित्व के समान अनेक के आश्रय से रहता है। पानी आग से संयुक्त होने पर ही आग को नष्ट करता है, असंयुक्त होने पर भी यदि जल आग को नष्ट करे तो सब जगह आग का अभाव हो जायगा। अतः संयोग के होने पर ही बलवत्तर से दूसरा उत्तरकाल में बाधित किया जाता है। इस प्रकार से अस्तित्व और नास्तित्व की क्षणमात्र भी एक में वृत्ति आप नहीं मानते हैं, जिससे उनमें वध्यघातकभाव रूप विरोध की कल्पना की जाय। यदि एक में उनकी वृत्ति मानते हैं तो उन दोनों का तुल्य बल होने से वध्यघातकभाव विरोध नहीं है। वध्यघातकभाव विरोध बलवान् और कमजोर में हुआ करता है। यहाँ सत्त्व और असत्त्व समान बलशाली हैं, इसलिये कोई एक दूसरे का घात नहीं कर सकता। अतः दोनों में वध्यघातक भाव विरोध नहीं हो सकता[1]।

अर्थः, परद्रव्यादिकं च अभावप्रत्ययम्, इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावत् एकवस्तुनि भावाभावयोः भेदः। नहि एकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्समात्रापेक्ष्यैकत्व-संख्यातः अन्या न प्रतीयते। नापि एकत्वद्वित्वरूपोभयसंख्या तद्वतो भिन्नैव, द्रव्यस्य असंख्येयत्वप्रसंगात्। तस्मात् सिद्धः अपेक्षणीयभेदात् संख्यावत् सत्त्वासत्त्वयोर्भेदः। भिन्नयोश्च अनयोः एक-वस्तुनि प्रतीयमानत्वात् को विरोधः।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८६।

१. 'किं च विरोधस्तावत् त्रिधा व्यवतिष्ठते, वध्यघातकभावेन, सहान-वस्थानात्मना वा, प्रतिबध्यप्रतिबंधकरूपेण वा। तत्र आद्ये तु अहि-नकुलाग्न्युदकादिविषयः। स च एकस्मिन् काले वर्तमानयोः संयोगे सति भवति, संयोगस्य अनेकाश्रयत्वात् द्वित्ववत्। न असंयुक्तम् उदकम् अग्निं नाशयति, सर्वत्र अग्न्यभावप्रसंगात्। ततः सति संयोगे बलीयसा उत्तरकालम् इतरद् बाध्यते। न हि तथा अस्तित्व-नास्तित्वयोः क्षणमात्रमपि एकस्मिन् वृत्तिः अस्ति इतिभवता अभ्यु-

दूसरा सहानवस्थान रूप विरोध भी यहाँ नहीं हो सकता। सहानवस्थान रूप विरोध भिन्न भिन्न काल में होने वालों में होता है, जैसे आम में हरापन व पीलापन। पीलापन उसमें उत्पन्न होते हुए ही हरापन को नष्ट कर देता है। पीलापन उत्तरकाल में होता है, हरापन पूर्व काल में। अतः भिन्न काल में होने के कारण हरापन और पीलापन में सहानवस्थान विरोध है। अस्तित्व और नास्तित्व धर्म, उस प्रकार पूर्व और उत्तर-कालभावी नहीं हैं। यदि होंगे तो अस्तित्व काल में नास्तित्व के अभाव से सब केवल जीव की सत्ता को प्राप्त कर लेंगे। तथा नास्तित्व के समय में अस्तित्व के अभाव होने से उसमें रहने वाले बन्ध और मोक्षादि व्यवहार में विरोध आवेगा। तथा सर्वथैव असत् वस्तु में आत्मलाभ नहीं हो सकेगा तथा सर्वथा सत् पदार्थ का अभाव नहीं हो सकेगा। अतः इन दोनों में सहानवस्थान विरोध नहीं युक्त होता है।[1]

तीसरा प्रतिबध्यप्रतिबन्धक भाव विरोध भी अस्तित्व और नास्तित्व में संभवित नहीं होता है। जिस प्रकार मणिरूप प्रतिबन्धक के रहने पर वन्हि से दाह नहीं होता है, इसलिये मणि और दाह का प्रतिबध्य और प्रतिबन्धक भाव युक्त है। अस्तित्व काल में उस प्रकार से नास्तित्व का प्रतिबन्ध नहीं है। स्वरूप से अस्तित्व के अनुभव के काल में पररूप से नास्तित्व का भी अनुभव

पगम्यते। यतो वध्यघातकरूपो विरोधः तयोः कल्प्येत। यदि च एकस्मिन् तयोः वृत्तिः अभ्युपगम्यते, तदा तयोः तुल्यबलत्वाद् न वध्यघातकभावः।'

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८७-८८।

—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३५८, ३५९।

१. 'नापि सहानवस्थानलक्षणो विरोधः, स च एकत्र कालभेदेन वर्तमानयोः भवति, यथा आम्रफले श्यामतापीततयोः। उत्पद्यमाना हि पीतता पूर्वकालभाविनीं श्यामतां नाशयति। न हि तथा अस्तित्व-नास्तित्वे पूर्वोत्तरकालभाविनी। यदि स्याताम्-अस्तित्वकाले नास्तित्वाभावात् जीवसत्तामात्रं सर्वंप्राप्नुवीत। नास्तित्वकाले च अस्तित्वाभावाद् तदाश्रयो बन्धमोक्षादिव्यवहारो विरोधमुपगच्छेत्। सर्वथैव असतः पुनः आत्मलाभाभावात्, सर्वथा च सतः पुनरभावप्राप्त्यनुपपत्तेः न एतयोः सहानवस्थानं युज्यते।'

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ८८।

होता है। अतः तीसरा विरोध भी इनमें नहीं जमता। अतः दोनों के एक में रहने में विरोध नहीं है।[1]

जो आपने विरोध में शीत और उष्णस्पर्श का दृष्टान्त दिया, वह भी ठीक से जमता नहीं है। धूपदानी में आगे के हिस्से में धूप जलती है, वह गरम रहता है, पकड़ने का हैण्डल ठंडा रहता है। इस प्रकार धूपजन्य उष्णता से सहित पात्र में अग्रभागावच्छेद से उष्ण स्पर्श और पृष्ठभागावच्छेद से शीत-स्पर्श दोनों ही समान काल में उपलब्ध होते हैं, अतः उनमें भी विरोध सिद्ध नहीं होता।[2]

जिस प्रकार एक ही वृक्ष में अवच्छेदक भेद से चलत्व और अचलत्व घटादि में अवच्छेदक-भेद से रक्तत्व और अरक्तत्व तथा शरीरादि में अवच्छेदक-भेद से आवृतत्व एवम् अनावृतत्व की उपलब्धि होने से अविरोध माना जाता है, उसी प्रकार अवच्छेदक भेद से सत्त्व और असत्त्व में एक जगह रहने में कोई विरोध नहीं है।[3]

इस विषय में थोड़ा सा विवेचन और कर लेते हैं। यह जो सत्त्व और असत्त्व में विरोध बताया जाता है, वह क्यों है ? उसका कारण क्या है ?

---

१. तथा अस्तित्वनास्तित्वयोः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावरूपविरोध अपि न संभवति। यथा-सति मणिरूपप्रतिबन्धके वन्हिना दाहो न जायते इति मणिदाहयोः प्रतिबध्यप्रतिबंधकभावो युक्तः, न हि तथा अस्तित्व-काले नास्तित्वस्य प्रतिबन्धः, स्वरूपेण अस्तित्वकाले अपि पररूपा-दिना नास्तित्वस्य प्रतीति-सिद्धत्वात्।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० ८८।

२. यत्तु शीतोष्णस्पर्शयोः इव इतिदृष्टान्तकथनम्, तदसत्, एकत्र धूप-घटादौ अवच्छेदकभेदेन शीतोष्णस्पर्शयोः उपलंभात् तयोरपि विरोधा-सिद्धेः।

—वही, पृ० ८९, षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३५९, ३६०।

३. यथैकत्र चलाचलात्मनोः वृक्षादौ, रक्तारक्तात्मनोः घटादौ, आवृ-तानावृतात्मनोः शरीरादौ च उपलंभात् अविरोधः, तथा सत्त्वासत्त्व-योरपि।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८९।

(१) क्या दोनों का स्वतन्त्र स्वरूप होने से ही उनमें विरोध होता है ?

(२) या दोनों एक समय में एक साथ नहीं रह सकते ?

(३) अथवा एक द्रव्य में दोनों एक साथ नहीं रह सकते ?

(४) अथवा एक काल में एक द्रव्य में नहीं रह सकते ?

(५) या एक समय में एक द्रव्य के एक प्रदेश में नहीं रह सकते ।[1]

(१) दोनों का स्वतन्त्र स्वरूप होने से ही तो विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शीतस्पर्श अपने स्वरूप से ही अन्य किसी समीपदेश संयोग आदि निमित्त के बिना ही यदि उष्ण स्पर्श का विरोधी हो जाय, या उष्ण स्पर्श शीत स्पर्श का विरोधी हो जाय, तो संसार से ही दोनों का लोप हो जाना चाहिये। शीत स्पर्श अपने स्वरूप के सद्भाव मात्र से जहाँ कहीं भी रहकर सारे त्रिलोक के उष्ण स्पर्श का नाश कर देगा तथा उष्ण स्पर्श अपने स्वरूप की सत्ता से ही त्रिलोक के शीतस्पर्श का लोप कर देगा।

(२) एक काल की अपेक्षा भी विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही समय में शीत और उष्ण दोनों का ही पृथक्-पृथक् सद्भाव हो सकता है, तथा है भी, उसी समय बरफ ठंडा तथा अग्नि गरम होती है।

(३) एक द्रव्य रूप आधार की अपेक्षा भी विरोध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही लोहे का बरतन रात में ठंडा तथा दिन में गरम देखा जाता है। उस लोहे के बरतन में रहने वाले शीत स्पर्श तथा उष्ण स्पर्श में कोई विरोध नहीं देखा जाता।

(४) एक द्रव्य में एक समय में भी दो धर्मों का विरोध नहीं माना जा सकता; क्योंकि धूपदानी तथा कड़छी आदि एक ही अवयवी द्रव्य में उसी समय एक ओर ठंडापन तथा दूसरी ओर उष्ण स्पर्श पाया जाता है। धूपदानी और

---

१. 'किंच, अयं विरोधः किं स्वरूपमात्रसद्भावकृतः, उत एककालासंभवेन, आहोस्विद् एकद्रव्यायोगेन, किम् एककालैकद्रव्याभावतः, उत एककालैकद्रव्यैकप्रदेशासंभवात् ।'

—षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३५६।

कड़छी को जिस तरफ से पकड़ते हैं, वह उस ओर ठंडी तथा दूसरी ओर गरम रहती है।

(५) एक समय में एक द्रव्य के एक ही प्रदेश की अपेक्षा भी विरोध नहीं कह सकते, क्योंकि तपे हुए लोहे के बरतन के जिस प्रदेश में स्पर्श की अपेक्षा उष्णता पाई जाती है, उसी प्रदेश में रूप की अपेक्षा शीतलता सुहावनापन मालूम पड़ता है। यदि उसका रूप भी गरम होता तो देखने वालों की आँखें जल जानी चाहिये थीं।[1]

अब प्रश्न रह जाता है कि एक की एक साथ उभयरूपता कैसे घटित हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार एक ही पुरुष एक ही समय में एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से छोटा, बड़ा, बूढ़ा, जवान, बच्चा, पुत्र व पिता, गुरु व शिष्य आदि परस्पर विरुद्ध रूपों को धारण करता है, उसी तरह सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु में एक ही साथ पाये जाते हैं। जिस समय देवदत्त अपने पुत्र का पिता है, उसी समय वह अपने पिता का पुत्र भी तो है। अपने शिष्य का यदि गुरु है तो अपने गुरु का शिष्य भी तो है। यदि किसी कम उमर वाले जवान की अपेक्षा बूढ़ा है तो किसी अधिक उमर वाले बूढ़े की अपेक्षा जवान भी तो है। तात्पर्य यह कि एक ही साथ भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में अनेकों विरोधी धर्म

---

१. तत्र आद्यो न युक्तः, यतः नहि शीतस्पर्शः अनपेक्षितान्यनिमित्तः स्वात्मसद्भाव एव उष्णस्पर्शेन सह विरुध्यते, उष्णस्पर्शो वा इतरेण, अन्यथा त्रैलोक्ये अपि अभावः स्यादनयोः इति।

नापि द्वितीयः, एकस्मिन्नपि काले पृथक्-पृथक् द्वयोः अपि उपलंभात्।

नापि तृतीयः, एकस्मिन् अपि लौहभाजने रात्रौ शीतस्पर्शः, दिवा च उष्णस्पर्शः समुपलभ्यते, न च तत्र विरोधः।

नापि तुरीयः, धूप-कडुच्छकादौ द्वयोः अपि उपलंभात्।

पंचमो अपि न घटते, यत एकस्मिन्नेव तप्तलोहभाजने स्पर्शापेक्षया यत्रैव उष्णत्वं तत्रैव प्रदेशे रूपापेक्षया शीतत्वम्। यदि हि रूपापेक्षया अपि उष्णत्वं स्यात्, तर्हि जननयनदहनप्रसंगः।

—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३५९, ३६०।

रहते हैं। इसीलिये पदार्थों में सर्वथा अत्यन्त विरोध तो नहीं कहा जा सकता। कथंचित् थोड़ा बहुत विरोध तो सभी पदार्थों में पाया जाता है। जो एक वस्तु में धर्म है, वह दूसरी में नहीं है। वस्तुओं में कथंचिद् विरोध हुए बिना भेद ही नहीं हो सकता। अतः कथंचित् विरोध तो प्रयत्न करने पर भी नहीं हटाया जा सकता। अतः वह अपरिहार्य—अवश्यंभावी होने से दूषणरूप नहीं है।[1]

इसमें सर्वसम्मत एक उदाहरण लीजिये। कोई भी विद्वान् अपनी इष्टार्थ-सिद्धि के लिये योग्य हेतु का प्रयोग अवश्य करता है। उसके बिना केवल प्रतिज्ञा मात्र से अर्थसिद्धि असंभव है। वह हेतु अपने पक्ष का साधक और परपक्ष का दूषक होता है। जिस रूप से हेतु साधक है, और जिस रूप से हेतु दूषक है, वे दोनों रूप हेतु से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों हेतु के धर्म हैं, हेतु की अपेक्षा से कथंचिद् अभिन्न हैं। तथा उसके दो कार्य परस्पर एक दूसरे से विपरीत हैं, अतः कथंचिद् वे दोनों भिन्न भी हैं। तथा दोनों रूप साधकत्व एवं दूषकत्व एक दूसरे से विपरीत होने से विरोधयुक्त भी हैं। फिर भी एक हेतु में दोनों रूप रहते हैं। इसमें किसी की भी विप्रतिपत्ति नहीं है। इसी प्रकार एक वस्तु में प्रतीयमान सत्त्व और असत्त्व के रहने में कोई विरोध नहीं है।[2] आचार्य शान्तिरक्षित के द्वितीय तर्क का समाधान भी उपर्युक्त समाधान से हो जाता है।

---

१. 'ननु एकस्य युगपदुभयरूपता कथं घटते इति चेत्, न, यतो यथा एकस्यैव पुरुषस्य अपेक्षावशात् लघुत्व-गुरुत्व-बालत्व-वृद्धत्व-युवत्व-पुत्रत्व-पितृत्व-गुरुत्व-शिष्यत्वादीनि परस्परविरुद्धान्यपि युगपद् अविरुद्धानि, तथा सत्त्वासत्त्वादीनि अपि। तस्मान्न सर्वथा भावानां विरोधो घटते। कथंचिद् विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यो न बाधकः।'

—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६०।

२. अथैवम् उपपत्त्या विरोधादिदोषाभावे प्रतिपादिते अपि मिथ्यादर्शनाभिनिवेशात् तत्त्वम् अप्रतिपद्यमानं प्रति पुरुषं सार्वलौकिकहेतुवादम् आश्रित्य उच्यते।

स्वेष्टार्थसिद्धिमिच्छता प्रवादिना हेतुः प्रयोक्तव्यः, प्रतिज्ञामात्रेण अर्थसिद्धेः अभावात्। स च हेतुः स्वपक्षस्य साधकः, पर-

श्री जयराशिभट्ट का द्वितीय तर्क इस प्रकार है—'जिस प्रकार पररूप से भावत्व स्वीकार करने पर पररूप का अनुप्रवेश होता है, उसी प्रकार अभावत्व के स्वीकार करने पर पररूप का अनुप्रवेश होता ही है। अतः सब सर्वरूप हो जायेंगे।'

जिस प्रकार घट में घटत्वावच्छेद से भावत्व स्वीकार करने का अर्थ है घट में घटत्व का रहना, इसीलिये घट में रहने वाले सत्त्व का अवच्छेदक घटत्व होता है। उसी प्रकार घट में पटत्वावच्छेद से अभाव रहता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि घट में पटत्व रहता है, अपितु घट में पटत्व नहीं रहता है—यह अर्थ होता है। तो फिर अभाव बतलाने से पररूप पटत्व का अनुप्रवेश घट में कैसे हो जाता है? यदि घट में पटत्व का अनुप्रवेश है तो फिर उसका अभाव बतलाना व्याघात है। अतः पटत्व का अनुप्रवेश मान लिया जाय तो वह अभाव का अवच्छेदक नहीं बन सकता। वह अभाव का अवच्छेदक है, तो वह घट में नहीं रह सकता, अपितु वह पट में रहता है। इस विवेचन से यह मतलब निकलता है कि अभावत्व के मानने पर भी पररूप का घट में अनुप्रवेश संभव ही नहीं है। अतः सब सर्वरूप होने का भी प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

अब प्रश्न यह आता है कि 'घट में पटत्वाच्छेदेन अभाव है', इसका यह अर्थ हुआ कि 'घट में पटत्वाभाव है'। पटत्वाभाव का मतलब है कि 'पटत्व-प्रतियोगिक अभाव'। इस तरह अभाव के साथ प्रतियोगिता संबंध से पटत्व का अनुप्रवेश घट में होता है।

इसका समाधान यह है कि प्रतियोगिता संबंध से पटत्व के अनुप्रवेश का यह अर्थ नहीं माना जाता कि घट में पटत्व रहता है। भूतल में घटाभाव है, इसका अर्थ है—'भूतल में घट-प्रतियोगिक अभाव है'। इसका मतलब यह नहीं

पक्षस्य दूषकः च। येन रूपेण हेतोः साधकत्वं, येन च रूपेण दूषकत्वं, न तादृशे रूपे हेतोः अत्यन्तभिन्ने, तयोः हेतुधर्मत्वेन हेत्वपेक्षया कथंचिदभिन्नत्वात्।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ९०।

होता कि प्रतियोगिता संबंध से घट के संबद्ध रहने पर भूतल भी घटवान् बन जाय। किसी भी धर्म के तादात्म्य या समवाय संबंध से रहने पर ही वह वस्तु तद्वान् मानी जाती है, अन्य संबंध से रहने पर नहीं। यह सर्वदर्शन सम्मत है। अतः प्रतियोगिता संबंध से पटत्व के संबद्ध रहने पर भी घट पटत्ववान् कभी भी नहीं बन सकता। अतः पूर्वोक्त कथन अयोग्य है।

श्री जयराशि भट्ट का तृतीय तर्क भी जात्युत्तर सदृश है। उनका कथन है—'यदि पररूप का अभाव है, और वह वस्तु में अनुपलब्ध है, तो आप उसके द्रष्टा कैसे हो सकते हैं? अनुपलब्ध वस्तु का द्रष्टा कोई भी नहीं बन सकता।'

श्री जयराशि भट्ट के कथन के अनुसार भूतल में घट नहीं है, अर्थात् घट अनुपलब्ध है, तो उसका याने घटाभाव का द्रष्टा कोई नहीं हो सकता। इसका मतलब यह हुआ कि श्री भट्ट के मत में अभाव का द्रष्टा याने ज्ञानकर्ता कोई नहीं हो सकता, याने अभाव का ज्ञान विश्व में असंभव है।

दार्शनिक जगत् में सभी दर्शनकार अभाव का ज्ञान होना मानते हैं। वेदान्ती आदि अभाव के ज्ञान के लिये अनुपलब्धि प्रमाण अलग से मानते हैं। अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान होता है। जो लोग नैयायिक आदि अनुपलब्धि प्रमाण नहीं मानते हैं, उनमें से कुछ अनुपलब्धि प्रमाण का अंतर्भाव अनुमान में कर लेते हैं। न्यायदर्शनकार तो अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं। उसमें सन्निकर्ष है—'विशेषण-विशेष्यभाव'। घटाभाववान् भूतल है—इस प्रत्यक्ष में घटाभाववान् भूतल में घटाभाव विशेषण है। इस प्रकार चाहे अनुमान से, अनुपलब्धि से या प्रत्यक्ष से, सर्वदर्शनकार अभाव का ज्ञान तो करते ही हैं। किसी के भी मत में अभाव अज्ञात नहीं है। अतः अनुपलब्ध वस्तु का भी ज्ञान होता है, इस बात में सर्वदर्शनकार सहमत हैं। अतः श्री जयराशि भट्ट का उपर्युक्त कथन तर्कसंगत नहीं है। उनके अनुपलब्ध शब्द का अर्थ है अभाव, और अभाव का ज्ञान होता ही है।

अब आचार्य कर्णकगोमि एवं आचार्य शान्तिरक्षित को लेते हैं। आचार्य कर्णकगोमि का कथन है—'सामान्य और विशेष-उभयस्वरूप वस्तु के मानने पर या तो अत्यन्त अभेद रहेगा या अत्यन्त भेद। कथंचिद् भेद नहीं हो सकता। अतः स्याद्वाद मिथ्यावाद है।'

आचार्यजी का तर्क यह है—वस्तु सामान्य और विशेष—उभयात्मक नहीं हो सकती। सामान्य और विशेष में यदि परस्पर भेद माना तो एकान्त रूप से उनमें भेद ही होगा, भिन्न होने पर एक वस्तु में रहना संभव नहीं है। अभेद माना तो दोनों एक रूप होंगे, या तो सामान्य ही रहेगा या विशेष ही, परस्पर विरोधी धर्म एक स्थान पर नहीं रह सकते। कथंचिद् भेद तो हो नहीं सकता।

आचार्य शान्तिरक्षित का कहना है कि सामान्य और विशेष एक ही वस्तु में रहते हैं, तो एक वस्तु से अभिन्न होने के कारण सामान्य और विशेष में स्वरूप सांकर्य दोष आवेगा। यदि सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न हैं और उनसे वस्तु अभिन्न है, तो वस्तु में भेद हो जायगा।'

दोनों आचार्यों के तर्क प्रायः एक हैं। आचार्य शान्तिरक्षित ने स्वरूप सांकर्य दोष और उद्भावित किया है।

सामान्य और विशेष अलग-अलग धर्म हैं, अतः वे अभिन्न नहीं हैं। भिन्न होकर भी एक वस्तु में रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं आता। प्रतीयमानवस्तु में प्रतीयमान दोनों धर्मों में विरोध नहीं होता। जैसे न्याय-दर्शनकार के मत में पृथिवीत्व-द्रव्यत्व की दृष्टि से व्याप्य है और घटपटादि की दृष्टि से व्यापक है। इस प्रकार पृथिवी सामान्य और विशेष उभय है। उनमें विरोध नहीं रहता। अथवा एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से पुत्रत्व एवं पितृत्व दोनों धर्म रहने में कोई विरोध नहीं है, उसी तरह एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष रहने में कोई विरोध नहीं है। यह हम ऊपर विरोध के समाधान में कह आये हैं।

सभी घटों में घट-घट व्यवहार होने के कारण घट सामान्य है और पटादि से व्यावृत्तिजनक होने से विशेष भी है। जिस प्रकार घट से घटत्व के भिन्न होने पर भी घटत्व घट में तादात्म्य संबंध से रहता है, अतः कथंचिद् अभिन्न भी है। सर्वथा अभिन्न होने से या तो घट ही होगा या घटत्व ही होगा। सर्वथा भिन्न होने से घट को छोड़कर घटत्व अलग भी रहेगा। पर रहता नहीं है। अतः भिन्न और अभिन्न दोनों है। वस्तु में दोनों रहते हैं, वस्तु का स्वरूप ही अनेकधर्मात्मक है।

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है तो हम उसके बारे में अपनी व्यवस्था कैसे कर सकते हैं ?[1]

स्वरूपसांकर्य दोष भी यहाँ नहीं है। वस्तु से सामान्य और विशेष भिन्नाभिन्न है। एकान्त रूप से अभिन्न रहता, तो स्वरूप सांकर्य दोष आता। पर वैसा नहीं है। जिस प्रकार मेचक ज्ञान एक होकर भी अनेक स्वभाव वाला होते हुए भी वहाँ संकर या व्यतिकर दोष नहीं आता है। अथवा जिस प्रकार हेतु में साधकत्व और दूषकत्व दोनों धर्म रहते हैं। हेतु की अपेक्षा से उन दोनों के अभिन्न होने के कारण जिस रूप से साधकत्व है उसी रूप से दूषकत्व होने से संकर दोष नहीं आता है, अथवा जिस रूप से साधकत्व है. उसी रूप से दूषकत्व ही है। इस प्रकार व्यतिकर दोष नहीं आता है। उसी प्रकार यहाँ भी संकर एवं व्यतिकर दोष नहीं आते हैं।[2] अनेकान्तवाद में परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में रहते हैं और वे वस्तु से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। अतः दोनों दोषों का अनेकान्त व्यवस्था में सम्भव नहीं है। व्यतिकर दोष भी संकर के सदृश है, अतः संकर के साथ समाधान में व्यतिकर दोष भी ले लिया।

'परस्पर विरोधी धर्म एक स्थान पर नहीं रह सकते'—यह कर्णकगोमि के तथा 'विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी हैं, अतः वे एक वस्तु में नहीं रह सकते'—यह आ० शान्तिरक्षित के कथन का समाधान विरोध के समाधान से समाहित हो जाता है। अलग से इसके समाधान की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य व्योमशिव ने तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं—

---

१. आचार्य धर्मकीर्ति का श्लोक यहाँ स्मरणीय है—
'यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्'।

—प्रमाणवार्तिक श्लोक, २१० पृ० १६३।

२. संकरव्यतिकरौ अपि मेचकज्ञानदृष्टान्तेन निरसीनयौ। तथा मेचकज्ञानम् एकम् अपि अनेकस्वभावम्, न च तत्र संकरव्यतिकरौ, एवमत्रापि। किं च यथानामिकायाः युगपन्मध्यमाकनिष्ठिकसंयोगे, ह्रस्वदीर्घत्वे, न च तत्र संकरादिदोषः। एवमत्रापि।

—षड्दर्शन समुच्चय, पृ० ३६४।

(१) एक धर्मी में विरोधी धर्म नहीं रह सकते।

(२) मुक्ति में अनेकान्त माना तो वह मुक्त भी है और संसारी भी है।

(३) अनेकान्त में अनेकान्त माना तो अनवस्था दोष है।

प्रथम तर्क का समाधान विरोध के समाधान से समाहित हो जाता है।

दूसरा तर्क मुक्ति में अनेकान्त मानने से सम्बन्धित है। अनेकान्त दर्शन मुक्ति में भी अनेकान्त मानता है। यह अनेकान्त दर्शन को इष्ट है। स्वसत्व से मुक्त है और पर सत्व से अमुक्त है। अन्यथा वह मुक्त ही न हो सकेगा। जिस प्रकार स्वरूप से घट है, पटरूप से घट नहीं है। यदि पटरूप से भी घट माना तो वह पटरूपावच्छिन्न होने से पट हो जायगा। घट पट नहीं है, अत: पटरूप से घट में अभाव मानना ही चाहिये। उसी प्रकार स्वरूप से वह मुक्त है, पररूप से अमुक्त याने मुक्त नहीं है।[1]

इसी प्रकार के विरोधी तर्क ये हैं—

'अनेकान्त में प्रमाण भी अप्रमाण, सर्वज्ञ भी असर्वज्ञ, सिद्ध भी असिद्ध है।' इनका समाधान[2] भी उपर्युक्त समाधान से हो जाता है। प्रमाण भी स्वविषय

---

१. मुक्तस्य अर्थः जैनदर्शने सिद्धः।
सिद्धः अपि स्वकर्मपरमाणुसंयोगक्षयापेक्षया सिद्धः, परजीवकर्म-संयोगापेक्षया तु असिद्धः। यदि तदपेक्षयापि सिद्धः स्यात्, तदा सर्व-जीवानां सिद्धत्वप्रसक्तिः स्यात्।

—षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३६५।

२. एतेन यदपि उच्यते 'अनेकान्ते प्रमाणम् अपि अप्रमाणं, सर्वज्ञः अपि असर्वज्ञः·········तदपि अक्षरगुणनिकामात्रम् एव। यतः प्रमाणमपि स्वविषये प्रमाणं, परविषये च अप्रमाणम् इति स्याद्वादिभिः मन्यत एव। सर्वज्ञः अपि स्वकेवलज्ञानापेक्षया सर्वज्ञः, सांसारिक-जीवज्ञाना-पेक्षया तु असर्वज्ञः। यदि तदपेक्षयापि सर्वज्ञः स्यात्, तदा सर्वजीवानां सर्वज्ञत्वप्रसंगः, सर्वज्ञस्यापि छाद्मस्थिकज्ञानित्व-प्रसंगो वा।

—षड्दर्शन समुच्चय, पृ० ३६५ तथा सन्मति तर्क पृ० १६६।

में प्रमाण है, पर विषय में अप्रमाण है। प्रमाण का अर्थ है प्रमा याने यथार्थ ज्ञान का करने वाला। प्रमाण जब घट को विषय करता है, तब घटविषयक प्रमा उत्पन्न होती है। पट विषयक प्रमा उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि पट प्रमाण का विषय ही नहीं है। अतः पटविषयता की दृष्टि से वह अप्रमाण ही है। यदि पर विषय से भी उसको प्रमाण माना, याने पटविषयता की दृष्टि से भी उसको प्रमाण माना गया तो बिना विषयता के याने विषय हुए बिना ही पट का ज्ञान हो जायगा, ऐसा मानना पड़ेगा। बिना विषयता के याने बिना विषय बनाये कोई भी प्रमाण वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकता है। अतः पर-विषय से वह अप्रमाण है—यह मानना ही चाहिये।

इसी प्रकार सर्वज्ञ भी अपने केवल ज्ञान की अपेक्षा से सर्वज्ञ है, सांसारिक जीव के ज्ञान की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ है। यदि उसकी अपेक्षा से भी सर्वज्ञ मान लिया तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह सांसारिक जीव भी सर्वज्ञ हो गया। इस प्रकार सब जीव सर्वज्ञ बन जायेंगे। अथवा सर्वज्ञ भी अल्पज्ञ हो जायगा। सर्वज्ञ अपने ज्ञान के द्वारा ही सबको जानता है। यदि वह हम लोगों के ज्ञान के द्वारा भी पदार्थों का ज्ञान कर सके तो फिर उसकी आत्मा और हमारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं रहेगा। जिस तरह हम अपने ज्ञान से जानते हैं, उसी तरह सर्वज्ञ भी हमारे ही ज्ञान से जानता है। अतः सर्वज्ञ और हमारी आत्मा में अभेद होने से या तो सर्वज्ञ की तरह हम सब लोग सर्वज्ञ हो जायेंगे, या हमारी तरह सर्वज्ञ भी अल्पज्ञ हो जायगा।

सिद्ध मुक्त जीव भी अपने साथ लगे हुए कर्म परमाणुओं से छूटकर सिद्ध हुए हैं, अतः वे स्वसंयोगी कर्म परमाणुओं की अपेक्षा से सिद्ध हुये हैं, न कि अन्य आत्माओं से संयुक्त कर्म परमाणुओं की अपेक्षा से। यदि वे अन्य आत्माओं से संयुक्त कर्म परमाणुओं की अपेक्षा भी सिद्ध माने जायँ तो इसका यह अर्थ हुआ कि 'अन्य आत्माओं के धर्म भी सिद्ध जीव के स्वपर्याय हैं, तभी तो वह अन्य आत्माओं से संयुक्त कर्म परमाणुओं की अपेक्षा भी सिद्ध माना जाता है। इस तरह अन्य संसारी आत्माएं तथा सिद्ध आत्माओं में सीधा स्वपर्याय का संबंध होने से अभेदरूपता हो जायगी, और इससे या तो समस्त संसारी जीव सिद्ध हो जायेंगे या फिर सिद्ध संसारी हो जायेंगे। अभेद पक्ष में एकरूपता ही हो सकती है, या तो सब संसारी बने रहें या फिर सब मुक्त हो जायँ।

इसी तरह अनेकान्तवाद में 'कहा हुआ भी वचन कथंचित् नहीं कहा हुआ,

किया हुआ भी कार्य कथंचित् नहीं किया हुआ, खाया हुआ भी भोजन कथंचित् नहीं खाया हुआ होना चाहिये' इत्यादि दूषण भी असत्य है, क्योंकि एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से विरोधी धर्म मानना प्रमाण सिद्ध है। जो कार्य किया गया है, उसकी ही अपेक्षा से 'कृत', जो बात कही गई है, उसकी ही अपेक्षा से 'उक्त' तथा जो भोजन खाया गया है, उसकी ही अपेक्षा से 'भुक्त' व्यवहार हो सकता है, न कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से। अतः अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से 'अकृत, अनुक्त, अभुक्त' व्यवहार होने में कोई बाधा नहीं आती।[1]

अब तीसरा तर्क है—अनेकान्त में अनेकान्त माना तो अनवस्था दोष है। अनवस्था दोष का निरूपण इस तरह है। जिस रूप से वस्तु सत् है, उस रूप से क्या वह सत् ही है, या उस रूप से भी वह सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म वाली है ? यदि उस रूप से सत् ही है, तो इस प्रकार एकान्तवाद आ जायगा और अनेकान्त की हानि है। यदि जिस रूप से सत् है, उस रूप से वह सदसत् दोनों ही धर्म वाली है, तो अनवस्थादोष आता है, क्योंकि वहाँ भी यही प्रश्न बराबर रहेगा कि वस्तु जिस रूप से सत् है, उस रूप से सत् है या सदसत् ? यदि सत् है तो अनेकान्त हानि, यदि सदसत् है तो वही प्रश्न फिर होगा। इस तरह अनेक अप्रामाणिक धर्मों की कल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। अनवस्था आने से निश्चय नहीं हो पाता है।

इसी तरह जिस स्वरूप से भेद है, उस स्वरूप वस्तु में भेद ही है या भेद अभेद—दोनों हैं ? यदि सर्वथा भेद ही माना जाय तो एकान्तवाद का प्रसंग आकर अनेकान्त की क्षति होगी। यदि भेद और अभेद दोनों हैं तो वही प्रश्न बराबर चालू रहेगा। इस तरह अनवस्था दोष आता है। इसी प्रकार नित्या-नित्य, सामान्य-विशेष आदि में भी अनवस्था दोष आता है।

'अनन्तधर्मों से अध्यासित वस्तु के स्वरूप को अनेकान्त कहते हैं'[2]—यह

---

१. एवं 'कृतमपि न कृतम्, उक्तमपि अनुक्तम्, भुक्तमपि अभुक्तम्' इत्यादि सर्वं यदुच्यते परैः, तदपि निरस्तं वेदितव्यम्।

—षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३६५ ६६।

२. अनन्तधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपम् अनेकान्तः।

—सन्मतितर्क पृ० १६६।

अनेकान्त की परिभाषा है। इसमें स्वरूप अन्य धर्म की अपेक्षा नहीं करता है, ऐसा माना जाता है। जिससे वहाँ अन्य रूप की अपेक्षा करने से अनवस्था प्रेरित की जाय। यदि अन्य रूप की अपेक्षा की जाय तो पदार्थ के स्वरूप की व्यवस्था ही समाप्त हो जायगी, क्योंकि अन्य अन्य धर्म की अपेक्षा से प्रतिनियत अपेक्षा वाले धर्म स्वरूप की ही व्यवस्था नहीं बन पायगी।[1]

यहाँ आचार्य हरिभद्र का यह समाधान है कि सत्त्व और असत्त्व वस्तु के धर्म हैं, धर्मों के धर्म नहीं हैं। क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'धर्मों के धर्म नहीं होते हैं'। 'धर्म निर्धर्म होते हैं।' 'धर्म धर्मरूप ही है।' इस एकान्त के मानने से अनेकान्त की हानि नहीं हो सकती। क्योंकि अनेकान्त सच्चे एकान्त का अविनाभावि होता है[2]। यदि सम्यगेकान्त न हो तो उनका समुदायरूप अनेकान्त ही नहीं बन सकता। नय की दृष्टि से एकान्त तथा प्रमाण की दृष्टि से अनेकान्त माना जाता है। जो एकान्त वस्तु के दूसरे धर्मों की अपेक्षा करता है, उनका निराकरण नहीं करता, वह सदेकान्त है। यह सुनय का विषय है। इसीलिये तो घट स्वरूप की अपेक्षा से सद् ही है' आदि वाक्यों में निर्धारण के लिये एवकार का प्रयोग किया जाता है। अतः अनवस्था दूषण

---

१. नहि स्वरूपम् अपरधर्मापेक्षम् अभ्युपगम्यते, येन तत्र रूपान्तरोपक्षेपेण अनवस्था प्रेर्येत। तदपेक्षत्वे पदार्थस्वरूपव्यवस्थैव उत्सीदेत्। अपरापरधर्मापेक्षत्वेन प्रतिनियतापेक्षधर्मस्वरूपस्येव अव्यवस्थितेः।

—सन्मति तर्क पृ० १६६।

२. 'यतः सत्त्वादयो वस्तुन एव धर्माः, न तु धर्माणां धर्माः, 'धर्माणां धर्मा न भवन्ति' इति वचनात्। न च एवम् एकान्ताभ्युपगमात् अनेकान्त-हानिः। अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात्। अन्यथा अनेकान्तस्य एव अघटनात्। नयार्पणादेकान्तस्य, प्रमाणार्पणात् अनेकान्तस्यैव उपदेशात्। तथैव दृष्टेष्टाभ्याम् अविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः।

—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६१।, अष्टसाहस्री पृ० २०७।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३५।, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र श्लो० १०३।

नहीं आता है। धर्म यदि धर्मान्तर की अपेक्षा करे, तो अनवस्था आती है। यदि अपेक्षा नहीं करे तो अनवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता[1]।

आचार्य हरिभद्र एक कदम और आगे बढ़ाकर कहते हैं—'प्रमाण की दृष्टि से सत्त्व में भी सत्त्व और असत्त्व की कल्पना खुशी से कीजिये, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है, और न कोई दोष उसमें है। इस स्थिति में अनवस्था दूषण की बात कहना तो निरर्थक ही है, क्योंकि ऐसी अनवस्था—अनन्त धर्मों की कल्पना तो अनेकान्त की साधक होने से भूषणरूप है, न कि दूषण। यह अनन्तधर्मकल्पना रूप अनवस्था तो मूल वस्तु का नाश नहीं करने के कारण उलटी अनेकान्त का उद्दीपन ही करती है। इससे अनेकान्त की पुष्टि ही होती है। जहाँ मूल वस्तु का लोप होता है, वहीं अनवस्था दूषण रूप है। कहा भी है—

'मूलक्षयकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्'।

मूल का क्षय करने वाली अनवस्था दूषण है। यहाँ तो अनन्त धर्म की कल्पना करने वाली अनेकान्त की पोषक है। अतः अनवस्था दोष नहीं है।[2]

अब शंकराचार्य के कथन को लेवें। उनकी अनेकान्त विरोधी तर्क प्रणाली में दस बातें सामने आती हैं[3]। तथा उनमें तर्क चार हैं।

(१) सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरोधी धर्म होने से एकधर्मी में नहीं रह सकते।

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६१।

२. किं च—प्रमाणार्पणया सत्त्वे अपि सत्त्वासत्त्वकल्पनापि भवतु। न च तत्र कश्चनापि दोषः। ननु उक्तमनवस्था इति चेत्, न, यतः सापि अनेकान्तस्य भूषणं, न दूषणम्, अमूलक्षतिकारित्वेन प्रत्युत अनेकान्तस्य उद्दीपकत्वात्। मूलक्षतिकरी हि अनवस्था दूषणम्।

—षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३६१, अष्टसाहस्री पृ० २०७।

३. इसी के अध्याय ३ में देखिये।

(२) अनेकान्त से अनिश्चय की स्थिति होने से संशय उत्पन्न होने से प्रवृत्ति नहीं होगी।

(३) अनेकान्त निरंकुश है। वह सब जगह लागू होगा, और उससे सर्वत्र अनिश्चय होने से विचार में निश्चय नहीं हो सकेगा।

(४) पदार्थों का विवेचन करना और अवक्तव्य कहना—दोनों बातें विरोधी होने से असंगत हैं।

प्रथम संख्या वाला कथन प्रथम तर्क में अंतर्भूत है। द्वितीय संख्या वाला कथन द्वितीय तर्क में सम्मिलित है। तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, आठ, नौ और दस संख्या वाले कथन तृतीय तर्क में समाविष्ट हैं। सप्तम संख्या वाला कथन चतुर्थ तर्क में मिला हुआ है। इस प्रकार आचार्यजी के १० कथन चार तर्कों में सम्मिलित हैं।

प्रथम तर्क का समाधान विरोध के समाधान में हम विस्तृत रूप से दे आये हैं। सत्त्व और असत्त्व वस्तु के प्रतीयमान धर्म हैं, अतः उनमें विरोध नहीं आ सकता। वस्तु में स्वरूपतः सत्त्व मानने में तो किसी का विवाद है ही नहीं। विवाद है असत्त्व के मानने में। हम इस प्रश्न का गंभीरतया विचार करें कि क्या घट, पट है? इस प्रश्न का उत्तर हमें यही देना पड़ेगा कि घट, पट नहीं है। अब इस वाक्य का विश्लेषण करें। जिसका अभाव है, वह उसका प्रतियोगी। अतः पट-प्रतियोगिक अभाव का अधिकरण घट ही हुआ। घट के अतिरिक्त वहाँ अन्य वस्तु है ही नहीं, अतः अधिकरण घट ही है। अभाव का अधिकरण घट है, इसका मतलब यह हुआ कि घट में पटत्वावच्छेद से असत्त्व रहा। अतः अनुभूयमान धर्म को मानने से हमारा इन्कार करना उचित नहीं है। यदि हम पटत्वावच्छेदेन असत्त्व का घट में इन्कार करें तो इसका अर्थ यह होता है—घट पट है। इसमें प्रत्यक्षबाध है। अतः विवश होकर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि घट पट नहीं है। इसी का शाब्द बोध यह है कि पट प्रतियोगिक अभाव का अधिकरण घट है, अथवा पटत्वावच्छेदेन असत्त्व घट में है। जब दोनों ही धर्म वस्तु में प्रतीयमान हैं, तो उनमें विरोध की गुंजाइश बिलकुल नहीं है। अनुभवसिद्ध वस्तु में विरोध की कल्पना उचित नहीं है। आचार्यजी का दूसरा तर्क यह है कि अनेकान्त से अनिश्चय या अनिर्धारण

की स्थिति आती है, उससे संदेह उत्पन्न होगा, परिणामतः प्रवृत्ति नहीं होगी।

यह बात सत्य एवं उचित है कि अनिश्चय की स्थिति से संदेह उत्पन्न होता है और संदेह से प्रवृत्ति नहीं होती। परन्तु इस बात में महान् आश्चर्य है कि अनेकांन्त से अनिर्धारण की स्थिति कैसे आती है? अनेकान्त तो जो कुछ कहता है, वह निर्धारित स्वरूप ही कहता है। अनेकान्त का कथन है, स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव। इस कथन को कोई भी व्यक्ति अनिश्चय नहीं कह सकता है। निश्चय के लिये वहाँ एवकार[1] का प्रयोग आवश्यक रूप से किया जाता है। स्यात् का अर्थ है किसी अपेक्षा से—कथंचित्। जैसे घट में स्व-स्वरूप की अपेक्षा से सत्त्व ही है। स्वस्वरूप की दृष्टि से सत्त्व के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं रहता। यह निश्चयात्मक कथन है। इसमें अनिर्धारण व संशय का अंश भी बिलकुल नहीं आता।

संशय का लक्षण न्यायभाष्यकार ने इस प्रकार दिया है—समान अनेकधर्म की उपपत्ति से उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष की अपेक्षा रखने वाला विमर्श संशय कहलाता है।[2]

---

१. **वाक्येऽवधारणं तावद् अनिष्टार्थनिवृत्तये,**
कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तत्र कुत्रचित्।

—श्लोकवार्तिक अ० १, सू० ६, श्लोक ५३।

—युक्त्यनुशासन श्लोक ४१-४२।

प्रकृते अयोगव्यवच्छेदबोधकस्य एव एवकारस्य स्वीकृतत्वात्। क्रिया-संगतस्य एवकारस्यापि क्वचिद् अयोगव्यवच्छेदबोधकत्वदर्शनात्। यथा 'ज्ञानम् अर्थं गृह्णाति एव' इत्यादौ ज्ञानत्वसमानाधिकरणा-त्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्य अर्थग्राहकत्वे धात्वर्थे बोधः।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० २७।

२. **समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।**

—न्यायभाष्य १।१।२३ पृ० ४२-४३।

मुक्तावली में संशय का लक्षण इस प्रकार है—(एकधर्मिक विरुद्धभावाभाव-प्रकारकं ज्ञानं संशयः) एक धर्मी में विरुद्ध भाव और अभाव के प्रकार वाला ज्ञान संशय है[1]। इसमें विरुद्ध शब्द महत्त्व का है। उस शब्द के अभाव में वृक्ष कपिसंयोगवाला एवं कपिसंयोग के अभाव वाला है इस प्रमा के संशय के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी, अतः विरुद्ध दिया गया। संयोग एवं संयोगाभाव विरुद्ध धर्म नहीं है, अतः वहाँ अतिव्याप्ति नहीं जाती।

इसी प्रकार सत्त्व एवं असत्त्व विरुद्ध धर्म नहीं हैं। क्योंकि दोनों ही एक वस्तु में प्रतीयमान हैं। अतः संशय का लक्षण यहाँ घटित नहीं होता।

न्यायभाष्यकार के मत से उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था होना आवश्यक है। यहाँ सत्त्व एवं असत्त्व धर्म में उक्त अव्यवस्था नहीं है। अपितु व्यवस्था ही है। अतः संशय की कोई भी गुंजाइश नहीं है।

आचार्य हरिभद्र का कथन है कि अदृढ़प्रतीति में संशय आता है, जैसे किसी प्रदेश में स्थाणु है या मनुष्य है? दृढ़प्रतीति में संशय नहीं आता। यहाँ सत्त्व एवं असत्त्व की प्रतीति दृढ़ रूप से या निश्चित रूप से है। सत्त्व एवं असत्त्व स्पष्ट रूप से यहाँ प्रतीयमान हैं। अतः संशय की आशंका भी अनुचित है।[2]

आचार्य वादिदेवसूरि ने संशय का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'साधक और बाधक प्रमाण के अभाव से अनिश्चित अनेक कोटि का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है।'[3]

---

१. किंस्विन् नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः
—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (प्रभा टीका द्वितीय संस्करण) पृ० ३९७।

२. तथा संशयो अपि न युक्तः, सत्त्वासत्त्वयोः स्फुटरूपेण एवं प्रतीयमानत्वात्। अदृढ़प्रतीतौ हि संशयः, यथा क्वचित् प्रदेशे 'स्थाणुपुरुषयोः'।
—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६१।

३. साधकबाधकप्रमाणाभावात् अनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शिज्ञानं संशयः।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।१२।

इसका उदाहरण है—'यह स्थाणु है या पुरुष है।'[1]

उक्त उदाहरण में स्थाणुत्व या पुरुषत्व के सिद्ध करने के लिये साधक प्रमाण नहीं है। तथा दोनों धर्मों में से एक किसी भी धर्म को दूर करने के लिये कोई भी बाधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। तथा अनेक कोटि याने दो कोटि को बतलाने वाला ज्ञान है। अतः वह संशय है। 'स्यादस्त्येव' और 'स्यान्नास्त्येव' यहाँ अस्तित्व और नास्तित्व के साधक प्रमाण विद्यमान हैं तथा बाधक प्रमाण अविद्यमान है। इसी प्रकार यह ज्ञान अनेक कोटि को स्पर्श करने वाला नहीं है। अनेक कोटि का स्पर्श एक ही ज्ञान में होना चाहिये। वैसा यहाँ नहीं है। अतः संशय का लेशमात्र भी यहाँ नहीं है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण मीमांसा में संशय का यह लक्षण दिया है—

'अनुभय स्वभाव वाली वस्तु में उभय कोटि को बतलाने वाला ज्ञान संशय है।'[2]

उक्त उदाहरण में सामने दृश्यमान वस्तु उभय स्वभाव वाली नहीं है। उसका स्वभाव या तो स्थाणुत्व होगा या पुरुषत्व होगा। कोई भी एक स्वभाव वाली वस्तु है। उसमें उभयकोटि को बतलाने वाला ज्ञान है। अतः संशय है।

यहाँ वस्तु उभय रूप है, याने अस्तित्व और नास्तित्व दोनों वस्तु के स्वभाव हैं। अतः संशय के लक्षण के लागू होने की कोई गुंजाइश नहीं है। उक्त दोनों संशय के लक्षणों से ये दोनों लक्षण अधिक स्पष्ट हैं।

संशय का समाधान सप्तभंगीतरंगिणीकार ने निम्न प्रकार से किया है। एक धर्मी में अस्तित्व और नास्तित्व रूप विरुद्ध नाना धर्म प्रकारक ज्ञान होने से संशय है, ऐसी शंका करना निर्मूल है। क्योंकि यहाँ विशेष लक्षण की उपलब्धि है। जहाँ सामान्य का प्रत्यक्ष हो और विशेष का अप्रत्यक्ष हो, तथा विशेष की स्मृति हो, वहाँ संशय होता है, जैसे स्थाणु और पुरुष दोनों के योग्य

---

१. यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा—वही १।१३।

२. अनुभयत्र उभयकोटिसंस्पर्शीप्रत्ययः संशयः।

—प्रमाणमीमांसा १।१।५ पृ० ६।

देश में बहुत प्रकाश और बहुत अंधकार के अभाव वाले समय में सामान्यतया वस्तु को देखते हुये, खोह, पक्षी के घोंसले आदि स्थाणु में रहने वाले तथा वस्त्र बांधना, सिर खुजाना आदि पुरुष में रहने वाले विशेषों को नहीं प्राप्त करने से और उनकी स्मृति से मनुष्य को स्थाणु है या पुरुष—इस प्रकार संशय उत्पन्न होता है। अनेकान्तवाद में अबाधरूप से विशेष की उपलब्धि होती है। स्वरूप और पररूप विशेषों की प्रतिवस्तु में प्राप्ति होती है। इसलिये विशेष की उपलब्धि होने से अनेकान्तवाद संशय का कारण नहीं है।[1]

इस प्रकार से भी संशय का निवारण नहीं किया जा सकता। घट में अस्तित्वादि धर्मों के साधक प्रतिनियत हेतु विद्यमान हैं या नहीं ? नहीं हैं तो विरोधी के प्रति बिना हेतु के किसी भी बात का प्रतिपादन संभव नहीं है। यदि हेतु है तो एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध अस्तित्व नास्तित्वादि के साधक हेतु होने से संशय दुर्निवार है।[2]

---

१. एकवस्तुविशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः। यथा स्थाणुर्वा न वा इत्याकारकज्ञानम् एकधर्मिविशेष्यकस्थाणुत्वतद्भावप्रकारकज्ञानत्वात् संशयः। तथा च अस्तित्वनास्तित्वादिरूपविरुद्धनानाधर्मप्रकारकघटादिरूपैकवस्तुविशेष्यकज्ञानजनकत्वात् संशयहेतुः अनेकान्तवादः। इति चेन्न, विशेषलक्षणोपलब्धेः। संशयो हि सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेः जायते। यथा स्थाणुपुरुषोचिते देशे नातिप्रकाशान्धकारकलुषायां च वेलायाम् ऊर्ध्वमात्रं सामान्यं पश्यतः, वक्रकोटरपक्षिनीड़ादीन् स्थाणुगतान् विशेषान् वस्त्रसंयमन-शिरः-कंडूयन-शिखाबन्धनादीन् पुरुषगतान् च अनुपलभमानस्य तेषां च स्मरतः पुरुषस्यायं स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति संशय उपपद्यते। अनेकान्तवादे च विशेषोपलब्धिः अप्रतिहतैव, स्वरूपपररूपादिविशेषाणां प्रत्यर्थमुपलंभात्। तस्माद् विशेषोपलब्धेः अनेकान्तवादो न संशयहेतुः —संप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८०।

—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३८६, तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ३६।

—अष्टसहस्री पृ० २०७।

२. अथ एवमपि संशयो दुर्वारः, तथा हि घटादौ अस्तित्वादिधर्माणां साधकाः प्रतिनियता हेतवः सन्ति न वा ? न चेद् विप्रतिपन्नं प्रति

इसका समाधान यह है कि अवच्छेदकभेद से बतलाये जाने वाले अस्तित्व-नास्तित्व धर्म में कोई विरोध नहीं माना जाता है। जिस प्रकार एक ही देवदत्त में एक ही अपेक्षा से पितृत्व, अन्य की अपेक्षा से पुत्रत्व परस्पर अविरुद्ध है उसी प्रकार अपेक्षा भेद से रहने के कारण यहाँ भी विरोध नहीं है। अथवा जिस प्रकार अन्वयव्यतिरेकी धूम हेतु में सपक्ष-महानसावच्छेदेन सत्त्व तथा विपक्षह्लदावच्छेदेन असत्त्व में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी कोई विरोध नहीं है।[1] विरोध नहीं होने से संशय का भी लक्षण घटित नहीं होता है। अतः संशय नहीं है।

आचार्यजी का तीसरा तर्क इस प्रकार है—'अनेकान्त निरंकुश है। वह सब जगह लागू होगा और उससे सर्वत्र अनिश्चय होने से विचार में निश्चय नहीं हो सकेगा।'

'अनेकान्त निरंकुश है' यह कथन ही भ्रम मूलक है। अनेकान्त में निरंकुशता की कल्पना भी अजीब है। अनेकान्त हर कथन को पूर्ण नियंत्रित-रूप से निश्चित ही कहता है। जैसे 'घट किसी अपेक्षा से है ही' इस कथन में देखिये, कहाँ निरंकुशता है ? निरंकुशता का भ्रम सम्भवतः इस बात से हो सकता है कि 'अनेकान्त में भी अनेकान्त है।' लेकिन ऐसा होने पर भी निरंकुशता नहीं है। हम ऊपर विवेचन कर आये हैं। वहाँ भी व्यवस्थितता, निश्चय, नियंत्रितता सब आपको मिलेगी। केवल ऊपरी रूप देखकर उसके अंतरंग के बारे में कुछ तो भी कल्पना कर लेना संदर्भित चिन्तन के प्रति भारी अन्याय है। निरंकुशता के प्रति जो अनेकान्त दर्शन बहुत सतर्कता के

प्रतिपादनासंभवः। सन्ति चेत् एकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धास्तित्व-नास्तित्वादिसाधकहेतुसद्भावात् संशयो दुर्निवारः।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८१।

१. इति चेन्न, अस्तित्वनास्तित्वयोः अवच्छेदकभेदेन अर्प्यमाणयोः विरोधाभावात्। यथा एकस्यैव देवदत्तस्य एकापेक्षया पितृत्वम् अन्यापेक्षया पुत्रत्वं च परस्परम् अविरुद्धम्, यथा च अन्वयव्यतिरेकिधूमादिहेतौ सपक्षे महानसादौ सत्त्वं, विपक्षे महाह्लदादौ च परस्परम् अविरुद्धम् तथा अस्तित्वनास्तित्वयोरपि।

—वही, पृ० ८१।

लिये एवं बहुत सावधान रहने के लिये कहता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं—

'अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं दुर्विदग्धानाम्'[1]।

अनेकान्त दर्शन का नयचक्र दुष्प्राप्य और अत्यन्त तेज धार वाला है। यदि उसका उपयोग करने की कला नहीं है तो प्रयोग करने वाले के ही मस्तक को वह खंडित कर देता है। इसका मतलब यह है कि अनेकान्त के प्रयोग की भी एक कला, एक सीमा है। यदि उसका प्रयोग ठीक से करना न आया तो वह अपने को ही समाप्त कर देगा। प्रयोग ठीक से न करने का मतलब है यही निरंकुशता। यह तो होनी ही नहीं चाहिये। इस निरंकुशता के प्रति तो आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने बहुत ही सावधान रहने के लिये कहा है। जिस प्रकार देश की स्वतन्त्रता का कोई यह अर्थ ले कि अब तो स्वतन्त्रता मिल गई है, चाहे जैसा करो, तो यह महान भूल है। आजादी का मतलब है, नियंत्रित आजादी, स्वच्छंदता इसका मतलब कतई नहीं है। इसी प्रकार अनेकान्त का मतलब विचारों में, कथन में स्वच्छन्दता नहीं है। अनेकान्त की इतनी स्पष्ट विवेचना के बावजूद इसमें निरंकुशता की कल्पना करना अनेकान्त के प्रति भारी अन्याय है।

अनेकान्त में अनेकान्त लागू होता है, लेकिन यह निरंकुशता नहीं है, अपितु पूर्ण नियन्त्रित है। यह हम ऊपर विवेचन कर आये हैं।

अनेकान्त से अनिश्चय आता है—इसका समाधान हम विस्तार से ऊपर कर आये हैं। मेरी समझ में अब पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। इस विवेचन को जरा गम्भीरता से देखने की आवश्यकता है।

आचार्य जी के दस कथन में तीन, चार, पाँच, छह, आठ, नौ और दस संख्या वाले कथन उनके तृतीय तर्क में समाविष्ट हो जाते हैं, यह पहले ऊपर कहा है। ये सब विरुद्ध तर्क अनिश्चय या अनिर्धारणमूलक हैं। अनिर्धारण की शंका से सब तर्क उद्भावित हैं। अनेकान्त अनिर्धारण की स्थिति से सर्वथा

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय कारिका ५९ पृ० ३४।
(अजिताश्रम लखनऊ, १९३३)।

अलग है, यह ऊपर विवेचन किया गया है। अनेकान्त जो कुछ भी कहता है, निश्चित ही कहता है, उसमें अनिर्धारण का विचार लाना अन्याय है। अनेकान्त के कारण सात पदार्थों की संख्या, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति; अस्तिकाय की पाँच संख्या, स्वर्ग तथा मोक्ष का भाव एवं अभाव, शास्त्र द्वारा निश्चित स्वभाव वाले जीव, सिद्ध आदि पदार्थ, सम्यग् दर्शन; आदि में अनिश्चय आवेगा, फलस्वरूप उसके उपदेष्टा को उन्मत्त बतलाना—ये सब जबरन् सिर-पर थोपे हुए दोष हैं। अनेकान्त का स्वरूप यह समझना कि वह अनिर्धारण को बतलाने वाला सिद्धान्त है, निरा भ्रम है। अनेकान्त का यह स्वरूप है कि प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान करे। वस्तु का स्वरूप अनेकधर्मात्मक है। उस अनेकधर्मात्मिक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के लिये एकान्तवाद बिलकुल उपयोगी नहीं है। इसीलिये ही अनेकान्तवाद का अनुसंधान हुआ। जो अनेकधर्मात्मिक वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ठीक तरह से निश्चित रूप से बतला सके, वह अनेकान्त सिद्धान्त है। इस परिभाषा के अनुसार गंभीर दृष्टि से यथार्थ की जिज्ञासा या भावना के साथ अनेकान्तवाद को देखा जाय तो इस प्रकार के कथन स्वतः निर्मूल हो जायेंगे। एक बात और हमें ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि अनेकान्तवाद दर्शन जगत में विचार मंथन से उद्भूत विचार-शास्त्र का सिद्धान्त है। जैसा कि अनेकान्त जगत् में हुआ करता है। दर्शन शास्त्र विशुद्ध आध्यात्मिक विचार शास्त्र है। उसमें धर्मान्धता से व्याप्त सांप्रदायिकता को देखना अनुचित है। अनेकान्तवाद जैन धर्म की बपौती नही है। उसने विचार मंथन से उद्भूत इस सिद्धान्त को उपयोगी मानकर अपना लिया, यह बात दूसरी है। इसमें साम्प्रदायिक जगत् की तरह राग-द्वेष की भावना से चिन्तन करना बिलकुल अनुचित है। आज के युग में इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने की बहुत ही आवश्यकता है। अन्यथा धर्म निरपेक्ष इस भारत राष्ट्र की नींव हिल जायगी। धर्म निरपेक्षता का मतलब संप्रदाय निरपेक्षता से ही है। सामान्य धर्म से निरपेक्ष मानने से तो हम भारतीय ही नहीं रह पायेंगे। हमारी संस्कृति समाप्त हो जायगी और हम भी पशुवत् बन जायेंगे।

बाकी बातों का समाधान उपर्युक्त तर्कों के समाधान में हो ही जाता है। अलग से कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

आचार्यजी का चतुर्थ तर्क इस प्रकार है—

'पदार्थों का विवेचन करना और अवक्तव्य कहना दोनों बातें विरोधी होने से असंगत है।'

अनेकान्त दर्शन में सप्तभंगी नय अनेकान्त को प्रकाशित करने की एक शैली है। उसी का चतुर्थ भंग अवक्तव्य है। अनेकान्त में प्रत्येक बात का प्रत्येक कथन अपेक्षा से होता है। यही यथार्थ ज्ञान की वास्तविकता है। जब कि प्रत्येक स्तु में अनेक धर्म रहते हैं, तो बिना अपेक्षा के, कथन यथार्थ हो ही नहीं सकता। यथार्थ कथन के लिये यह अत्यावश्यक है कि यथार्थता के लिये कोई भी कथन सापेक्ष ही होगा। सप्तभंगी नय का प्रत्येक भंग भी सापेक्ष ही है। अतः चतुर्थ भंग भी सापेक्ष ही है। जब वस्तु में सत्त्व और असत्त्व क्रम से कथन करते हैं तो हम वैसा कर सकते हैं। उसमें हमको कोई दिक्कत नहीं आती। लेकिन यदि हम उन दोनों को एक साथ कहने की विवक्षा करें, चेष्टा करें, तो दोनों धर्मों को एक साथ प्रकाशित करने के लिये हमारे पास ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो दोनों धर्मों को एक साथ बतला सके। अतः दोनों धर्मों को एक साथ बतलाने की विवक्षा करने पर एक साथ दोनों को बतला सकने की हमारी शाब्दिक अक्षमता के कारण हम उस विवक्षा से वस्तु को अवक्तव्य कहते हैं। इसका मतलब है कि उस विवक्षा से वस्तु वक्तव्य नहीं हो सकती, अतः अवक्तव्य है। जैसे अद्वैतदर्शन में अविद्या को अनिर्वचनीय कहते हैं, किन्तु उसे अनिर्वचनीय बतलाने के लिये भी हमें निर्वचन तो करना ही पड़ता है। बिना निर्वचन के या पोषक तर्कों के उपस्थापित न करने के बावजूद यदि कहा जाय कि अविद्या अनिर्वचनीय है, तो इसे कौन बुद्धिमान व्यक्ति मानेगा। इसी तरह जिस विवक्षा से वस्तु अवक्तव्य है, उसका विवेचन तो करना ही पड़ेगा। इसमें कोई विरोध नहीं है, जिस प्रकार अविद्या के अनिर्वचनीय सिद्ध करने में और उसे अनिर्वचनीय कहने में कोई विरोध नहीं आता।

अनेकान्त दर्शन के विवेचन में कहीं विरोध की गुंजाइश नहीं है, यह हम ऊपर सविस्तार समाधान में लिख आये हैं। अतः न तो यहाँ कोई विरोध है और न कोई असंगतता है।

अब ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य भास्कर को लेवें। वे अभिनव तर्क प्रस्तुत करते हैं। अनेकान्त दर्शनकार 'सब अनेकान्त रूप हैं'—ऐसा मानते हैं। यह निश्चय है या नहीं ? यह प्रश्न वे अनेकान्तवादियों से करते है। यदि

निश्चय है तो यही एकान्त का स्वीकार होकर अनेकान्त का व्याघातक हो गया। यदि नहीं तो अनिश्चय रूप होने से सन्देह रूप हो जायगा।

इस प्रकार के कथन एक भ्रम के फैलने से हुआ करते हैं। विरोधी दर्शनकार यह समझ बैठे हैं कि अनेकान्त का मतलब अनिश्चय है। यदि निश्चय करते हैं तो एकान्त हो गया। यह वास्तव में भ्रम ही है। अनेकान्त में यह बात बिलकुल लागू होती ही नहीं है। देवदत्त पुत्र भी है, पिता भी है। इस उदाहरण का मतलब यह नहीं कि अनिश्चय है। यह कथन भी निश्चय रूप है। देवदत्त अपने पिता की दृष्टि से पुत्र ही है, तथा अपने पुत्र की दृष्टि से पिता ही है। यह कथन निश्चयात्मक ही है, अनिश्चयात्मक नहीं। अब प्रश्न यह आता है कि निश्चयात्मक कथन किया तो वह एकान्त ही हो गया। यह कथन अनेकान्त के स्वरूप को ठीक नहीं समझने के कारण है। सद् एकान्त के बिना अनेकान्त रह ही नहीं सकता। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'अनेकान्त सच्चे एकान्त का अविनाभावि होता है।[1] अनेकान्त का मतलब हम ऊपर कह आये हैं। अनेक अन्त वाला याने अनेक धर्म वाला। विवक्षा से वस्तु में अनेक धर्म बतलाना अनेकान्तवाद का कार्य है। अनेकान्त दर्शन विवक्षा है जो कुछ भी प्रतिपादन करता है, वह निश्चयात्मक ही है। अनेकान्त के विभिन्न अर्थ करके अथवा विकल्प का जाल डालकर उसमें दूषण उपस्थित करना उचित नहीं है।

---

१. अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताविनाभावित्वात् अन्यथा अनेकान्तस्यैव अघटनात्, नयार्पणाद् एकान्तस्य, प्रमाणार्पणाद् अनेकान्तस्यैव उपदेशात्।

—षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३६१।

सम्यगेकान्तस्य अनेकान्तेन विरोधाभावात्। नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणर्पणादनेकान्तस्यैव उपदेशात्, तथैव दृष्टेष्टाभ्याम् अविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः।

—अष्ट सहस्री पृ० २०७।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः,
अनेकान्तः प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र श्लोक १०३।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३५।

अब श्री रामानुजाचार्य के अनेकान्त विरोधी तर्कों को देखें। उनका कथन इस प्रकार है—

बिना प्रकारभेद के धर्मी में विरुद्ध सत्त्व-असत्त्व धर्म एक साथ नहीं रह सकते। परन्तु प्रकारभेद से रह सकते हैं। प्रकारभेद से धर्मों के रहने पर भी वस्तु द्वयात्मक नहीं होगी। द्वयात्मकता परिणाम शक्ति का संबंध मात्र है।'

आचार्यजी ने अनेकान्तविरोधी तर्क दिया है, लेकिन यह तर्क अनेकान्त विरोधी नहीं, अपितु अनेकान्त के समर्थन में है। आपका कहना है कि बिना प्रकारभेद से धर्मी में विरुद्ध सत्त्वा सत्त्व धर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं। प्रकार भेद का मतलब है अपेक्षा भेद या अवच्छेदक भेद। अपेक्षा भेद से धर्म रह सकते हैं। अनेकान्तवाद भी यही मानता है कि वस्तु में अनेक धर्म अपेक्षा-भेद से रहते हैं। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है।

एक बात उन्होंने और कही है कि 'प्रकार भेद से धर्मों के रहने पर भी वस्तु द्वयात्मक नहीं होगी। द्वयात्मकता परिणाम शक्ति का योग मात्र है।' व्यवहार में सब लोग इस बात से सहमत हैं कि एक धर्म के रहने से वस्तु एकधर्मात्मक, दो के रहने से द्वयात्मक, तीन के रहने से त्रयात्मक, इसी प्रकार अनेक धर्म के रहने से अनेकधर्मात्मक वस्तु रहती है। एक धर्म के रहने पर वस्तु को एकधर्मात्मक नहीं मानना वस्तु की यथार्थ स्थिति से आँख भीचना है।

द्वयात्मकता को परिणाम शक्ति का संबंध मात्र कहा है। वस्तु में दो प्रकार के धर्म रहते हैं, एक सहभावी और दूसरे क्रमभावी। इन्हीं को दूसरे शब्दों में स्वाभाविक एवं आगन्तुक कह सकते हैं। जैसे आत्मा में चैतन्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म सहभावी हैं, तथा हर्ष, विषाद, सुख दुःख आदि क्रमभावी धर्म हैं। सुवर्ण में सुवर्णत्व, द्रव्यत्व, आदि सहभावी धर्म हैं, तथा कटकत्व, कुण्डलत्व, रुचकत्व आदि धर्म क्रमभावी हैं। इस दर्शन में सहभावी धर्म को गुण कहते हैं, और क्रमभावी धर्म को पर्याय कहते हैं। वस्तु में परिणाम होने से पर्याय बदलते रहते हैं। परिणाम शक्ति वस्तु में विद्यमान है। उस शक्ति से जो परिवर्तन होते हैं, वे पर्यायों में होते हैं। वस्तु द्वयात्मकता परिणामजन्य है। परिणाम शक्ति का संबंध ही द्वयात्मकता नहीं है, अपितु परिणाम शक्ति के सम्बन्ध से वस्तु में होने वाले परिणाम से द्वयात्मकता त्रयात्मकता आदि आती है। अतः उपर्युक्त वाक्य लाक्षणिक मानना चाहिये।

एक बात और है। सत्त्व, असत्त्व आदि धर्मों को विरुद्ध मानना भी अनुचित है। जिस प्रकार न्याय-दर्शनकार संयोग और संयोगाभाव को विरुद्ध नहीं मानते हैं, क्योंकि अपेक्षा या अवच्छेदक भेद से एक ही धर्मीवृक्ष में दोनों रहते हैं। उसी प्रकार सत्त्व एवं असत्त्व अपेक्षा या अवच्छेदक भेद से एक ही वस्तु रूप धर्मी में रहते हैं, अतः उनमें भी विरोध नहीं माना जा सकता।

आचार्य निंबार्क का भी विरोध उपस्थित करने का विरोधी तर्क है। उनका कहना है—

जैन वस्तु मात्र में अस्तित्व और नास्तित्व से विरुद्ध-धर्म द्वय को योजित करते हैं। यह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व आदि विरुद्ध धर्म छाया और धूप के समान एक साथ नहीं रह सकते।'

इसके बारे में विरोध के समाधान में हम बहुत कुछ कह आये हैं। उससे ही इस तर्क का भी समाधान हो जाता है। वस्तुतः सत्त्व और असत्त्व में विरुद्धता समझी जाती है। परन्तु विरुद्धता है नहीं। यह ऊपर विवेचन कर आये हैं। छाया और धूप में भी वास्तव में विरोध नहीं है। एक ही रेल, खेत, मकान आदि वस्तु में अवच्छेदक भेद से छाया और धूप रहती देखी जाती है। अतः यहाँ विरोध की कल्पना अनुचित है[1]।

आचार्य स्वभावतः भेदाभेदवादी हैं। अतः उपर्युक्त उनके तर्क पर प्रश्न उपस्थित होता है कि आपके मत में भी एक धर्मी में विरुद्ध धर्म द्वय की स्वीकृति है। तथा 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि में एकत्व का भी प्रतिपादन किया जाता है। तथा 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि में अनेकत्व भी प्रतिपादित है।

---

१. तुलना कीजिये—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्रभा टीका—

'आपेक्षिकधर्माणाम् एकत्र स्थितो विरोधो न्यायदर्शनमते न स्वीक्रियते'—

'आपेक्षिकधर्मद्वयस्य एकत्र समावेशान्नोभययोः परत्वापरत्वयोः विरोध इति भावः'

विवृति में भी यही प्रतिपादन किया है।

—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ३९।

इसका उत्तर आचार्यजी के शिष्य श्रीनिवासाचार्यजी निंबार्कभाष्य की टीका में देते हैं—

उपर्युक्त अर्थ मुक्तिमूलक नहीं है । क्योंकि श्रुतियों ने ही परस्पर अविरोध से यथार्थ का निर्णय कर दिया है।………इस प्रकार जगत् और ब्रह्म के भेद और अभेद स्वाभाविक हैं, तथा श्रुति, स्मृति एवं सूत्र से साधित हैं। यहाँ विरोध कैसा ?

आपका तर्क है कि विषय श्रुति एवं स्मृति से साधित है। इसमें युक्ति का प्रवेश नहीं है। जैन दर्शन में एक धर्मी में सत्त्व-असत्त्व आदि विरुद्ध धर्म मानना श्रुति-स्मृति से असाधित होने से विरोधग्रस्त है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त मानना होगा कि विज्ञान के समान दर्शन जगत्-विचार शास्त्र में तर्क एवं युक्ति को ही साधक मानना चाहिये, न कि शब्द प्रमाण। शब्द प्रमाण माना गया तो अलग-अलग विचार धाराओं में विभिन्न आगम प्रमाण माने जायेंगे और सभी बातें सिद्ध मानना होगा। इससे बड़ी अव्यवस्था आवेगी। स्वभिन्न दर्शन अपने शब्द प्रमाण के अतिरिक्त किसी को भी प्रमाण नहीं मानेगा। अतः तर्क एवं युक्ति को ही प्राधान्य देना चाहिये।

इस विवेचन से यह बात सामने आती है कि दर्शनशास्त्र में शब्द प्रमाण देना उचित नहीं है, क्योंकि उससे इतर दर्शन उसे मान्यता नहीं देंगे। श्रुति-स्मृति से साधित होने से विरोध नहीं है, और श्रुति स्मृति से अप्रतिपादित विषय में विरोध मानना न्यायसंगत नहीं है। यह तो वही बात हुई कि हम कहें, वह ठीक, दूसरा सब त्रुटिपूर्ण। यह बात विज्ञान क्षेत्र में या दर्शन क्षेत्र में गले उतरने जैसी बात नहीं है। अतः आचार्य जी के विरोधी तर्क पक्षपात से ग्रस्त होने के कारण उचित नहीं है।

श्री कंठाचार्य के अनेकान्त विरोधी तर्क इस प्रकार हैं—'सप्तभंगी नय में 'स्यात्' शब्द ईषदर्थक है। एक वस्तु में सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद आदि होना असम्भव है। पर्यायभावि द्रव्य के अस्तित्व नास्तित्व आदि, शब्द एवं बुद्धि के विषय हैं। किन्तु परस्पर विरुद्ध हैं। जिस प्रकार पिंड, घट, और कपाल अवस्थाएं एक साथ नहीं हो सकती, वैसे ही उपर्युक्त परस्पर-विरुद्ध धर्म एक साथ वस्तु में नहीं रह सकते। अतः जैनवाद विरुद्ध ही है।'

इसमें भी वही उपर्युक्त तर्क है। परस्पर विरुद्ध धर्म एक धर्मी में नहीं रह सकते।

इसका समाधान ऊपर दिये हुये विरोध के समाधान से हो जाता है। अतः फिर से इसके समाधान की आवश्यकता नहीं है।

इस भाष्य के टीकाकार अप्यय्य दीक्षित लिखते हैं—'यदि उपाधिभेद को स्वीकार करके विरुद्ध धर्म का समावेश करते हैं, तो यह पारिभाषिक सप्तभंगी नय स्वीकार करते हैं। घटादि स्वदेश में है, अन्य देश में नहीं है। स्वकाल में है, अन्यकाल में नहीं है। स्वस्वरूप (स्वात्मा) से है, अन्यात्मना नहीं है। इस प्रकार देशकाल प्रतियोगी रूप उपाधिभेद से सत्त्व और असत्त्व के समावेश में लौकिक और परीक्षकों को कोई विप्रतिप्रत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इतने से जैनाभिमत वस्तु की अनेकान्तता नहीं आती है। घट स्वकाल में सत् ही है, अन्यकाल में असत् ही है—यह नियम टूटता नहीं।.........वस्तुतः विचार की हुई वह वस्तु उपाधि रहित ही सत्त्वासत्त्वादि के संकर में प्रमाण है। इसीलिये स्याद्वादी 'घट है, घट नहीं है, पट सत् है, पट असत् है'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति को ही सत्त्वासत्त्वादि अनेकान्तता में प्रमाण मानते हैं।.........परस्पर विरुद्ध धर्मों के समावेश में सर्वानुभवसिद्ध उपाधिभेद का अपन्हव नहीं किया जा सकता। लोकमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करने वाला देश कालादि के सत्त्व के निषेध में भी देश कालादि उपाधि की अवच्छेदकता अनुभव करता ही है।.....सर्वथा उपाधिभेद को निराकरण करने वाले को—'यह इसका पुत्र है, यह इसका पति है, यह इसका पिता है, यह इसका श्वसुर है'—इत्यादि व्यवस्था भी सिद्ध नहीं होगी, तो वह किस प्रकार वहाँ वहाँ स्याद्वाद में मातृत्वादि उचित व्यवहारों की व्यवस्था करेगा। इसलिये यह अनेकान्तवाद सबों के लिये बहिष्कार्य है।'

श्री अप्पय दीक्षित का कथन यह है कि 'उपाधि भेद से विरुद्ध धर्मों का कथन हो सकता है। लेकिन स्याद्वादी उपाधि भेद को स्वीकार करते नहीं। अतः उनका कथन विरोध ग्रस्त है, और इसीलिये वह सबके लिये बहिष्कार्य है। उपाधिभेद मान लिया जाय तो फिर कोई हानि नहीं है।'

इस तर्क के समाधान में सिर्फ यह कहना है कि श्री दीक्षित महोदय को कुछ भ्रम हो गया है कि अनेकान्त दर्शन सत्त्वासत्त्वादि धर्मों के पीछे उपाधि

की अवच्छेदकता स्वीकार नहीं करता है, पर्याप्त नहीं है। बिना अवच्छेदकता के अनेक धर्म वस्तु में रहना असंभव है। अवच्छेदक भेद कहिये या अपेक्षा भेद कहिये, उससे ही वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं। यह अनेकान्तवाद की स्पष्ट उक्ति है।[1] अतः श्री दीक्षितजी के मत का अनेकान्त की मान्यता से कोई भी विरोध नहीं है। श्री दीक्षितजी का मत अनेकान्त को मान्य है।

श्री वल्लभाचार्य अपने अणुभाष्य में अनेकान्त के विरोध में निम्न तर्क देते हैं—

'जैन अंतर्निष्ठ होकर प्रपंच में उदासीन सात विभंग कहते हैं। 'स्यात्' शब्द अभीष्ट अर्थ का है।''''उनमें विरोध आने से अनेकान्त अयुक्त है।'

आचार्य जी का भी वही तर्क है कि विरोध के कारण अनेकान्त अयुक्त है। विरोध यहाँ नहीं है, वह निरा भ्रम है। यह हम ऊपर विस्तार से विवेचन कर आये हैं। 'स्यात्' शब्द के बारे में हम आगे विवेचन करने वाले हैं।

श्री विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृतभाष्य' लिखा है। ये अनेकान्त के विरोध में इस प्रकार तर्क उपस्थापित करते हैं—

'वेद बाह्य दिगंबर एक ही पदार्थ में भाव और अभाव को मानते हैं। यह सब अव्यवस्थित है। एक ही पदार्थ में प्रकार भेद के बिना विरुद्ध धर्मों की स्थिति असंभव है। यदि प्रकार के भेद मान लिया तो हमारे मत में प्रवेश हो जाने से सभी व्यवस्था हो जाती है।'

इनके भी विरोधी तर्क श्री अप्पय दीक्षित के सरीखे हैं। प्रकार भेद नहीं माना तो विरुद्ध धर्म एक वस्तु में असंभव है। प्रकार भेद मान लिया तो फिर उनके मत में प्रवेश हो जाता है और सभी व्यवस्था हो जाती है और विरोध भी दूर हो जाता है।

---

१. उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च।

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका कारिका २४।

—स्याद्वादमंजरी पृ० १९४, १९५।

यह हम ऊपर कह आये हैं कि विरोधी से दिखने वाले दो धर्म प्रकार भेद से ही वस्तु में रह सकते हैं—यह अनेकान्तवाद की दृढ़ मान्यता है। अतः 'प्रकार भेद मान लिया तो…………।' यह कहना अनुचित है। 'मान लिया' की कल्पना उचित नहीं है। अनेकान्तवाद तो यह बात दृढ़तम रूप से मानता ही है। इस प्रकार दोनों कथन समान अर्थ वाले और समान मान्यता वाले हैं। अतः इनके द्वारा विरोध का उपस्थित करना उचित नहीं है। अनेकान्तवाद में कथन पद्धति में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रकार भेद या अपेक्षाभेद या अवच्छेदक भेद बतलाने के लिये ही होता है। अतः 'प्रकार भेद के बिना कथन अनेकान्त में होता ही नहीं है। 'स्यात्' शब्द श्रोता को यह बतलाता है कि जो धर्म बतलाया जा रहा है, वह किसी अपेक्षा से ही है। अतः उपर्युक्त विरोधी तर्क की इसमें कोई गुंजाइश ही नहीं है।

प्राचीन आचार्यों के विरोधी तर्कों का समाधान अभी तक किया गया है, जो कि अनेकान्त के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। अब कुछ विरोधी तर्क ऐसे बाकी हैं, जो विरोधी आचार्यों के विरोधी तर्कों में उपलब्ध नहीं हैं। कोई विरोधी आचार्य ये तर्क उपस्थापित करते रहे होंगे। आज उनके कथयिता या उपस्थापयिता का नाम उपलब्ध नहीं है। ऐसे तर्क हमने गत अध्याय में संभावित तर्क के नाम से दिये हैं। इन संभावित तर्कों का समाधान अनेकान्त के आचार्यों ने किया है। अब उन तर्कों के समाधानों पर विचार करें।

पहला विरोधी तर्क 'वैयधिकरण्य' सामने आता है। सत्त्व का अन्य आधार होना चाहिये, तथा असत्त्व धर्म का अन्य। इस तरह इन विरोधी धर्मों को एक आधार में न रह सकने के कारण वैयधिकरण्य दूषण आता है।

इसका समाधान यह है कि जो धर्म प्रतीयमान है, अनुभवसिद्ध है या उन धर्मों का निर्बाध प्रत्यक्ष होता है, उन धर्मों में वैयधिकरण्य दोष नहीं आता। जिस प्रकार एक ही आम में रूप और रस स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं, तो उनमें वैयधिकरण्य दोष नहीं कहा जा सकता। उसी तरह एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होते हैं, तब उनमें वैयधिकरण्य दोष देना

किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता।[1]

दूसरा तर्क है अप्रतिपत्ति याने ज्ञानाभाव। संशय एवं अनिर्धारण होने के कारण अनेकान्तवाद में वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। अतः अप्रतिपत्ति दोष आता है।

इसका समाधान यह है कि अनेकान्त में संशय या अनिर्धारण बिलकुल नहीं है—यह हम ऊपर बतला आये हैं। अतः अप्रतिपत्ति दोष का प्रसंग ही नहीं आता।[2]

अब मिथ्याथ्व दोष को विवेचन एवं समाधान के लिये लें। विरोधी तर्क इस प्रकार का है—अनेकान्त ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि उसमें बाधक की उपपत्ति है। जिसमें बाधक आता है, वह मिथ्या है, जैसे वन्ध्यापुत्र।

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तव में वस्तुस्थिति यह है कि अनेकान्त ज्ञान अबाधित है। वस्तु में सत्त्व-असत्त्व आदि प्रतीति अनुभवसिद्ध है। यह ऊपर विवेचन किया गया है। जो यह कहते हैं कि 'नित्य और अनित्य विधि-प्रतिषेध रूप हैं, अतः एक ही धर्मी में दोनों का अस्तित्व नहीं रह सकता।' यह कथन भी उचित नहीं है। जो वस्तु प्रत्येक के अनुभव से सिद्ध है, वहाँ विरोध और बाधक नहीं आ सकते। जैसे एक ही वृक्ष में कपि-संयोग और कपि-संयोगाभाव, यद्यपि दोनों भी विधिप्रतिषेध रूप हैं, तथापि अवच्छेदक-भेद से रहते ही हैं। इसमें किसी की भी विप्रतिपत्ति नहीं है। इसी प्रकार

---

१. 'तथा वैयधिकरण्यमपि असत्, निर्बाधकाध्यक्षबुद्धौ सत्त्वासत्त्वयोः एकाधिकरणत्वेन प्रतिभासनात्। न खलु तथा प्रतिभासमानयोः वैयधिकरण्यं, एकत्र फले रूपरसयोरपि तत्प्रसंगात्'।

—षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६३, ६४। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३७१।

—अष्टसहस्री, पृ० २०६। स्याद्वादमंजरी पृ० १६५, १६६।

२. ततश्च अनिश्चयरूपा अप्रतिपत्तिः इति न, प्रतीतिसिद्धे अर्थे कस्यापि दोषस्य अभावात्।

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८२, ८६।

—स्याद्वाद मंजरी पृ० १६५, १६६।

उपर्युक्त धर्म भी अवच्छेदक भेद से रहते ही हैं, यह अनुभव सिद्ध है। अतः इसमें कोई भी बाधक नहीं आता है। जिस रूप से नित्यत्व विधि है, उसी रूप से अनित्यत्व विधि नहीं है, जिससे विरोध या बाधक आवे। यहाँ तो रूप, अपेक्षा या अवच्छेदक भिन्न-भिन्न हैं।[1] अतः बाधक या विरोध का प्रश्न ही नहीं है।

अब रूपान्तर प्रसक्ति दोष के तर्क को लें। अनेकान्त की व्युत्पत्ति है—न एकान्तः अनेकान्तः। याने एकान्त का अभाव। अब यदि अनेकान्त में अनेकान्त माना तो अभाव का अभाव भाव रूप होता है, अर्थात् एकान्त रूप होने से रूपान्तर की प्रसक्ति आती है। अनेकान्त का स्वरूप ही नहीं रहता है।[2]

इसका समाधान यह है कि प्रमाण और नय की अपेक्षा से अनेकान्त में भी अनेकान्त रहता है। एकान्त दो प्रकार का है—सम्यगेकान्त और मिथ्यैकान्त। अनेकान्त भी दो प्रकार का है—सम्यगनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। सम्यगेकान्त उसको कहते हैं, जो प्रमाण की विषय होने वाली अनेक धर्मात्मक वस्तु में रहने वाले एक धर्म को विषय करता है और अन्य धर्मों को निषेध नहीं करता है। मिथ्यैकान्त उसको कहते हैं, जो केवल एक धर्म को बतलाते हुये अन्य समग्र धर्मों का निराकरण करता है। इसी प्रकार सम्यगनेकान्त उसको कहते हैं, जो वस्तु में अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्म का निरूपण करने वाला और प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से अविरुद्ध हो। तथा मिथ्या अनेकान्त

---

१. 'यच्च नित्यानित्ययोः विधिप्रतिषेधरूपत्वाद् अभिन्ने धर्मिणि अभावः' इति अनेकान्तपक्षस्य बाधकमुपन्यस्तं तद् अबाधकमेव, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येनैव रूपेण नित्यत्वविधिः तेनैव प्रतिषेधविधिः, येन एकत्र विरोधः स्यात्। किं तर्हि, अनुस्यूताकारतया नित्यत्वविधिः व्यावृत्ताकारतया च तस्य प्रतिषेधः।

—सन्मतितर्क पृ० १६४।

२. वस्तुतः सदसद्रूपता अनेकान्तः, तस्य अनेकान्ताभ्युपगमे रूपान्तरमपि प्रसक्तम्। एवं नित्यानित्यरूपताव्यतिरिक्तं च रूपान्तरम् इत्यादि वाच्यम्।

—सन्मतितर्क पृ० १५५।

उसको कहते हैं, जो प्रत्यक्षादि प्रमाण से विरुद्ध अनेक धर्म की कल्पना करता हो।

इनमें सम्यगेकान्त नय है। मिथ्या एकान्त नयाभास है। सम्यगनेकान्त प्रमाण है तथा मिथ्या अनेकान्त प्रमाणभास कहा जाता है। अतः प्रमाण और नय के भेद से सम्यगेकान्त और सम्यगनेकान्त का आश्रय लेकर अनेकान्त में भी सप्तभंगी का प्रयोग इष्ट है और किया जाता है। जैसे—

'स्यादेकान्तः, स्यादनेकान्तः, स्यादुभयः, स्यादवक्तव्यः, स्यादेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादनेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादेकान्तो नेकान्तश्चावक्तव्यश्च।'

इसमें नय के अर्पण से एकान्त होता है, क्योंकि नय एक धर्म को विषय करता है। प्रमाण की दृष्टि से अनेकान्त होता है, क्योंकि प्रमाण समग्र धर्मों को निश्चय करता है।[1]

यदि अनेकान्त अनेकान्त ही है, एकान्त नहीं है—ऐसा माना गया तो एकान्त के अभाव में एकान्त के समूह रूप अनेकान्त का भी अभाव उसी तरह हो जायगा। जिस प्रकार शाखा आदि के अभाव से तत्समूह रूप वृक्ष के अभाव का प्रसंग आता है। क्योंकि वृक्ष शाखाओं का समूह रूप है और अनेकान्त एकान्त का समूह रूप है। इस प्रकार दो मूल भंगों के सिद्ध हो जाने पर अन्य भंगों की योजना इसी प्रकार कर लेना चाहिये।[2]

अनेकान्त छल है, यह भी एक संभावित विरोधी तर्क है। 'वही है, वही

---

१. बृहत्स्वयंभूस्तोत्र श्लोक १०२।
तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३५।
सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ७५।

२. यदि अनेकान्तो अनेकान्त एव स्याद् न एकान्तो भवेत्, एकान्ताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्यापि अभावः स्यात् शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। यदि च एकान्त एव स्यात्, तदविनाभाविशेषनिराकरणाद् आत्मलोपे सर्वलोपः स्यात्।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३५।

नहीं है, वही नित्य है, वही अनित्य है। इस प्रकार से अनेकान्त का प्ररूपण करना छल मात्र है।[1]

इसका समाधान यह है कि यह छल नहीं है। छल की जो परिभाषा दी गई है, वह यहाँ लागू नहीं होती। न्यायसूत्र में छल का निम्न लक्षण किया है—

'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्'[2]।

अर्थ के विकल्प को याने दूसरे अर्थ को लागू करके कहने वाले के वचन का विघात करना छल कहलाता है। यह छल तीन प्रकार का है—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल।

सामान्य रूप से कहे हुये अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से अन्य अर्थ की कल्पना करना वाक्छल कहलाता है। जैसे 'नवकंबलोऽयम्' यह कहने पर वक्ता के अभिप्राय से अन्य अर्थ की कल्पना करना—'इसके पास नौ कंबल नहीं है, चार ही हैं।' अनेकान्तवाद में यह बात नहीं है। अतः वाक्छल नहीं है।

यहाँ वाक्छल कहा गया है। सामान्य छल यहाँ लागू नहीं होता है। उपचार छल वाक्छल ही है।[3]

ये लक्षण यहाँ घटित नहीं होते हैं। अतः छल की आशंका बतलाना उचित नहीं है।[4]

---

१. तदेव अस्ति, तदेव नास्ति; तदेव नित्यं, तदेव अनित्यम् इति च अनेकान्तप्ररूपणं छलमात्रम्।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३६।

२. न्यायसूत्र १।२।१०।

३. वही, १।२।१५, १६।

४. न तथा अनेकान्तवादः, यतः उभयनयगुणप्रधानभावापादितार्पितानर्पितव्यवहारसिद्धिविशेषबललाभप्रापितयुक्तिपुष्कलार्थः अनेकान्तवादः।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ३६।

अब आधुनिक लेखकों में डा० बलदेव उपाध्याय के विरोधी तर्क लेते हैं। श्री उपाध्याय का कथन है—'यद्यपि अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है, फिर भी उसका दार्शनिक विवेचन त्रुटिपूर्ण है। (?)

जैन दर्शन का लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाध्य प्रयत्न करते हुए उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष है। वह समग्र विश्व में अनुस्यूत परम तत्व तक नहीं पहुँचा। इसीलिये शंकराचार्य ने उसका मार्मिक खंडन किया।

जैन दर्शन मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वथा असमर्थ है। (?) इसीलिये वह व्यवहार और परमार्थ के बीचोबीच तत्त्व विचार को विराम देने वाला विश्रामगृह है।[1]

श्री उपाध्याय का इस कथन में सिर्फ एक ही तर्क या कथन है कि जो हमारी बात को नहीं मानता, वह त्रुटिपूर्ण है। याने अद्वैत तक जो नहीं पहुँचा, वह सब दोषपूर्ण है। इसीलिए इनकी दृष्टि में सभी दर्शनों के सिद्धान्त लौकिक कल्पनाएँ हैं, जिनका एकीकरण करना श्लाध्य प्रयत्न है, उस श्लाध्य प्रयत्न को करते हुए भी जैन दर्शन परमतत्त्व (अद्वैत) तक नहीं पहुँचा। इसीलिये शंकराचार्य ने उसका मार्मिक खंडन किया। इसीलिये वह मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वथा असमर्थ हैं।

एक बात और है। जो यह कहा गया है कि 'उसका दार्शनिक विवेचन त्रुटिपूर्ण है'। इसके लिये डाक्टर साहब ने कोई तर्क नहीं दिया। दार्शनिक विवेचन में किसी की त्रुटि बतलाने में तर्क देना आवश्यक है। बिना तर्क के उस विवेचन में वैज्ञानिकता नहीं आती। यह तो वही बात हुई कि आपके कथन को ही प्रमाणभूत मान लिया जाय। इस प्रकार की प्रवृत्ति से तो दर्शन जगत में अस्तव्यस्तता आ जायगी। क्योंकि प्रत्येक के कथन को ही प्रमाण मानना पड़ेगा। तथा इस प्रवृत्ति से दर्शन शास्त्र का विचार शास्त्रत्व समाप्त हो जायगा।

इसी प्रकार—'जैन दर्शन मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वथा

---

१. भारतीय दर्शन (बल० उपा०) पृ० ११७-११८।

असमर्थ है'—इस कथन में भी कोई तर्क उपस्थित नहीं किया है। यहाँ भी उनके शब्द प्रमाण हैं।

हम अपने चश्मे से ही देखें और उससे गलत दिखने वाली वस्तु की आलोचना करें, यह विज्ञान के इस युग में उचित नहीं है। हमारे अद्वैत सिद्धान्त को मान लिया तो सब ठीक है और हमारे सिद्धान्त को नहीं माना तो 'सब त्रुटिपूर्ण है और असमर्थ है' यह कथन सामन्तशाही युग का अवशेष है। प्रजातंत्र में और दर्शन जगत् में यह इस प्रकार की विवेचना उचित नहीं मानी जा सकती। हमको जो कुछ कहना है, उसके बारे में हम तटस्थ भाव से तर्क उपस्थित करें तो ही इस युग में जम सकता है। विचार शास्त्र में प्रतिबद्ध मानसिकता से यथार्थ विचार एवं विचारों का विकास नहीं हो सकता। इसमें तो अप्रतिबद्ध भाव से ही हमें विचार करना चाहिये, तभी हम सत्य के निकट पहुँचने में सफल हो सकते हैं।

इस दृष्टि से अनेकान्तवाद काफी उपयुक्त है। उसमें एकान्त दृष्टि नहीं है, अतः वह किसी में भी प्रतिबद्धभाव वाला नहीं है। इसीलिये वह तटस्थ रहकर यथार्थ चिन्तन करने में उपयोगी हो सकता है। अनेकान्त वाद की मानसिकता सब तरफ से खुली हुई है। उसका कोई भी द्वार बन्द नहीं है। तटस्थ दृष्टि से या सब तरफ से अप्रतिबद्ध रह कर वह चिन्तन करने की प्रेरणा देता है। इसीलिये वह अनेक विचारों में समन्वय एवं सामंजस्य को स्थापित करते हुए यथार्थ के निकट पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है।

अनेकान्त दर्शन में 'जगत्' की विवेचना और 'परमतत्त्व आत्मा' की विवेचना बहुत ही सूक्ष्मरूप से की गई है। दोनों के सम्बन्ध पर भी बहुत गवेषणात्मक विवेचना है। अनेकान्त दर्शन के आचार्य अद्वैत तक भी पहुँचे हैं। इस बात को हम ऊपर के अध्याय में कुछ बतला आये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की लेखनी इस विवेचन में सिद्धहस्त है। उनका 'समयसार' ग्रंथ इसी की विवेचना से भरा पड़ा है। कई आधुनिक विद्वानों ने भी इस मुद्दे पर समयसार की विवेचना की है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि का यह श्लोक प्रसिद्ध है—

'एष ज्ञानघनो नित्यः आत्मा सिद्धिमभीप्सुभिः
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्'[१]।

इस श्लोक में सच्चिदानन्दमय आत्मा की द्वैत होते हुए भी अद्वैत रूप में उपासना के लिये कहा गया है। इसलिये यह कहना कि 'वह परमतत्त्व अद्वैत तक नहीं पहुँचा'—उचित नहीं है। उनका चिन्तन अद्वैत तक भी पहुँचा है।

अब डा० राधाकृष्णन् के अनेकान्त के विरोधी तर्कों को लेवें। डा० साहब का यह कहना है :—

(१) स्याद्वाद में स्याद् शब्द का अर्थ शायद या सम्भव है।[२]

(२) स्याद्वाद के कारण हम किसी भी पदार्थ के विषय में निश्चित रूप से कथन नहीं कर सकते।[३]

(३) जैन दर्शन का तर्कशास्त्र सत्य के केवल आंशिक रूप को ही ग्रहण करता है।[४]

अब हम डाक्टर साहब के पहले तर्क को लें। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' या 'सम्भव है' हो सकता है?

'सामान्य रूप से 'स्यात्' शब्द क्रिया का रूप है। अस् 'भुवि'[५] भूः—सत्तायाम्' सत्तार्थक 'अस्' धातु का विधिलिङ् के प्रथम पुरुष के एक वचन का रूप है। यह लिङ् लकार 'विधि-निमंत्रणामंत्रणाधीष्टसंप्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ्'[६] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार सूत्रोक्त अर्थ में लिङ् लकार होता है। उनमें विधि का अर्थ है प्रेरणा देना, भृत्यादि निकृष्टव्यक्ति

---

१. समयसार कलश १५, समयसार पृ० ४१ स्थानांग सूत्र १ स्थान १ सूत्र—'एगे आया'।

२. भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्) पृ० २७७।

३. वही, पृ० २७७।

४. वही, पृ० २८१।

५. सिद्धान्तकौमुदी धातु संख्या ११४१ पृ० ३०८।

६. वही, सूत्र सं० २२०८ पृ० २५८।

को प्रवृत्त करना। जैसे भृत्य को स्वामी बोलता है—'भवान् वस्त्रं क्षालयेत्' याने 'आप कपड़ा धोवें'। निमंत्रण का अर्थ है नियोग करना। आवश्यक श्राद्ध भोजन आदि में दौहित्र आदि को प्रवृत्त करना। आमंत्रण का मतलब है 'कामचारानुज्ञा'। यथेच्छ काम करने को कहना। जैसे—यथेच्छ कार्य करें—(यथेच्छं क्रियताम् इत्यभ्यनुज्ञानम्) इस प्रकार अनुज्ञा देना। अधीष्ट याने सत्कारपूर्वक व्यापार। जैसे 'माणवकं भवान् अध्यापयेत्—बालक को आप पढ़ावें। यह करना चाहिये या नहीं—इस प्रकार विचार कर निर्धारण करना 'संप्रश्न' है। जैसे 'किं भोः व्याकरणं भवानधीयीत'—क्या आप व्याकरण पढ़े ? प्रार्थना का अर्थ है माँगना। जैसे आप मुझे अन्न देवें। कौमुदीकार का अंत में कथन है कि 'प्रवर्तनायांलिङ्' यह कहना अधिक अच्छा है, क्योंकि विध्यादि-चारों अर्थों में प्रवर्तना रहती ही है। अतः चारों का अलग ग्रहण केवल प्रपंच के लिये है। अस् धातु का आशीर्लिङ् लकार में 'भूयात्' रूप होता है।

अब उपर्युक्त पाणिनीय सूत्र एवं सिद्धान्त कौमुदी एवं बाल मनोरमाकार के अनुसार 'स्यात्' इस धातु का अर्थ संशय, या अनिश्चितार्थक शायद या संभावना होता ही नहीं है। अतः यह अर्थ करना व्याकरण के अर्थ से विरुद्ध है। अतः स्वेच्छा से अर्थ करना उचित नहीं है।

यह तो प्रचलित 'स्यात्' शब्द के बारे में विवेचन किया। अनेकान्त दर्शन 'स्यात्' शब्द को उसी प्रकार तिङन्त-प्रतिरूपक अव्यय मानता है। जैसे 'अस्ति' यह शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। अनेकान्त दर्शन में स्यात् शब्द निश्चित अपेक्षा का वाचक माना जाता है। जैसे समन्तभद्र आचार्य ने कहा है—

'वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि'।[1]

वाक्य में प्रमुख रूप से 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक है और वस्तु स्वरूप का विशेषण है। यह शब्द निश्चित अपेक्षा को बतलाता है। हम जो वाक्य में कथन करते हैं, वह किसी निश्चित अपेक्षा से ही है। जैसे देवदत्त पुत्र

---

१. **आप्तमीमांसा श्लोक १०३।**

है, देवदत्त में पुत्रत्व उसके पिता की अपेक्षा से ही है। इसमें शायद या संभावना की तनिक भी अभिव्यक्ति नहीं है।

प्राकृत और पाली में 'स्यात्' का 'सिया' रूप होता है। यह वस्तु के सुनिश्चित भेदों के साथ सदा प्रयुक्त होता रहा है। जैसे कि 'मज्झिम निकाय' के 'महाराहुलोवादसुत्त' में आपो धातु का वर्णन करते हुये लिखा है—

'कतमा च राहुल आपोधातु ?
आपोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।'[1]

आपो धातु (जल) कितने प्रकार की है ? आपो धातु स्यात् आभ्यंतर है और स्यात् बाह्य। यहाँ आभ्यंतर धातु के साथ 'सिया' शब्द का प्रयोग आपोधातु के आभ्यंतर भेद के सिवा द्वितीय बाह्य भेद की सूचना के लिये है, और बाह्य भेद के साथ 'सिया' शब्द का प्रयोग बाह्य के सिवा आभ्यंतर भेद की सूचना देता है। अर्थात् आपो धातु न तो केवल बाह्य रूप ही है, और न केवल आभ्यंतर रूप ही। इस उभयरूपता की सूचना 'सिया' (स्यात्) शब्द देता है। यहाँ न तो 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' ही है, और न संभव, और न 'कदाचित्' ही। क्योंकि आपोधातु शायद आभ्यंतर और शायद बाह्य नहीं है और न संभवतः आभ्यंतर और न संभवतः बाह्य और न कदाचित् आभ्यंतर और बाह्य उभय भेद वाली है।

इसी तरह प्रत्येक धर्मवाची शब्द के साथ जुड़ा हुआ 'स्यात्, शब्द एक सुनिश्चित दृष्टिकोण से उस धर्म का वर्णन करके भी अन्य अविवक्षित धर्मों का अस्तित्व भी वस्तु में द्योतित करता है। कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो वस्तु के पूर्ण रूप को स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्म का कथन करता है। इस तरह जब शब्द में स्वभावतः विवक्षानुसार अमुक धर्म के प्रतिपादन करने की ही शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना के लिये एक 'प्रतीक' अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोता को भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है। वह श्रोता को विवक्षित धर्म का प्रधानता से ज्ञान करवाकर भी

---

१. मज्झिमनिकाय के मज्झिम पण्णासक के दूसरे भिक्खु वग्ग में दूसरा वाद, सुत्त ६२ पृ० २५१।

अविवक्षित धर्मों के अस्तित्व का द्योतन कराता है। इस तरह अनेकान्त दर्शन ने सर्वथा एकांश प्रतिपादिका वाणी को भी 'स्यात्' शब्द की संजीवनी के द्वारा वह शक्ति दी, जिससे वह अनेकान्त का मुख्य गौण भाव से द्योतन कर सकी।

एक बात और है। प्रत्येक दर्शन में उनके अपने कुछ पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हुये होते हैं। अनेकान्तदर्शन में भी 'स्यात्' शब्द पारिभाषिक है, और इसका अपना अर्थ भी अलग है, जो ऊपर विवेचित किया गया है। जिस दर्शनकार ने जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त किया, उसको उसी अर्थ में लेना ही न्यायोचित है। अन्य अर्थ में उस शब्द को लेकर दोष देना अन्याय है। अनेकान्त दर्शन में भी 'स्यात्' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी अर्थ में लेना ही न्यायसंगत है। स्यात् शब्द का अर्थ अनेकान्त दर्शन में प्रसिद्ध है। उस प्रसिद्ध अर्थ में ही इस शब्द को लेना चाहिये। न्यायभाष्यकार का कथन है कि—

'प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा प्रतिषेधो वा, न च्छन्दतः'.........

'यथा वक्तुरभिप्रायः तथा शब्दार्थौ, अनुज्ञेयौ, प्रतिषेध्यौ वा, न च्छन्दतः'।[1]

न्यायभाष्यकार कहते हैं कि प्रसिद्ध प्रयोग में वक्ता के अभिप्राय के अनुसार (अभिप्राय का अतिक्रमण न करके) शब्द और अर्थ की अनुज्ञा या प्रतिषेध करना चाहिये, न कि स्वच्छंद रूप से।

वक्ता का जैसा अभिप्राय हो, वैसे शब्द और अर्थ की अनुज्ञा करना, या प्रतिषेध करना, न कि अपनी इच्छा से।

न्यायभाष्यकार का कथन सर्वथा न्यायोचित है। वक्ता के अभिप्राय के अनुसार ही अर्थ की अनुज्ञा होना चाहिये, न कि अपनी मर्जी से। तभी वक्ता के साथ न्याय हो सकता है। यदि अपनी इच्छा से अर्थ की अनुज्ञा की जाय तो वक्ता के प्रति बड़ा अन्याय होगा। जो कहने का उसका अभिप्राय ही नहीं है, वह अर्थ करके हम उस पर दोषवर्षा कर दें, यह अनुचित है। यहाँ पर

---

१. न्यायभाष्य पृ० ८०-८१।

अनेकान्त दर्शनकारों ने 'स्यात्' को तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मान कर जिस अर्थ में उसका प्रयोग किया है, उसी अर्थ को लेकर अन्य दार्शनिकों को उसकी आलोचना करनी चाहिये। यही नीतिसंगत एवं वैज्ञानिक मार्ग है। उपर्युक्त तर्क में 'स्यात्' का अनेकान्त दर्शनगृहीत अर्थ न लेकर 'शायद' या 'संभावित' अर्थ ले लिया गया, यह उचित नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'स्यात्' का 'शायद' या 'संभावित' अर्थ लेना व्याकरण एवं शब्द शास्त्र के विरुद्ध भी है। शब्द शास्त्र में कहीं भी 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' या 'संभावित' अर्थ नहीं लिया गया है। यह तो स्पष्ट मन-मानी है।

यह त्रुटि कोषकारों ने भी की है। आपटे डिक्शनरी को देखिये। उसमें 'स्यात्' को विधिलिङ् लकार का प्रथम पुरुष का एकवचन माना है। लेकिन अर्थ किया है 'Perhaps'। यह अर्थ कहाँ से कैसे आया, यह तो वे स्वयं या ईश्वर ही जान सकता है। इसी प्रकार उसमें 'स्याद्वाद' का अर्थ किया गया है—"An assertion of probability (in phil) a form of scapticism" यह अर्थ भी कैसे ले लिया ? आश्चर्यजनक है। कोषकार का कर्तव्य है कि वह किसी भी दर्शन के शब्द का अर्थ करते समय उस दर्शन की पारिभाषिकता के भी दर्शन करे, तो शब्द के साथ न्याय होगा। इसी प्रकार 'स्यात्' का अर्थ करते समय भी शब्द शास्त्र की व्युत्पत्ति एवं विवेचन को एक तरफ रखकर उसका अर्थ किया गया है।

'स्यात्' शब्द के बारे में गत अध्याय में हम काफी विवेचन कर आये हैं। अब 'स्यात्' शब्द के बारे में किसी भी भ्रम की संभावना नहीं है।

अब हम डाक्टर साहब के दूसरे तर्क को लें। उनका कहना है—'स्याद्वाद के कारण हम किसी भी पदार्थ के विषय में निश्चित रूप से कथन नहीं कर सकते।'

डाक्टर साहब ने निश्चित रूप से कथन में स्याद्वाद को जबर्दस्त रोड़ा माना है। 'स्यात्' शब्द की और स्याद्वाद' शब्द की विवेचना ऊपर की जा चुकी है। संक्षेप में 'स्याद्वाद' का अर्थ है—सापेक्षवाद। वस्तु का अवलोकन करने में उसके धर्मों का ज्ञान सापेक्षवाद के द्वारा ही होता है।

सापेक्षवाद नहीं अपनाया तो धर्मों का ज्ञान अधूरा रहेगा, और उसमें पूर्णता आ नहीं सकेगी। विभिन्न धर्मों का अस्तित्व वस्तु में विभिन्न अपेक्षाओं से ही संभव है। अतः सापेक्षवाद के बिना वस्तु का ज्ञान अधूरा ही रहेगा। सापेक्ष-वाद केवल वस्तु के अवलोकन में पूर्णता एवं निश्चितता लाता है। अतः उपर्युक्त कथन तर्कसंगत नहीं है।

इसी प्रकार तीसरा तर्क भी है। डाक्टर साहब का कथन है कि 'जैन दर्शन का तर्कशास्त्र सत्य के केवल आंशिक रूप को ही ग्रहण करता है।'

किसी भी वस्तु के ज्ञान की भी एक प्रक्रिया है। घट को देखकर हमको ज्ञान होता है—यह घट है। अब घट के यथार्थ रूप को जानने के लिये हम उसका विश्लेषण करने लगते हैं—कि घट क्या है? विश्लेषण से ज्ञात होता है कि घट याने कंबुग्रीवादिमान्, पीतल का या ताँबे का या स्टील का, छोटा या बड़ा, जल, तेल, घी आदि पदार्थों को लाने में समर्थ आदि उसके अनेक धर्म हैं। अलग-अलग उनके विभिन्न धर्मों का हमें ज्ञान होता है। यद्यपि इसमें वस्तु के आंशिक धर्मों का ही ज्ञान होता है। यह विश्लेषण का स्वभाव है कि वह आंशिक रूप आंशिक रूप करके वस्तु का पूर्ण ज्ञान कराता है। यहाँ भी आंशिक रूप आंशिक रूप करके घट का पूर्ण ज्ञान होता है। यह ज्ञान की विश्लेषण की प्रक्रिया की विशेषता है। विश्लेषण नहीं अपनाया तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कैसे संभव होगा? सामान्य रूप से घट का ज्ञान एक वक्त हो जायगा। लेकिन उसके पूर्ण स्वरूप को जानने के लिये हमें विश्लेषण की प्रक्रिया अपनानी ही होगी। आप चाहें तो विश्लेषण न करें। यह इच्छा पर निर्भर है। अतः यह दोष मानकर स्याद्वाद के मत्थे मढ़ना न्यायोचित नहीं है। स्याद्वाद हमें एक धर्म के ज्ञान को कराने के बाद दूसरे धर्म को जानने के लिये निषेध नहीं करता है। वह तो सापेक्षवाद लाकर एक धर्म को जानने के बाद अन्य धर्मों को भी हमारे ज्ञान में आने के लिये मार्ग प्रशस्त कर देता है। इतनी स्पष्ट स्थिति होते हुये भी विद्वानों का किसी एकवाद के बारे में इस प्रकार लिखना बड़ा ही खेदजनक है तथा इस प्रकार की मानसिकता विद्वानों की ओर से केवल अनेकान्तवाद के बारे में ही बतलाई गई है—इस स्थिति से तटस्थ मानसिकता को बड़ा ही दुःख मिलता है।

डा० देवराज जी ने भी 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कदाचित्' किया है। 'कदाचित्' का भी वही अर्थ है, जो डा० राधाकृष्णन् ने किया है। इसका

समाधान ऊपर हम विस्तार से कर आये हैं। यहाँ अब अधिक समाधान की आवश्यकता नहीं है।

अब प्रो० एम० हिरियन्ना के विरोधी तर्कों को लेवें। उनके तर्क आठ हैं। उनमें से पहला तर्क है—'स्याद्वाद के आधार पर सत् का स्वरूप अत्यधिक अनियत है।'

ऊपर विवेचन किया गया है कि स्याद्वाद वस्तु के निश्चित स्वरूप को ही बतलाता है। फिर उसके कारण सत् का स्वरूप अत्यधिक अनियत कैसे हो जाता है? एक दृष्टि में ही देवदत्त का ज्ञान हमें हो जाता है, लेकिन उसके विस्तृत परिचय की दृष्टि से हम उसके धर्मों का ज्ञान करना चाहते हैं। उसके पिता को हम देखते हैं। पिता की अपेक्षा से वह पुत्र है। पुत्र को देखने के बाद पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है। भानेजे की दृष्टि से मामा और मामा की दृष्टि से भानेज, श्वसुर की दृष्टि से दामाद, दामाद की दृष्टि से श्वसुर इत्यादि अनेक उसके पक्षों का हमें ज्ञान होता है। इसमें सब नियत है। पिता की अपेक्षा से ही वह पुत्र ही है। इसमें क्या अनियतता है? यहाँ तो अनियतता का नाम भी नहीं है, और आप अत्यधिक (?) अनियतता बतलाते हैं।

वस्तु के सत्य का संपूर्ण स्वरूप एक साथ हम पूर्ण रूप से न तो देख सकते हैं, और न उसको प्रकट कर सकते हैं। उसको आंशिक रूप में ही देखा व प्रकट किया जा सकता है। एक आंशिक रूप को देखने के बाद यदि आगे हमको ज्ञान न हो सके तो हम स्याद्वाद को आंशिक सत्य का ग्राहक कह सकते हैं। पर ऐसी बात नहीं है। स्याद्वाद वस्तु के ज्ञान के लिये एक अनुसंधान प्रणाली है। जब तक वस्तु का पूर्ण ज्ञान न हो जाय, तब तक वह उसके स्वरूप का अनुसंधान करते हुये ज्ञान करता जाता है। इसमें अनियतता का लवलेश भी दिखाई नहीं पड़ता।

उनका दूसरा तर्क है—'स्यात् अस् धातु का विधिलिङ् का रूप है, इसका अर्थ है शायद। इसीलिये स्याद्वाद शायद का सिद्धान्त है।'

इसका विस्तृत समाधान हम ऊपर दे आये हैं, अतः यहाँ फिर से देने की आवश्यकता नहीं।

उनका तीसरा तर्क है—'स्याद्वाद से दार्शनिक दुराराध्यता की बात पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।'

अनेकान्त एकवाद है और स्याद्वाद अनेकान्त को प्रकट करने की एक भाषा शैली है। वह शैली सप्तभंग रूप है। अनेकान्त को प्रकट करने की शैली सात वाक्य में विभाजित की जा सकती है। वास्तव में भंग दो या तीन ही हैं। सात भंग उसी का प्रपंच है। यह अनेकान्त के आचार्यों ने अनुसंधान करके निश्चित किया है। ये भंग सात ही हो सकते हैं, न कम और न ज्यादा। यह एक स्पष्ट एवं निस्संदिग्ध वस्तु की यथार्थता को देखने की एक प्रणाली है। इसमें दार्शनिक दुराराध्यता को देखना कितना विचित्र है ? दार्शनिक दुराराध्यता का यहाँ अंश ही नहीं है। इस प्रणाली को सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता है। इसमें कोई कठिनता नहीं आती है। फिर दुराराध्यता बतलाना सर्वथा अनुचित है।

श्री हिरियन्ना का चौथा तर्क इस प्रकार है—'इस मत के विचार से तत्त्व का स्वरूप जटिल है। इन मतों में से प्रत्येक अंश सही है, लेकिन पूर्णतः सही कोई भी नहीं है।'

यह कहना सही नहीं है कि यह मत तत्व के स्वरूप को जटिल बतलाता है। किसी भी आचार्य ने तत्त्व के स्वरूप को जटिल नहीं बतलाया। इस मत के विचार से तत्त्व का स्वरूप जटिल नहीं है, अपितु अनेक धर्मात्मक है। वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं, उससे वस्तु का स्वरूप जटिल नहीं बन जाता। इस दर्शन के मत में प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है, लेकिन वह वस्तु सरलतया कोई भी जान सकता है। उसमें कोई भी दुरूहता, दुर्बोधता या उलझा हुआ पन नहीं है। वस्तु के अनेक धर्मात्मिक स्वरूप को जानने की प्रक्रिया भी बड़ी सरल है, जिससे सरलता के साथ उस स्वरूप को जान सकते हैं। इस दर्शन को जानने वालों का अनुभव भी वस्तु स्वरूप की जटिलता का नहीं है। अतः यह तर्क भी जमता नहीं है।

इस तर्क का उत्तरार्ध है—'इन मतों में से प्रत्येक अंश सही है, लेकिन पूर्णतः सही कोई भी नहीं है।'

इस तर्क में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इधर कह रहे हैं—'प्रत्येक अंश सही है।' आगे कह रहे हैं—'पूर्णतः सही कोई भी नहीं है।' यदि कोई

भी पूर्णतः सही नहीं है तो फिर प्रत्येक अंश अधूरा सही है। बड़ा विचित्र कथन है।

थोड़ी सी समझने की बात है कि हम वस्तु के स्वरूप का ज्ञान-यथार्थ ज्ञान करने जाते हैं, तो उसके पूर्ण ज्ञान के लिये विश्लेषण के द्वारा उसके स्वरूप के अंशभूत धर्मों का ज्ञान करना पड़ता है। यह अंश भूत ज्ञान शब्द से ही मालूम पड़ता है कि आंशिक ज्ञान है। यह आंशिक ज्ञान है, इसीलिये इसे नय कहा जाता है, प्रमाण नहीं। प्रमाण में वस्तु का पूर्ण ज्ञान होता है। सप्तभंगी के दो प्रकार में सकलादेश एवं विकलादेश का यही अभिप्राय है। यह दर्शन स्वयं नय को प्रमाण नहीं मानता है, क्योंकि वह आंशिक ज्ञान है। वह स्वयं इस आंशिक ज्ञान को नं० दो पर रखता है। नंबर एक तो प्रमाण ज्ञान है। इसे नंबर दो पर इसलिये रखा जाता है कि यह आंशिक ज्ञान भी यथार्थ है, अयथार्थ नहीं है। लेकिन वस्तु का पूर्ण ज्ञान इससे नहीं होता है। इसीलिये यह प्रमाण नहीं माना जाता है। इतने स्पष्ट विवेचन के बावजूद इस प्रकार विरोधी तर्क उपस्थित करना उचित नहीं है।

इनका पाँचवा तर्क इस प्रकार है—'जैन दर्शन के दो तत्त्व द्वैत बतलाते हैं,—इनका विलय एक वाद में हो जाना चाहिये।'

अधिकतर वैदिक दार्शनिक अद्वैत पर विशेष जोर देते हैं। मस्तिष्क में अद्वैत को बिठाकर फिर अन्य दर्शनों के तत्वों पर विचार करते हैं। इसीलिये यह विचार पक्षपातग्रस्त हो जाता है। हमको वस्तु का यथार्थ ज्ञान करना है तो नेत्र पर किसी भी रंग का चश्मा नहीं होना चाहिये। तभी तो हम तटस्थ-भाव से प्रेरित होकर दर्शन के विचारों की वास्तविकता को समझ सकें। रंग का चश्मा पहनने पर तो हम अपने रंग के अनुसार ही वस्तु के स्वरूप को देखेंगे। देखने का यह तरीका यथार्थ दर्शन से मनुष्य को दूर ले जाता है। इस प्रकार के दार्शनिक व्यक्ति यही चाहते हैं कि सब द्वैतों का अंतर्भाव अद्वैत में हो जाय और हमारा ही एक ही मत कायम रहे। यह सांप्रदायिकता का तकाजा है। यदि हम दर्शनशास्त्र को सांप्रदायिकता से अलग केवल आध्यात्मिक जगत् को जानने का विचार शास्त्र मात्र मानते हैं, तो हमें अप्रतिबद्ध एवं तटस्थ मस्तिष्क से विचार करना चाहिये। जब तक मनुष्य सर्वज्ञ नहीं बन जाता, तब तक उसके चिन्तन की समाप्ति नहीं हो सकती। उसके चिन्तन का अन्तिम सोपान भी नीचे का सोपान सिद्ध हो सकता है। आज के विज्ञान के युग में

विज्ञान की प्रत्येक शाखाओं में हम इसी तथ्य का अनुभव प्रतिदिन कर रहे हैं। जब अणु बम का आविष्कार हुआ, तब किसी भी वैज्ञानिक ने उसे अंतिम बलशाली बम नहीं माना। और हुआ भी वही। बाद में हाइड्रोजन बम के आविष्कार के बाद यह बात तथ्य प्रमाणित हुई। आज तो इससे भी अधिक शक्तिशाली महाविध्वंसकारी अस्त्र बनाने का प्रयत्न चल रहा है। ऐसी स्थिति में आगे बढ़ते हुए युग में किसी भी चिंतन एवं आविष्कार को अंतिम मानकर उसी में प्रतिबद्ध हो जाना महान् भूल है।

अनेकान्त दर्शन ने अद्वैत का विचार किया है और वह अद्वैत की स्थापना भी कर चुका है—यह हम ऊपर बतला आये हैं। अनेकान्त के सर्वमान्य प्रधान-भूत बारह आगमों में से एक आगम 'ठाणांग सूत्र' के प्रथम स्थान के प्रथम सूत्र में ही कहा है—'एगे आया।' अर्थात् आत्मा एक है। अद्वैत का चिन्तन इन दर्शनकारों के मस्तिष्क में भी था, यह इन प्रमाणों से सिद्ध होता है। बाद में इस चिन्तन में सर्वमूर्धन्य आचार्य कुन्दकुन्द हैं। बाद में भी सिद्धसेन, हरिभद्र आदि आचार्यों ने अद्वैत में समन्वय स्थापित किया है। तटस्थ विचारकता इसको कहते हैं। दर्शन शास्त्र में अनेकान्त दर्शन के आचार्यों जैसा तटस्थ चिन्तन का अन्य उदाहरण ढूँढे भी नहीं मिलेगा।

इनका छठा तर्क है—'जैन मत जीव और अजीव के प्रसिद्ध अंतर को विकसित करता है। यह इस मत का अनिवार्य परिणाम है।'

सातवाँ तर्क इस प्रकार है—'जैन दर्शन का यह अधूरा चिन्तन सप्तभंगी न्याय में भी झलकता है।'

दोनों तर्क मूल में एक ही विचार रखते हैं, इसलिये हमने दोनों को साथ-साथ ले लिया है।

अनेकान्त दर्शन ही क्या, अद्वैत को छोड़कर सभी दर्शन, जीव एवं अजीव के अन्तर को विकसित करते हैं। जब सभी दर्शन जीव एवं अजीव भिन्न तत्त्व मानते हैं, तो वैज्ञानिक प्रक्रिया एवं विकास का तकाजा है कि वह दोनों के बीच का अन्तर विकसित होता ही जायगा। जब कि अद्वैत के अतिरिक्त सभी दर्शनों की यह मान्यता है, तो फिर एक ही दर्शन ने क्या अपराध किया कि

उसे ही हर बात में दबोचा जाय। विचार शास्त्र में पक्षपातयुक्त दृष्टि सर्वथा हेय है।

यह अनिवार्य परिणाम भी इस मत का (?) ही नहीं, सभी द्वैत दर्शनों के चिन्तन का भी यही परिणाम सामने आवेगा।

यहाँ मत शब्द हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करता है। दर्शन से मत याने संप्रदाय का सम्बन्ध जोड़ना बहुत ही अनुचित है। संप्रदाय का संबंध जोड़ने से हम तटस्थ एवं निष्पक्ष विचारक नहीं रह सकते। जिस प्रकार अन्य दर्शन आध्यात्मिक विचार शास्त्र एवं आध्यात्मिक विचारों के विकासों के सोपान हैं, उसी प्रकार अनेकान्त दर्शन की भी यही स्थिति है। इसीलिये मैं उसे जैन दर्शन न कह कर प्रत्येक जगह अनेकान्त दर्शन शब्द से ही उसका कथन करता आ रहा हूँ। जैन शब्द में थोड़ा सम्प्रदाय के बोध का भ्रम हो सकता है।

आज के वैज्ञानिक युग में, जब कि हम प्रत्येक तत्त्व का वैज्ञानिक साधनों से प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जीव तथा अजीव तत्त्व भी प्रत्यक्ष हैं। आधुनिक सभी वैज्ञानिक इस बात का समर्थन करते हैं। फिर उनमें अन्तर समयानुसार विकसित होगा ही, क्योंकि विचारों के विकास का यह अनिवार्य परिणाम है।

सातवें तर्क में जो 'अधूरा चिन्तन' शब्द दिया है, यह भी पक्षपात के चश्मे को लगाकर ही कहा जा सकता है। वैज्ञानिक खोज कोई भी अधूरी नहीं रहती। वह तो खोज का परिणाम है, वह तो उसका ठहरने का स्थान (Stopage) है। एक सोपान है। आज के वैज्ञानिक युग में अन्तिम बिन्दु की जो वैज्ञानिक प्रक्रिया है, वह भी अपने को अंतिम होने का दावा नहीं करती। क्योंकि न मालूम कब उसके आगे भी कोई वैज्ञानिक पहुँच जाय। अतः इस प्रकार का दोषारोपण खेदजनक है।

आपका आठवाँ तर्क है—'यह एकांगी मतों को इकट्ठा करके छोड़ देता है। उनके वैषम्य को उचित संश्लेषण द्वारा दूर करने की चेष्टा नहीं करता।'

यह तर्क अनेकान्त दर्शन को ठीक तरह से नहीं देखने का और उसके

अध्ययन नहीं करने का परिणाम है। इस दर्शन में एकांगी मतों का नाम नय है। उनका समूह अनेकान्त है और वह प्रमाण है। जब तक उन एकांगी मतों का उचित संश्लेषण से समन्वय नहीं होता, वह प्रमाण नहीं बन सकता। प्रमाण बनने के लिये उनमें समन्यवात्मक समूह बनना आवश्यक है। एकांगी मतों को छोड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि वह छोड़ देता है तो प्रमाण नाम की वस्तु अनेकान्त दर्शन में रह ही नहीं सकती। उस दर्शन में प्रमाण है, अतः उचित संश्लेषण द्वारा उनके वैषम्य को दूर किया गया है। इसके लिये आचार्य हरिभद्र के शास्त्रवार्ता-समुच्चय को गौर से देखा जाय। उसमें आचार्यजी ने सभी दर्शनों का समन्वय किया है। उसको पढ़ने के बाद फिर यह प्रश्न सामने ही नहीं टिकता।

अब अच्छे चिन्तक श्री दामोदरन् को लीजिये। उनका प्रथम तर्क निम्न है—

'स्याद् का शाब्दिक अर्थ है—संभवतः। स्याद्वाद में ज्ञान केवल संभावित है। इसमें निश्चित कुछ भी नहीं।'

बहुत खेद होता है कि किस प्रकार के विरोधी तर्क उपस्थित किये जाते हैं, जिनका कोई मूल नहीं है। 'स्याद्' का संभवतः अर्थ कहाँ से लायें ? अनेकान्त दर्शन ने 'स्याद्' को तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना है। यह विधिलिङ् का रूप नहीं है। यदि विधिलिङ् का भी रूप मान लिया जाय तो भी उसका अर्थ 'संभवतः' नहीं होता। लिङ्ग लकार विध्यादि अर्थों में होता है, जो कि ऊपर विस्तार से बतला आये हैं। उनमें 'संभवतः' अर्थ है ही नहीं। स्याद् यह विधिलिङ् का पाणिनि व्याकरण में प्रयोजक संभावना को नहीं माना गया है। फिर यह अर्थ करना व्याकरण विरुद्ध एवं मनमाना है। शब्दशास्त्र में मनमानापन नहीं चलता। यदि मनमानापन किया भी जाय तो वह प्रमाण नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्याद्वाद में केवल संभाविक ज्ञान मानना और कुछ भी निश्चित नहीं मानना सर्वथा निर्मूल है। स्याद्वाद का रूप एवं उसको प्रकट करने की शैली का ठीक निरीक्षण करें तो कहीं भी आपको संभावना या अनिश्चय ढूँढ़े भी नहीं मिलेगा। स्याद्वाद में सभी कथन निश्चयात्मक हैं। फिर यह विरोधी तर्क कहाँ से उठाया गया, आश्चर्य है ?

सिद्धान्त कौमुदी में लकारार्थ प्रकरण में एक सूत्र आया है—

'संभावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे'[1]।

इस सूत्र का अर्थ है—'संभावना अर्थ में लिङ् होता है, यदि वह संभावन—'अलम्' इस सिद्ध का अप्रयोग हो। मतलब यह है कि संभावन[2] को बतलाने वाले 'अलम्' शब्द का प्रयोग न हो तो संभावन में लिङ् होता है। जैसे—'अपि गिरिं शिरसा भिन्द्यात्'। बलवान् पुरुष को लक्ष्य करके यह उक्ति है। प्रायः शिर से पर्वत को भेदने में यह समर्थ है। पर्वत के भेद की संभावना के सामर्थ्य हेतुकत्व[3] का द्योतक अपिशब्द[4] यहाँ है। ऐसा शब्द यहाँ बिलकुल कोई भी नहीं है। अतः यह सूत्र भी यहाँ लागू नहीं होता। दूसरे 'स्याद्वाद'

---

१. देखिये—अष्टाध्यायी ३।३।१५४, सिद्धान्तकौमुदी बाल मनोरमा टीका पृ० ६६१ सूत्र संख्या २८११।

२. संभावनम् क्रियासु योग्यताध्यवसायः॥ तच्च संभावनं समर्थ इति चेद् भवति, तदा लिङ् स्यादित्यर्थः।

—सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी पृ० ४७५।

संभावनम् क्रियासु योग्यताध्यवसानम्, शक्तिश्रद्धानमिति।

—काशिकावृत्ति ३।३।१५४।

योग्यता सामर्थ्यम्....ज्ञानमुच्यते। तमेवार्थं पर्यायान्तरेण विस्पष्टीकर्तुमाह—शक्तिश्रद्धानमिति। शक्तिः सामर्थ्यम्—इति न्यासकारः—पातंजलमहाभाष्ये ३।३।१५५ सूत्रे, पृ० ३६०।

३. संभावनाद्योतकोऽपिशब्दः, गिरिविदारणे पर्याप्त इति संभावनात्र गम्यते।

—सि० कौ० तत्वबोधिनी पृ० ४७५

४. 'अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु' १।४।९६ सि० कौ० पृ० २०५ सूत्र क्रमांक ५५७ पदार्थाद्यर्थद्योतकः अपिशब्दः। तेषु—अत्र अपिः संभावनाद्योतकः, 'अपि स्तुयाद् विष्णुम्', संभावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः' इति कौमुदी पृ० २०५। 'अवाङ्मनसगोचरं विष्णुमपिस्तुयाद् स्तोतुं शक्त इत्यर्थः। अत्युक्तिरियम्—अवाङ्मनसगोचरस्य विष्णोः केनापि स्तोतुमशक्यत्वात्।

—इति बालमनोरमा पृ० २०४।

में स्याद् शब्द विधिलिङ् का रूप ही नहीं है। वह तो निपात माना गया है। अतः इस सूत्र की वहाँ संभावना भी नहीं है।

इनका दूसरा तर्क इस प्रकार है—

'एक दृष्टि से वस्तुत्व में अस्तित्व की पुष्टि की जा सकती है, और दूसरी दृष्टि से उससे इन्कार किया जा सकता है।'

यह कथन भी बिलकुल स्याद्वाद का गलत निरूपण है। घट में हम स्वरूप से उसके अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। दूसरी दृष्टि से उस स्वरूप प्रयुक्त अस्तित्व से इन्कार नहीं करते हैं। घट में पट की दृष्टि से स्वरूपजन्य अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जाता। अपितु पटत्वावच्छेदेन घट में नास्तित्व अलग से एक धर्म माना जाता है। क्योंकि घट पट नहीं है—यह सार्वजनीन अनुभव है। अतः पटप्रतियोगिक नास्तित्व घट में रहता ही है। यदि उसका नास्तित्व नहीं माना जाय तो यही सिद्ध होता है कि घट पट है। पर यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः पट निरूपित या पटत्वावच्छिन्न नास्तित्व घट में मानना ही होगा। अनुभव सिद्ध वस्तु का या धर्म का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः दूसरी दृष्टि से उससे इन्कार यहाँ किया ही नही जाता, तो फिर यह तर्क भी यहाँ अनुचित है।

यही समाधान इनके तीसरे तर्क में भी है। तीसरा तर्क है—

'वस्तु का विशेष पक्ष विशेष संदर्भ में सही हो सकता है, दूसरे दृष्टिबिन्दु से वह गलत हो सकता है।'

एक ही पक्ष सही और गलत दोनों नहीं हो सकता। उसके पीछे दृष्टिभेद भी रखे जावें। घटत्वेन घट सही ही है, उसके पीछे कितने भी दृष्टिभेद लागू करें तो भी घटत्वेन घट गलत नहीं हो सकता। ये दूषण जात्युत्तर सरीखे लगते हैं। इनमें तर्क का परिपोष नहीं है। इतने निश्चयात्मक कथन करने वाले को भी इस प्रकार निरूपित किया जाय, तो फिर सत्य नाम की वस्तु कोई दुनिया में है ही नहीं। ये सब तर्क वस्तु को ठीक न समझने के कारण किये गये हैं। अनेकान्त काल्पनिक न होकर वस्तु स्वरूप का अनुकारी है। अतः अनेकान्त को लागू करके स्वरूप से घट में सत्त्व के साथ असत्त्व की कल्पना यथार्थ स्वरूप के विरुद्ध है। घट यदि स्वरूप से भी असत् हुआ तो सर्व वस्तुओं का

अभाव हो जायगा, किसी की सत्ता न रहेगी। अतः अनेकान्त का प्रयोग वस्तु स्वरूप के अनुसार जागरूकता से होना चाहिये।

अब एक विरोधी तर्क बाकी रहा है। वह है डा० संपूर्णानंद का। वे लिखते हैं—

'मैं सप्तभंगी न्याय को तो बाल की खाल निकालने के समान आवश्यकता से अधिक बारीकी में जाना समझता हूँ। परन्तु अनेकान्तवाद की ग्राह्यता को स्वीकार करता हूँ।'

इसमें कोई भी विरोधी तर्क नहीं है, जिसका समाधान किया जाय। डाक्टर साहब अनेकान्त की ग्राह्यता को स्वीकार करते हैं। सिर्फ सप्तभंगी न्याय को आवश्यकता से अधिक बारीकी में जाना वे समझते हैं। इसमें भी कोई विरोधी तर्क नहीं है।

वास्तव में तो दो ही भंग हैं। उन्हीं के अधिक से अधिक सात भंग हो सकते हैं। इससे अधिक नहीं। यह किसी अंश में बारीकी में जाना आवश्यक है। परन्तु जहाँ तत्व का निरूपण हो वहाँ कुछ बारीकी में विद्वान् लोग चले ही जाते हैं। जैसे सिद्धान्त कौमुदी में हल्संधि प्रकरण में संस्कर्ता' के रूप विचारते समय एक सौ आठ रूप होते हैं, ऐसा लिख दिया[1]। विचार जब चला कि सम् कर्ता का क्या रूप बनेगा। सूक्ष्मबुद्धि होने के कारण बारीकी से विचार करते हुये उनके दिमाग में उसके एक सौ आठ रूप आ गये। वैसे ही हलन्त नपुंसक लिंग में 'गवाक्' शब्द के ५२७ रूप लिखे। इस बात को प्राचीन उस जमाने के संदर्भ में देखा जाना चाहिये, जब कि उस युग में इस प्रकार की परंपरा थी। जिसकी इच्छा नहीं हो, वह दो-तीन भंगों तक ही जा सकता है।

अब एक बात और रह जाती है। सन्मति तर्क की टीका में एक विरोधी तर्क और आया है। वह इस प्रकार है—'जो यह कहा जाता है कि 'स्वदेशादि में सत्त्व और परदेशादि में असत्त्व है'—यह हम विरोधी मानते हैं, क्योंकि 'इतरेतराभाव' को हम मानते हैं। इतरेतराभाव को अलग से अभाव मानना आवश्यक है, क्योंकि देशादि में इतर घट का अभाव रहता है, वह अनुत्पत्ति

---

१. सिद्धान्त कौमुदी (मूल चौखंभा) पृ० १६, (गवाक् शब्द) पृ० ६७।

भी याने प्रागभाग भी नहीं है, और न प्रध्वंस है। इतरेतराभाव के स्थान पर दोनों अभाव नहीं रहते हैं।'[1]

इसके समाधान में विशेष बात यह है कि अनेकान्तवाद वस्तु के अनेक धर्मों को बतलाता है। वे अनेक धर्म केवल सत्त्व और असत्त्व ही नहीं हैं, जिससे कि इतरेतराभाव मानकर काम निकाल लिया जाय। इसके अलावा भी कई धर्म हैं, जैसे घट में मृत्तिकात्व, कंबुग्रीवादिमत्व, जलाहरणसमर्थत्व आदि। इनके ज्ञान के लिये अनेकान्त दृष्टि अनिवार्य है। अतः आंशिक धर्म का प्रश्न हल होने से संपूर्ण अंशों का प्रश्न हल नहीं होता है। अतः अनेकान्त को मानना आवश्यक है।

सन्मति तर्क की टीका में इसका समाधान निम्न प्रकार से है। घट में सत्त्व और असत्त्व की व्यवस्था इतरेतराभाव से करते हैं। यहाँ हम प्रश्न करते हैं कि इतरेतराभाव घटवस्तु से अभिन्न है कि भिन्न ? यदि अभिन्न हैं, तो घट के नाश होने पर पटोत्पत्ति का प्रसंग आवेगा। देखिये। पटभेद याने पट का इतरेतराभाव घटरूप माना, और वह घट से अभिन्न है, अतः घट के नष्ट होने पर पट का वह अभाव भी नष्ट हो गया। पट का अभाव नष्ट हो गया, और केवल पट बचा। अतः पट की उत्पत्ति का प्रसंग आवेगा। यदि द्वितीय पक्ष माना, याने घट से भिन्न माना, तो घटादि का परस्पर भेद नहीं होगा, क्योंकि पट का अभाव घट से सर्वथा भिन्न है। जब कि घटाभावरूप पट नहीं होता है, तब पट घट ही हो जायगा। अथवा जिस प्रकार घट की घटाभाव से भिन्न होने के कारण घटरूपता है, उसी प्रकार घटाभाव से भिन्न होने के कारण पट की भी घटरूपता हो जायगी। परस्पर अभिन्न का इनका अभाव से भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह भिन्न और अभिन्न के भेद करने में अकिंचित्कर है। अभिन्नों का अन्योन्याभाव संभव नहीं है। परस्पर भिन्न वस्तुओं का अभाव से भेद नहीं किया जाता। क्योंकि अपनी कारण सामग्री से ही वे भिन्न-भिन्न उत्पन्न होते हैं। उससे भेद व्यवहार भी नहीं किया जाता,

---

१. यदपि 'स्वदेशादिषु सत्त्वं, परदेशादिषु असत्त्वम् वस्तुनः अभ्युपगम्यते एव, इतरेतराभावस्य अभ्युपगमात्।

—सन्मति तर्क पृ० १६५।

क्योंकि भाव पदार्थों का आत्मीय रूप से उत्पत्ति होना ही स्वत: भेद है, और वह प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होने से ही भेद व्यवहार में कारण है ।[1]

दूसरी बात यह है कि भाव और अभाव का भेद अभावप्रयुक्त नहीं है। यदि अभाव प्रयुक्त माना तो उस अभाव का भेद दूसरे अभाव से प्रयुक्त मानना पड़ेगा। अत: अनवस्था दोष आवेगा ।[2] अत: स्वरूप से भेद माना जाता है तो भावों का भी भेद स्वरूप से ही होगा। अत: भिन्न दूसरे अभाव की कल्पना करने से क्या लाभ ? इसलिये एकान्त भिन्न और एकान्त अभिन्न इतरेतराभाव सम्भव नहीं हो सकता।

प्राचीन आचार्यों द्वारा अथवा आधुनिक चिन्तकों द्वारा जो अनेकान्त विरोधी तर्क उपस्थित किये हैं, तथा जिन विरोधी तर्कों की संभावना हो सकती है, उन सबको चतुर्थ अध्याय में उपस्थित किये हैं। उनका जो समाधान जैन

---

१. (तदपि अयुक्तम्) इतरेतराभावस्य घटवस्त्वभेदे घटविनाशे पटोत्पत्ति-प्रसंगात्, पटाद्यभावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद् भिन्नः अभावः तदा घटादीनां परस्परं भेदो न स्यात्। यदा हि घटाभावरूपः पटो न भवति, तदा पटो घट एव स्यात्। यथा वा घटस्य घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात्, घटाभावाद् भिन्न-त्वादेव। नापि एषां परस्पराभिन्नानाम् अभावेनभेदः शक्यते कर्तुम्, तस्य भिन्नाभिन्नभेदकरणे अकिंचित्करत्वात्। न च अभिन्नानाम् अन्योन्याभावः संभवति। नापि परस्पर-भिन्नानाम् अभावेन भेदः क्रियते, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानाम् उत्पत्तेः। नापि भेदव्यवहारः क्रियते, यतो भावानाम् आत्मीयरूपेण उत्पत्तिरेव स्वतो भेदः, स च प्रत्यक्षं प्रतिभासनाद् एव भेदव्यवहार हेतुः।

—सन्मति तर्क पृ० १६५।

२. किंच भावाभावयोः भेदो न अभाव-निबन्धनः, अनवस्थाप्रसंगात्। अथ स्वरूपेण भेदः, तदा भावानाम् अपि स स्यात् इति किम् अपरेण अभावेन भिन्नेन कल्पितेन ? तद् न एकान्तभिन्नः अभिन्नोवा इतरे-तराभावः संभवति।

—वही पृ० १६५।

आचार्यों ने किया है, वह इस पाँचवे अध्याय में सिलसिलेवार रखा गया है। सिंहावलोकन न्याय से इस सब पर नजर डालें तो यह मालूम होता है कि विरोधी तर्क उपस्थित करने वालों ने अनेकान्त दर्शन के साथ न्याय नहीं किया है। विरोध करने के लिये ही यह विरोध किया गया है। इस प्रकरण का गंभीरता से अध्ययन करने से यह बात सिद्ध होती है। एक बात मैंने ऊपर भी बतलाई है, यहाँ फिर से कह देना आवश्यक समझता हूँ कि दर्शन शास्त्र को विशुद्ध विचार शास्त्र के रूप में ही देखा जाय। उसे संप्रदाय की भावनाओं से बिलकुल अलग ही रखा जाना चाहिये। दूसरे, खंडन मंडन का वह युग अब लद गया। पहले खंडन के लिये ही खंडन किया जाता था। अब समन्वय एवं विज्ञान का युग है। इसलिये चिन्तन में भी वैज्ञानिकता आना आवश्यक है। उसके बिना उसमें प्राण नहीं आ सकते। ये सब पूर्ण तटस्थ दृष्टि से ही विचार करने के योग्य है। तभी हम सत्य के अधिक निकट पहुँच सकेंगे।

अंत में अनेकान्त के प्रयोग के लिये कुछ कह देना आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि अनेकान्त का प्रयोग भी पूर्ण जागरूकता के साथ ही करना पड़ता है। अन्यथा कई दोष उत्पन्न होने का भय है। अनेकान्त का इस प्रकार प्रयोग कि (उसकी व्यापकता के लिये) 'चोरी नहीं करना चाहिये' इस नियम में अनेकान्त लाने के लिये 'चोरी करना भी चाहिये'—यह अनेकान्त का दुष्प्रयोग है। यह ऐसा ही है, जैसे कहा जाय कि 'घट स्वरूप से है ही' इसमें अनेकान्त लाने के लिये कहें कि 'घट स्वरूप से नहीं भी है।' यह वदतोव्याघात या पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के निषेध जैसा प्रत्यक्ष विरोधी है। जिस अपेक्षा से हम जो धर्म बतलाते हैं, वह निश्चित ही है, उसी अपेक्षा से उसमें हम नास्तित्व नहीं बतला सकते। यह हमारी बुद्धि की मलिनता का प्रमाण है। अनेकान्त काल्पनिक न होकर वस्तु के स्वरूप का अनुकरण करने वाला है। अतः वस्तु की यथार्थ स्थिति के विरुद्ध हम कुछ भी नहीं कह सकते। अनेकान्त को हम पूर्ण जागरूकता के साथ वैसे लागू करें कि प्रत्यक्षबाध या सिद्धान्तबाध या अन्य दोष न आवे। यदि दोष आने लगे तो वह सिद्धान्त व्याहत हो जावेगा। जैसे यह कहना कि 'अमुक मनुष्य है, अमुक मनुष्य नहीं भी है या स्त्री है'—इस कथन में प्रत्यक्ष व्याघात आता है। अनेकान्त का उद्‌भव वस्तु के यथार्थ ज्ञान या वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के लिये हुआ। इसके विपरीत जाना अनेकान्त की हत्या या उपहास करने के समान है। इसीलिये कथन के साथ एवकार

का प्रयोग अवश्यमेव किया जाता है। जिस प्रकार सब लोग वस्तु की प्रतीति करते हैं, उसी प्रकार यदि वस्तु के स्वरूप को स्वीकार नहीं किया जाय तो सब वस्तु की व्यवस्था कभी भी नहीं हो सकती। इसलिये प्रतीति के अनुसार ही वस्तु का कथन होवे।

'चोरी नहीं करना चाहिये'—यह सार्वकालिक एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसे अनेकान्त के प्रयोग द्वारा उलटा नहीं बना सकते। हरिभद्र सूरि ने कहा भी है—

'पूर्वापरपराघातौ यत्र क्वापि न विद्यते[1]।'

अनेकान्त वस्तुनिष्ठ धर्म है, इसे वस्तु में ही प्रयुक्त कर सकते हैं। इसका जन्म वस्तु के यथार्थ दर्शन के लिये हुआ है। अतः इसे क्रिया या आचार में संलग्न करना उचित नहीं है।

दूसरे, एक कथन का अवच्छेदक, उससे विरुद्ध कथन का अवच्छेदक नहीं हो सकता। पर पीड़ानुद्भावकत्व की अपेक्षा से चोरी नहीं करना चाहिये, यह नियम है, चोरी करना चाहिये इस कथन में परपीड़ोद्भावकत्व है। अतः उसी दृष्टि से चोरी करना चाहिये यह कथन नहीं हो सकेगा। अपेक्षा या दृष्टि भिन्न है, वह है पर पीड़ोद्भावनत्व, इसीलिये तो कानून एवं सामाजिक नियम से वह अपराध है।

●

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३९२ कारिका ५८।

चतुर्थ अध्याय

(अ) विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि

अनेकान्त का ऊपर विवेचन किया गया है। अनेकान्त दृष्टि का अभिप्राय है—अनेकान्त से युक्त दृष्टि। अनेकान्त दृष्टि के मतलब अनेक दृष्टियों से अनेक हैं, परन्तु एक मतलब यह भी है कि हम अपनी दृष्टि में लचीलापन रखें। दृष्टि को कठोर या एकपक्ष प्रतिबद्ध नहीं रखना—इसी का नाम है दृष्टि का लचीलापन। अपनी दृष्टि को हम निर्मल, किसी भी पक्ष से अप्रतिबद्ध एवं तटस्थ रख कर वस्तुओं का चिन्तन करें तो वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके अनेक स्वरूपों को अनेक दृष्टियों से देखने पर हम अपनी दृष्टि को लचीला रखने पर बाध्य होते हैं। दृष्टि को लचीला एवं किसी भी पक्ष से अप्रतिबद्ध रखना दृष्टि की निर्मलता एवं तटस्थता का कारण है, जो कि वस्तु दर्शन में नितान्त उपयोगी है।

इसका एक पक्ष और है—विरोध परिहार। हमारे चिन्तन में कई समय विरोध (पारस्परिक) आ जाया करते हैं। उनका परिहार करना भी अत्यावश्यक होता है। उस विरोध के परिहार के लिये भी दृष्टि में लचीलापन बहुत आवश्यक है। हम एक किसी भी पक्ष से प्रतिबद्ध रहें या दृष्टि में लचीलापन रखें तो विरोध का परिहार करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः विरोध के परिहार के लिये भी अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है।

अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु के अनेक स्वरूपों को हम देखते हैं। वहाँ वस्तु एक है, उसके स्वरूप अनेक हैं। अतः उन स्वरूपों में समन्वय स्थापित करना भी आवश्यक हो जाता है, अन्यथा वे विरोधाक्रान्त रहेंगे। विभिन्न पक्षों में समन्वय स्थापित करना भी इसी कारण से अत्यन्त जरूरी है। समन्वय लाने

में अनेकान्त दृष्टि बहुत उपयोगी है। अनेकान्त दृष्टि के बिना समन्वय स्थापित करना असंभव है।

अब हम विचार करें कि विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया गया है या नहीं।

चार्वाक दर्शन

सबसे पहले हम चार्वाक दर्शन को लें। चार्वाक दर्शन चार भूतों को मानता है। शरीर के आकार में परिणत हुए चार भूतों में ही उसी प्रकार चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे किण्वादि सुरा के उपादानभूत द्रव्यों के समुदाय में मदशक्ति उत्पन्न होती है। अतः चार्वाक के मत में चैतन्य चार भूतों से अलग नहीं है। चार्वाक यह भी जानता है कि चैतन्य को पृथिव्यादि प्रत्येक तत्त्वरूप मान लिया तो घटादि पदार्थ भी चेतन हो जायेंगे। इसलिये चार्वाक यह प्रतिपादित करता है कि चैतन्य पृथिव्यादि अनेक तत्त्व रूप है। एक चैतन्य, अनेक वस्तु रूप या अनेक तत्त्वात्मक है, यह स्वीकार करना अनेकान्त दृष्टि की मुद्रा है। एक को अनेक रूप मानने में समन्वय स्थापित करने के लिये अनेकान्त दृष्टि उपयोगी है।

संसार में होने वाली नरत्वादि विचित्रता तथा नरों में होने वाली विविध विचित्रता हमें देखने में आती है। उस विचित्रता का कारण विभिन्न दर्शनकार कर्म संस्काररूप दैव, भाग्य या अदृश्य को मानते हैं। चार्वाक दर्शन इस बात को नहीं मानता। अदृष्ट या दैव मानने पर उसे पुनर्जन्म मानने को बाध्य होना पड़ता है और पुनर्जन्म माना तो अनुमान को प्रमाण मानना होगा। अनुमान के प्रमाण मानने पर उसका, उसके वर्तमान स्वरूप का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। अतः वह अदृष्ट को नहीं मानता। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर उक्त विचित्रता की संगति चार्वाक दर्शन कैसे लगाता है? यह एक विरोध उपस्थित होता है। इसका परिहार या संगति इस प्रकार से चार्वाक दर्शन द्वारा की जाती है। नरादि शरीरों की विचित्रता का कारण उपादान कारण की विचित्रता है। भोग की विचित्रता शरीर की विचित्रता से है। अथवा पुरुषार्थ की विचित्रता भोग के वैचित्र्य में कारण है। यह दर्शन जीवन में पौरुष के ही महत्व को स्वीकार करता है। अपोलो यान से चन्द्रमा पर जाना पुरुषार्थ के महत्त्व को प्रकट करता है। अपनी उन्नति के लिये पुरुषार्थ का

आश्रय लेने वाले मनुष्य के मार्ग में कोई भी बाधा ठहर नहीं सकती। संसार में यदि कोई व्यक्ति साधन-हीन या दुःखी है, तो उसका कारण दैव नहीं है, अपितु सामाजिक या राजनैतिक संघटन का ही यह दोष है। इसीलिये आज कार्ल मार्क्स के वाद को स्वीकार करके, अथवा उसमें कुछ संशोधन करके समाजवाद से यह दोष दूर किया जाता है। इस प्रकार विरोध के परिहार के साधक रूप में अनेकान्त दृष्टि का यहाँ अवलंबन है।

अन्य दर्शनों के अनुसार वर्तमान जीवन की असफलता में भी उसकी क्षतिपूर्ति जन्मान्तर में संभव है। चार्वाक दर्शन के अनुसार जीवन की अवधि मरण-पर्यन्त ही सीमित होने से इस जीवन की क्षतिपूर्ति का अन्य अवसर प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस आपत्ति के निवारण के लिये और जीवन की नीरसता एवं निरर्थकता को दूर करने के लिये चार्वाक दर्शन निर्विरोध रूप से समन्वय की प्रयोजक सहास्तित्व की जीवन पद्धति को स्वीकार करने के लिये विवश होता है। जिसके स्वीकार करने से 'यावज्जीवं सुखं जीवेत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सुख से जीवन यापन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सहास्तित्व की भावना अनेकान्त दृष्टि की ही भावना है।

दर्शन क्षेत्र में एक सुप्रसिद्ध न्याय है 'प्रत्येकावृत्तिधर्मस्य समुदायावृत्तित्व-नियमः'। समुदाय के प्रत्येक अंश में नहीं रहने वाला धर्म समुदाय में नहीं रहता। इसके अनुसार चार्वाक दर्शन में असंगति आती है। भूतों में प्रत्येक में चैतन्य नहीं है, तो समुदाय में कैसे वह उत्पन्न हो जाता है? यहाँ चार्वाक दर्शन इस प्रकार संगति लगाता है। जिस प्रकार मादक द्रव्यों के निश्चित मात्रा में संमिश्रण से मदिरा में मादकता उत्पन्न होती है, अथवा जिस प्रकार पान, चूना, कत्था आदि द्रव्यों से बनाये हुए पान में रक्तिमा उत्पन्न होती है। वहाँ मादक द्रव्यों में प्रत्येक में मादकता नहीं है। तांबूल की रक्तिमा भी न तो तांबूल में है, न चूना में, न कत्थे में, या न सुपारी में है। यह तो संयोग का परिणाम है। तात्पर्य यह है कि जड़ तत्त्वों के विशेष अनुपात से और विशिष्ट पद्धति से संयोग किये जाने पर मादकता और रक्तिमा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार भूतों के विशेष प्रकार के संयोग से चैतन्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार संगति की जाती है। यह अनेकान्त दृष्टि का मार्ग है।

बौद्धदर्शन

हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं—

'विज्ञानस्यैकमाकारं नानाऽऽकारकरंबितम्,
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।'[1]

बौद्ध विज्ञान को एक मानते हैं। उसमें मूलभूत एक आकार है। जब उसको प्रयोग में लाते हैं, तब उसमें प्रमाता, प्रमिति एवं प्रमेय के आकार रहते हैं। उक्त तीनों पदार्थों के प्रतिभासरूप विज्ञान को एक मानना—वस्तु को एकानेक रूप मानना है। यह अनेकान्त दृष्टि है।

बौद्ध दर्शन के मत में जो ज्ञान जिस पदार्थ के आकार का होता है, वह उसी पदार्थ को जानता है। निराकार ज्ञान पदार्थ को नहीं जान सकता। इस तदाकारता के नियम को बौद्ध दर्शन ने प्रमाणता का नियामक माना है। इस नियम के अनुसार नानारंग वाले चित्रपट को जानने वाला ज्ञान एक प्रतिभासात्मक नहीं है, क्योंकि वैसा मानने से चित्रज्ञानत्व से विरोध आवेगा। नीलपीतादि अनेक आकार वाला ज्ञान चित्र ज्ञान है, वह एकाकार नहीं है। चित्र ज्ञान अनेक है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह चित्र ज्ञान है। इस अनुभव से विरोध आता है, ये चित्र ज्ञान हैं, यह अनुभव का प्रसंग भी आवेगा। अतः चित्रज्ञान को एकानेकात्मक बौद्ध दर्शन को अभिप्रेत है। यह स्पष्ट रूप से अनेकान्त दृष्टि है।[2]

बुद्ध सर्वज्ञ थे। उपर्युक्त तदाकारता के नियम के अनुसार संसार के समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वज्ञ सुगत का ज्ञान सर्वाकार याने चित्रविचित्राकार होना ही चाहिये। इस तरह सुगत के एक ही ज्ञान को सर्वाकार मानना भी अनेकान्त दृष्टि का समर्थन करना है।

बौद्ध दर्शन में हेतु के तीन रूप माने जाते हैं, पक्ष में रहना (पक्ष-सत्त्व), सपक्ष में रहना (सपक्ष-सत्त्व) और विपक्ष में नहीं रहना (निपक्षव्यावृतत्व)। सत्त्व और व्यावृतत्व दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं, ये एक ही हेतु में रहते हैं।

---

१. वीतराग स्तोत्र ८ प्रकाश ८ श्लोक।

२. सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ८१।

यह स्पष्टतया अनेकान्त दृष्टि का अवलंबन है। अथवा पक्ष में रहने अथवा सपक्ष में उसकी सत्ता होने के कारण अन्वयात्मक हेतु, तथा विपक्ष में उसकी सत्ता न रहने के कारण उसी को व्यतिरेकात्मक माना जाता है। अन्वयी और व्यतिरेकी ये स्पष्ट ही परस्पर विरोधी हैं। इस तरह परस्पर विरोधी धर्मों को एक हेतु मानना स्पष्ट ही अनेकान्त दृष्टि को अपनाना है। यह उदाहरण अन्य सर्व दर्शनों में लागू होता है।

बौद्ध दर्शन में किसी भी क्षण को पूर्व क्षण का कार्य तथा उत्तर क्षण का कारण माना जाता है। क्षणों की जब संतान चलती है, उसमें इसी प्रकार कार्य-कारण भाव चलता है। यदि वह पूर्व क्षण का कार्य न हो तो सत् होकर भी किसी से उत्पन्न होने के कारण वह नित्य हो जायगा। यदि उत्तर क्षण को वह उत्पन्न न करे तो अर्थक्रियाकारी न होने से अवस्तु हो जायगा। क्योंकि यहाँ अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण माना जाता है[1]। अतः मध्यक्षण में पूर्व की अपेक्षा कार्यता और उत्तर की अपेक्षा कारणता—इन दोनों विरुद्ध धर्मों को एक ही मध्य क्षण में मानना स्पष्ट रूप से अनेकान्त दृष्टि का स्वीकार करना है।

इसी तरह बौद्ध दर्शन में स्वप्नादि भ्रान्त ज्ञान को बाह्य पदार्थ की प्राप्ति न कराने के कारण भ्रान्त तथा स्वरूप की दृष्टि से अभ्रान्त मानते हैं। स्वप्न में 'मैं धनी हूँ, मैं राजा हूँ' इत्यादि विकल्प ज्ञान (सविकल्पक) होते हैं। ये विकल्प ज्ञान बाहर धनीपन का राजापन का अभाव होने से जागने पर दरिद्रता का अनुभव होने से भ्रान्त हैं, परन्तु वे अपने स्वरूप की दृष्टि से अभ्रान्त हैं। क्योंकि वैसे विकल्पज्ञान स्वप्न में हुये तो अवश्य ही हैं। इसी तरह शुक्तिका में रजत् का भान कराने वाला मिथ्या विकल्प रजतरूप बाह्य अर्थ का प्रापक न होने से भ्रान्त है, किन्तु वैसा मिथ्याज्ञान हुआ तो अवश्य है। उसका स्वरूप संवेदन तो होता ही है। अतः स्वरूप की दृष्टि से वह अभ्रान्त है। इस तरह एक ही मिथ्या विकल्प को बाह्य अर्थ में भ्रान्त और स्वरूप में अभ्रान्त मानना एक ही में भ्रान्तत्व एवं अभ्रान्तत्व रूप विरुद्ध धर्म मानना है। अतः यह स्पष्ट रूप से अनेकान्त को अंगीकार करना है।

---

१. **अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः।**

—न्यायबिन्दु पृ० १७।

इसी तरह यह दर्शन द्विचन्द्र ज्ञान को द्वित्व अंश में विसंवादी होने से अप्रमाण तथा धवलता, नियत देश में गमन करना आदि चन्द्रगत धर्मों से उसे प्रमाण मानते हैं। अतः एक ही द्विचंद्रज्ञान को प्रमाण और अप्रमाण कहना अनेकान्त का ही निरूपण करना है।

इसी तरह नील वस्तु अपने नीलेपन, चौकोण, और सामने दिखने वाले ऊपरी आकार आदि की दृष्टि से प्रमाण का विषय होने से प्रमेय है, वही भीतरी अवयवों की दृष्टि से तथा क्षणिकत्व आदि की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं होने से अप्रमेय है। इस तरह एक ही नीलादि को प्रमेय और अप्रमेय दो रूप याने परस्पर विरुद्ध रूपवान् मानना अनेकान्त की ही मुद्रा है।

बौद्ध दर्शन में हिंसा से विरक्त होकर अहिंसक बनना तथा दान देना आदि शुभ क्रियाओं से स्वर्ग मिलता है, यह बात आगम से सिद्ध है। इन क्रियाओं को क्षणिक भी माना जाता है। जिस समय कोई व्यक्ति किसी पर अहिंसा, दया करके उसे कुछ दान देता है, उस समय का अहिंसा और दान का प्रत्यक्ष, अहिंसा आदि की सत्ता, उनकी ज्ञानरूपता तथा उनकी सुखरूपता का अनुभव कराता है। तथा आगे 'मैंने दया की, उससे संतोष या सुख हुआ' ऐसे अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने के कारण वह अहिंसा आदि की सत्ता और सुखरूपता में प्रमाण माना जाता है। अथवा अहिंसा और दान आदि स्वयं ज्ञानक्षणरूप हैं, अतः वह अपनी सत्ता, ज्ञानरूपता तथा सुखरूपता का स्वयं ही अनुभव करने के कारण उक्त अंशों में प्रमाण हैं। परंतु अहिंसा आदि में रहने वाली स्वर्गप्रापण शक्ति में तथा उसकी क्षणिकता में वह अहिंसा आदि का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। यद्यपि प्रत्यक्ष से उसकी क्षणिकता तथा स्वर्गप्रापण शक्ति का अनुभव हो जाता है। परन्तु उनके अनुकूल 'ये क्षणिक हैं, ये स्वर्गप्रापक हैं' इत्यादि विकल्पों की उत्पत्ति न होने के कारण प्रत्यक्ष इन अंशों में प्रमाण नहीं माना जाता। इस तरह एक ही अहिंसा क्षण को अपनी सत्ता आदि में प्रमाणात्मक तथा स्वर्गप्रापण शक्ति या क्षणिकता में अप्रमाणरूप माना जाता है। इस प्रकार से एक ही को प्रमाण और अप्रमाण कह कर अनेकान्त को स्वीकार किया गया है।

इसी तरह बौद्ध दर्शनकार निर्विकल्पक के बाद उत्पन्न होने वाले सविकल्पक ज्ञान को बाह्यार्थ में सविकल्पक तथा स्वरूप में निर्विकल्पक मानते हैं।

निर्विकल्पक दर्शन के बाद 'यह नीला है, यह पीला है' इत्यादि विकल्प ज्ञान उत्पन्न होते हैं। ये विकल्प ज्ञान अपने आकार मात्र का ही निश्चय करने वाले होते हैं। ये बाह्य नीलादि अंशों में ही शब्द योजना होने से सविकल्पक होते हैं। स्वरूप की दृष्टि से तो सभी ज्ञान निर्विकल्पक ही होते हैं। ज्ञान चाहे निर्विकल्पक हो या सविकल्पक, दोनो का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक रूप ही होता है। न्यायबिन्दु में आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है—

'तच्च ज्ञानरूपं वेदनम् आत्मसाक्षात्कारि निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तस्मात् प्रत्यक्षम्'[1]।

समस्त चित्त-सामान्य अवस्था को ग्रहण करने वाले ज्ञान तथा चैत्र विशेष अवस्थाओं के ग्राहक ज्ञानों का स्वरूप संवेदन प्रत्यक्ष—निर्विकल्पक होता है। अतः एक ही विकल्प ज्ञान को बाह्य नीलादि की अपेक्षा सविकल्पक तथा स्वरूप की अपेक्षा निर्विकल्पक कहा जाता है। इस तरह एक ही ज्ञान को सविकल्पक एवं निर्विकल्पक अपेक्षा भेद से दोनों कहना अनेकान्त दृष्टि ही है।

और उदाहरण लीजिये। बौद्ध दर्शन का निर्विकल्पक दर्शन-प्रत्यक्ष ऐसे साधारण पदार्थ को विषय करता है, जो क्षणिक भी हो सकता है तथा अक्षणिक-नित्य भी। अनादिकालीन अविद्या और पदार्थों की प्रतिक्षण सदृश रूप से उत्पत्ति रूप कारणों से वस्तु में 'यह वही वस्तु है' इस प्रकार नित्यत्व का आरोप हो जाता है। इस मिथ्या आरोप के कारण वस्तु नित्य रूप में भासित होने लगती है। निर्विकल्पक दर्शन इस नित्यत्व के आरोप में प्रमाण नहीं है, वह इसका समर्थन नहीं करता। वह तो उलटा इस नित्यत्व के आरोप में अप्रमाण ही है। क्षणिक वस्तु में नित्यत्व रूप विपरीत आरोप होने के कारण दर्शन इसमें प्रमाण हो ही नहीं सकता, क्योंकि दर्शन तो वस्तु के अनुसार ही उत्पन्न होता है। इस तरह निर्विकल्पक दर्शन नित्यत्व के आरोप में प्रमाण तो है नहीं, अपितु अप्रमाण ही है। यद्यपि निर्विकल्पक दर्शन क्षणिक अंश का अनुभव कर लेता है, परन्तु 'यह क्षणिक है' ऐसे अनुकूल विकल्प को उत्पन्न न करने के कारण वह क्षणिकांश में भी प्रमाण नहीं है। यदि निर्विकल्पक ही क्षणिकांश में प्रमाण हो जाय तो अनुमान से क्षणिकत्व की सिद्धि करने की कोई आवश्यकता

---

१. न्यायबिन्दु पृ० १४।

ही न होनी चाहिये। ऐसी स्थिति में 'सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्' यह अनुमान निरर्थक हो जायगा। इस तरह निर्विकल्पक क्षणिक अंश में भी प्रमाण नहीं है। नीलादि अंशों में तो यह 'यह नीला है'—इस प्रकार के अनुकूल विकल्प को उत्पन्न करने के कारण वह प्रमाण माना जाता है। अभिप्राय यह है कि एक ही निर्विकल्पक दर्शन को नीलादि अंशों में अनुकूल विकल्प की उत्पत्ति होने से प्रमाण रूप तथा क्षणिक और अक्षणिक अंशों में अप्रमाण रूप मानने वाले बौद्ध दर्शन ने अनेकान्त को बलात् अपना लिया है। उनका एक ही दर्शन को प्रमाण और अप्रमाण—दोनों रूप मानना (अपेक्षा भेद से) अनेकान्तवाद का ही समर्थन करना है।[1]

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी अपने 'दर्शन अनुचिन्तन' नामक पुस्तक में लिखते हैं[2] :—

'सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सब ही दर्शनों में किसी न किसी स्थान पर जाकर यह अनेकान्तवाद मानना ही पड़ता है। जैसा कि बौद्ध दर्शन को ही लीजिये। वहाँ सब पदार्थों को क्षणिक माना जाता है। किन्तु क्षणिक होने पर 'यह वही पदार्थ है' इस रूप में प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पहचान कैसे बनेगी, इसके लिये वे क्षणिक पदार्थों की एक संतान अर्थात् सिलसिला मानते हैं। क्रम से क्षणिक पदार्थों की एक धारा चलती है, उस धारा में आये हुए सब क्षणिक पदार्थ एक रूप ही व्यवहार में मान लिये जाते हैं। इसलिये प्रत्यभिज्ञा या पहचान बन जाती है। अब यदि यहाँ यह पूछा जाय कि वह सन्तान उन क्षणिक पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न माना जाय तो वह भी उन पदार्थों के समान क्षणिक ही हुआ, तब वह भी सब में अनुगत कैसे बन सकेगा? और बिना अनुगत हुए पहचान कैसे करा सकेगा? यदि भिन्न एक रूप से सब में अनुगत मान लिया जाय तो नाम मात्र का विवाद रहा। स्थिर पदार्थ मान ही लिया गया। जिन पदार्थों को हम लोग घट-पट नाम से कहते हैं, उनको ही उन्होंने सन्तान नाम दे दिया, तो इस प्रश्न का निश्चित रूप से वे कुछ भी उत्तर नहीं दे सकते। अतः सन्तान पदार्थों से भिन्न भी है और

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय पृ० ३६७ से ३६९ तक। ज्ञानपीठ प्रकाशन १९७०।

२. दर्शन अनुचिन्तन पृ० ३२। ज्ञानपीठ प्रकाशन १९६४।

अभिन्न भी, यही मानना पड़ेगा। यहाँ बौद्ध दर्शन में भी 'स्याद्वाद' (अनेकान्तवाद) आ गया।'

बौद्ध दर्शन में विभज्यवाद एक विशेष वाद है। 'विभज्य-विभागं कृत्वा वादः कथनम्' 'अर्थात् प्रश्न का विभाजन-विश्लेषण करके अलग-अलग अंशों का (अपेक्षा से) उत्तर देना विभज्यवाद कहलाता है। विभज्यवादी का मतलब एकांशवादी नहीं। वस्तु का विश्लेषण करके सापेक्ष रूप से उत्तर देना विभज्यवाद कहलाता है। यह प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद है। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही लाइन पर चलते हैं। पार्श्वनाथ शोध संस्थान, हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्रो० मेहता का कथन है—'बुद्ध का विभज्यवाद स्याद्वाद का ही निषेधात्मक रूपान्तर है।[1] विभज्यवाद अपेक्षा पर आधारित है और स्याद्वाद भी अपेक्षावाद पर आधारित है। ये दोनों वाद सापेक्षवाद हैं। सापेक्षवाद का ही अन्य नाम अनेकान्तवाद है।

माध्यमिक मत में शून्य ही मूलभूत पारमार्थिक तत्त्व है। दृश्यमान चेतन एवं अचेतन जगत् उसी का विवर्त है। 'शून्य' का दर्शन ग्रन्थों में द्विविध वर्णन है। वैदिक एवं जैन दर्शनों में इस तत्त्व को अभावात्मक कहा गया है, किन्तु माध्यमिक संप्रदाय के प्रामाणिक ग्रंथों में इसे वक्ष्यमाण चार कोटियों की परिधि से परे कहा गया है।

शून्यवादी से यह प्रश्न है कि शून्य सत् है या असत् ? यदि प्रथम पक्ष याने शून्य सत् है, यह स्वीकार किया तो 'सर्व शून्यम्' यह प्रतिज्ञा या सिद्धान्त ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि शून्य ही सत् हो गया। इस भय से यदि 'शून्य असत् है' यह द्वितीय पक्ष लिया तो शून्य के असत् होने से शून्यता का ही व्याघात हुआ। अर्थात् जगत का सत्त्व सिद्ध हुआ। इस असंगति या विरोध के परिहार के लिये माध्यमिक दर्शन यह कहता है—

> 'न सत् नासत् न सदसत् न चाप्यनुभयात्मकम्
> चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः'[2]।

---

१. जैन दर्शन (मेहता) पृ० ८२।

२. भारतीय दर्शनों का समन्वय (डा० झा) पृ० १२३ में उद्धृत।
इसी अर्थ की उक्ति सर्वदर्शन संग्रह (भांडारकर ओरियंटल १९२४) में है—'सदसदनुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव।'

यह वर्णन निषेध रूप से अनेकान्तवाद की ही मुद्रा है।

ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार ज्ञानाकार और अर्थाकार को अभिन्न मानते हैं। वे ज्ञान से भिन्न किसी बाह्य अर्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। ज्ञान ही ग्राह्य पदार्थ के आकार में तथा ग्राहक ज्ञान के आकार में प्रतिभासित होता है। इस तरह एक ही संवेदन में परस्पर भिन्न ग्राह्याकार तथा ग्राहकाकार को स्वयं अनुभव करने वाले ज्ञानवादी अनेकान्त दृष्टि को ही अपनाने वाले दृष्टिगत हो रहे हैं।

संवेदन मात्र परमार्थतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही आकारों से सर्वथा शून्य निरंश है। परन्तु संवेदन की यह वास्तविक ग्राह्याद्याकार-रहितता सपने में भी नहीं दिखाई देती। यदि संवेदन के इस वास्तविक ग्राह्याद्याकार रहित निरंश स्वरूप का अनुभव होने लगे तो सभी प्राणियों को तत्त्वज्ञान होने से अभी ही मुक्ति हो जायगी। 'तत्त्वज्ञान' की उत्पत्ति ही मुक्ति है। यह सिद्धान्त है। संवेदन को संवेदनरूपता का अनुभव तो सभी प्राणियों को होता ही रहता है। इस तरह एक ही संवेदन में ग्राह्यादि आकार शून्यता की दृष्टि से अनुभव न होना तथा उसी का संवेदनरूपता की दृष्टि से अनुभव होना—याने एक ही संवेदन में अनुभूतता और अननुभूतता ये विरोधी धर्म मानना अनेकान्तवाद का ही प्रतिभास है।

इसी तरह सब के ज्ञान सभी ज्ञानों के स्व संवेदन ज्ञान की ग्राह्याद्याकार रहितता—निरंशता का तो अनुभव नहीं कर पाते, पर संवेदनरूपता का अनुभव अवश्य करते हैं। इस तरह एक ही ज्ञान को निरंशता की दृष्टि से अनिश्चयात्मक तथा संवेदनरूपता की दृष्टि से निश्चयात्मक मानना अनेकान्तवाद को ही मानना है।[1]

विनय पिटक में कहा है—'भिक्षुओं, प्रव्रज्या लेने वाले को दो अंतों का सेवन नहीं करना चाहिये। कौन से दो ? एक तो काम सुखों में आसक्ति, जो हीन है, ग्राम्य है, पृथग्जनोचित है, अनार्य है और अनर्थों की जड़ है, और दूसरी आत्मक्लेशों में आसक्ति, जो दुःखमय है, अनार्य है और अनर्थों की जड़

---

१. षड्दर्शन समुच्चय पृ० ३७१।

है। भिक्षुओं, इन दोनों अंतों को छोड़कर तथागत ने मध्यममार्ग का साक्षात्कार किया।[1]

ये दो अंत हैं ये एकान्त हैं। मध्यममार्ग अनेकान्त का प्रकार है।

न्यायदर्शन एवं वैशेषिक दर्शन

न्याय भाष्य में कहा है—

'किं पुनस्तत्त्वम् ? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति, असच्च असदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।'[2]

तत्त्व क्या है ? सत् का सद्भाव कहलाना। और असत् का असद्भाव बतलाना। सत् सत्‌रूप से ग्रहण किया हुआ यथार्थ और अविपरीत तत्त्व होता है। असत् असद् रूप से ग्रहण किया हुआ यथार्थ एवं अविपरीत तत्त्व होता है।

जैन दर्शन भी यही कहता है। घट में स्वरूप की सत्ता है, वह सत् रूप से कही जाती है। घट में पट की सत्ता नहीं है, वह असद् रूप से कही जाती है। यह यथार्थ एवं अविपरीत—वास्तविक तत्त्व है। जैन दर्शन का अनेकान्त न्याय भाष्य के निरूपण का ही अनुसरण करता है।

इसी प्रकार इस दर्शन में सामान्य और विशेष दो पदार्थ माने जाते हैं। जैसे पृथिवी एक सामान्य है, और घट-पट उसके विशेष हैं। किन्तु इसी दृष्टि को यदि फैलावें तो पृथिवी से व्यापक द्रव्य पदार्थ की अपेक्षा से पृथिवी भी विशेष कही जायगी। तब यही कहना होगा कि पृथिवी सामान्य भी है और विशेष भी। घटपट आदि की अपेक्षा से सामान्य है और द्रव्य की अपेक्षा से विशेष भी। यह स्पष्ट ही अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद पदार्थों को सामान्य-विशेषात्मक मानता है। एक ही पदार्थ सामान्य भी है और विशेष भी है। यह

---

१. विनय पिटक महावग्ग १।१।५।

२. न्यायभाष्य अध्याय १ आन्हिक १ पृ० ३ (आनंदाश्रम १९२२)।

निरूपण विरोध उत्पन्न करता है। इसके परिहार के लिये अपेक्षा दृष्टि का अवलंबन लिया गया।[1]

इसी प्रकार घट-पट आदि पदार्थों में यह दर्शन सत्ता नामक सामान्य धर्म मानते हैं। इससे घट-पट आदि पदार्थ सत् कहे जाते हैं। किन्तु एक सत्ता में दूसरी सत्ता नहीं मानी जाती। ऐसा मानने से अनवस्था दोष आवेगा। इसलिये सत्ता को स्वरूप से ही सत् मान लेते हैं। इस प्रकार बहुत से पदार्थ सत्ता के संबंध से सत् कहे जाते हैं और सत्ता स्वरूप से ही सत् मानी गई है। यह एक प्रकार का अनेकान्तवाद ही हुआ।[2]

इसी प्रकार इस दर्शन में शास्त्रार्थ के लिये 'व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव' माना जाता है। इसका आशय यही है कि घटत्वरूप से घट है, पटत्व रूप से घट नहीं है। यहाँ स्पष्ट ही अनेकान्तवाद की छाया दिखलाई पड़ती है।

इसी प्रकार न्याय दर्शन में एक वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव—दोनों रहते हुये माने जाते हैं। एक ही वस्तु में संयोग और संयोगाभाव रहने में विरोध उपस्थित होता है। इसका परिहार अवच्छेदक भेद से लेकर किया जाता है। एक शाखावच्छेदेन कपिसंयोग है, अन्य शाखावच्छेद से कपिसंयोगाभाव भी है। यह अवच्छेदक अपेक्षा का ही अन्य नाम है। यह स्पष्ट रूप से अनेकान्तवाद है।

वैशेषिक दर्शनकार एक ही पृथिवी में नित्यत्व और अनित्यत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म मानते हैं। जैसा कि प्रशस्तपाद भाष्य में कहा है—

'सा तु द्विविधा, नित्या चानित्या च। परमाणु लक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या'।[3]

पृथिवी दो प्रकार की है, नित्य और अनित्य। परमाणु लक्षण पृथिवी नित्य है, कार्यलक्षण पृथिवी अनित्य है। अर्थात् घट परमाणु की दृष्टि से नित्य है, कार्यत्व की अपेक्षा से अनित्य है। यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्मों के

---

१. **कणादसूत्र १।२।३ 'सामान्यं विशेष इतिबुद्ध्यपेक्षम्'।**

२. **दर्शन अनुचिन्तन पृ० ३३।**

३. **प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १२ (चौखंभा, १९२३)।**

अधिकरण भिन्न हैं। नित्यत्व का अधिकरण परमाणु है और अनित्यत्व का अधिकरण घटादि कार्य है, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि पार्थिव परमाणु एवं पार्थिव कार्य दोनों में पृथिवीत्व अव्यभिचारी रूप से रहता है। अर्थात् दोनों ही पृथिवी है। घट में पार्थिव परमाणु भी है और वह कार्य भी है। अतः वह नित्य और अनित्य दोनों हुआ। यह स्पष्ट रूप से अनेकान्तवाद है।

इस दर्शन में आकाश और नित्य एक माना गया है। इस आकाश में संयोग और विभाग दोनों रहते हैं। संयोग और विभाग परस्पर विरुद्ध गुण हैं। ये दोनों एक ही आकाश में रहते हैं। प्रशस्तपाद भाष्य में कहा है—'शब्द-कारणत्ववचनात् संयोग-विभागो'।[1] इस विरोध परिहार के लिये अपेक्षा भेद या अवच्छेदक-भेद मानना पड़ता है। एक देश की अपेक्षा से संयोग है, अन्य देश की अपेक्षा से विभाग है। इस प्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्म रहने से स्पष्टतया अनेकान्तवाद की स्वीकृति है।

दूसरी बात और है। आकाश में संयोग और विभाग दोनों रहने से वह कथंचित् अनित्य भी हुआ। जिस स्वरूप से वह संयोगी है, उसी स्वरूप से वह विभागी नहीं हो सकता। संयोग और विभाग मानने से स्वरूप भेद मानना होगा। इस तरह आकाश में भी नित्यानित्यत्व दोनों धर्म आते हैं। यह लेश से स्वीकार किया गया है। यहाँ अनेकान्त की प्रच्छन्न मुद्रा है।

इस दर्शन में सामान्य दो प्रकार का माना है, पर और अपर[2]। एक ही सामान्य में परत्व और अपरत्व—परस्पर विरुद्ध धर्मों का स्वीकार स्पष्टतः अनेकान्तवाद है।

दर्शनों में प्रमाण और प्रमेय दो प्रसिद्ध शब्द हैं। प्रमीयते अनेन इति

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २५।

२. सामान्यं द्विविधं परमपरं च, अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्, सा च अनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वादि अपरम् अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते।

—प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४।

प्रमाणम् याने जिससे ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है। प्रमा याने ज्ञान का विषय प्रमेय कहा जाता है। एक न्याय सूत्र है—

'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्'।[1]

इसके भाष्य (न्यायभाष्य) का कथन है कि—गुरुत्व रूप परिणाम के ज्ञान का साधन तराजू रूप प्रमाण है। ज्ञान का विषय गुरु द्रव्य सुवर्णादि प्रमेय है। तराजू गुरु द्रव्य को तौलती है, अतः तराजू प्रमाण है और गुरुद्रव्य प्रमेय है। जब प्रमाणभूत उसी तराजू को दूसरी तराजू में रखकर सोने से वजन किया जाता है, तब सोना प्रमाण और तराजू प्रमेय हो जाता है। इस बात से सारे शास्त्र का उद्दिष्ट बतला दिया गया है। आत्मा ज्ञान का विषय है, इसलिये प्रमेय में उसकी गणना की गई है। ज्ञान में आत्मा स्वतंत्र है, अतः वह प्रमाता भी है। बुद्धि उपलब्धि का साधन है, अतः प्रमाण है। उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय भी है।[2] मतलब यह है कि अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु प्रमाण भी है, और अन्य अपेक्षा से प्रमेय भी है। जिस प्रकार दृश्य होते हुये भी प्रदीप का प्रकाश अन्य दृश्य वस्तुओं के दर्शन का हेतु भी है। इस तरह वह दृश्य और दर्शन की व्यवस्था को प्राप्त करता है, उसी तरह प्रमेय होते हुये भी किसी भी अर्थ की उपलब्धि में कारण होने से प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था को प्राप्त करता है।[3] इस प्रकार यहाँ अनेकान्त दृष्टि को उपयोग में लाया गया है।

---

१. न्यायसूत्र २।१।१६।

२. गुरुत्व-परिणाम-ज्ञान साधनं तुला प्रमाणम्, ज्ञानविषयो गुरु द्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयं, यदा सुवर्णादिना तुलान्तरं व्यवस्थाप्यते, तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणं तुलान्तरं प्रमेयमिति। एवम् अनवयवेन तन्त्रार्थो उद्दिष्टो वेदितव्यः—आत्मा तावद् उपलब्धि-विषयत्वात् प्रमेये पठितः, उपलब्धौ च स्वातन्त्र्यात् प्रमाता, बुद्धिः उपलब्धि-साधनत्वात् प्रमाणम्, उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम् उभया-भावात् प्रमितिः। एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः।

—न्यायभाष्य पृ० ९८ से १०३।

३. न, प्रदीपप्रकाशवत् सिद्धेः —न्यायसूत्र २।१।१९।

अत्र भाष्यम्—यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षांगत्वात् प्रमाणं, स च

न्याय एवं वैशेषिक दर्शनकार आकाश को नित्य मानते हैं और उसे ऐसा सिद्ध करते हैं। इसके लिये अनुमान वे प्रस्तुत करते हैं। 'आकाशं नित्यं निरवयवत्वात् यन्निरवयवं तन्नित्यम्, यथा परमाणवः'। इस अनुमान से आकाश नित्य सिद्ध किया जाता है। इस विषय में श्रुति से विरोध उपस्थित होता है। श्रुति है—'एतस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः'[1]।

इसका अर्थ है आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। श्रुति आकाश की उत्पत्ति मानकर उसकी अनित्यता बतलाती है। अनुमान आकाश की नित्यता बतलाता है। इस प्रकार अनुमान और श्रुति में विरोध आता है। इसका परिहार करने के लिये दोनों दर्शनकार अपनी दृष्टि में लचीलापन लाकर 'संभूतः' इस शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्तः' करते हैं। इससे किसी प्रकार विरोध का परिहार करके संगति बिठाई जाती है। यह अनेकान्त दृष्टि की ही छाया है।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने वीतराग स्तोत्र में लिखा है—

'चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्'[2]।

नैयायिक और वैशेषिक चित्ररूप को एक मानते हैं। जिसमें अनेक वर्ण होते हैं, उसे चित्र रूप कहा जाता है। उसको एक रूप एवं अनेक रूप दोनों कहना स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि है।

न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के मत में इन्द्रिय ,सन्निकर्ष से धूम का

प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते.......। यथा च दृश्यः सन् प्रदीप-प्रकाशो दृश्यान्तराणां दर्शनहेतुः इति दृश्यदर्शनव्यवस्थां लभते, एवं प्रमेयं सत् किंचिदर्थजातम् उपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणप्रमेय-व्यवस्थां लभते।

—न्यायभाष्य पृ० १०२, १०३।

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१।

२. वीतरागस्तोत्र ८ प्रकाश ९ श्लोक।

फा०—३५

प्रमाणम् याने जिससे ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है। प्रमा याने ज्ञान का विषय प्रमेय कहा जाता है। एक न्याय सूत्र है—

'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्'।[1]

इसके भाष्य (न्यायभाष्य) का कथन है कि—गुरुत्व रूप परिणाम के ज्ञान का साधन तराजू रूप प्रमाण है। ज्ञान का विषय गुरु द्रव्य सुवर्णादि प्रमेय है। तराजू गुरु द्रव्य को तौलती है, अतः तराजू प्रमाण है और गुरुद्रव्य प्रमेय है। जब प्रमाणभूत उसी तराजू को दूसरी तराजू में रखकर सोने से वजन किया जाता है, तब सोना प्रमाण और तराजू प्रमेय हो जाता है। इस बात से सारे शास्त्र का उद्दिष्ट बतला दिया गया है। आत्मा ज्ञान का विषय है, इसलिये प्रमेय में उसकी गणना की गई है। ज्ञान में आत्मा स्वतंत्र है, अतः वह प्रमाता भी है। बुद्धि उपलब्धि का साधन है, अतः प्रमाण है। उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय भी है।[2] मतलब यह है कि अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु प्रमाण भी है, और अन्य अपेक्षा से प्रमेय भी है। जिस प्रकार दृश्य होते हुये भी प्रदीप का प्रकाश अन्य दृश्य वस्तुओं के दर्शन का हेतु भी है। इस तरह वह दृश्य और दर्शन की व्यवस्था को प्राप्त करता है, उसी तरह प्रमेय होते हुये भी किसी भी अर्थ की उपलब्धि में कारण होने से प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था को प्राप्त करता है।[3] इस प्रकार यहाँ अनेकान्त दृष्टि को उपयोग में लाया गया है।

---

१. न्यायसूत्र २।१।१६।

२. गुरुत्व-परिणाम-ज्ञान साधनं तुला प्रमाणम्, ज्ञानविषयो गुरु द्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयं, यदा सुवर्णादिना तुलान्तरं व्यवस्थाप्यते, तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणं तुलान्तरं प्रमेयमिति। एवम् अनवयवेन तन्त्रार्थो उद्दिष्टो वेदितव्यः—आत्मा तावद् उपलब्धि-विषयत्वात् प्रमेये पठितः, उपलब्धौ च स्वातन्त्र्यात् प्रमाता, बुद्धिः उपलब्धि-साधनत्वात् प्रमाणम्, उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम् उभया-भावात् प्रमितिः। एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः।

—न्यायभाष्य पृ० ९८ से १०३।

३. न, प्रदीपप्रकाशवत् सिद्धेः —न्यायसूत्र २।१।१९।

अत्र भाष्यम्—यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षांगत्वात् प्रमाणं, स च

न्याय एवं वैशेषिक दर्शनकार आकाश को नित्य मानते हैं और उसे ऐसा सिद्ध करते हैं। इसके लिये अनुमान वे प्रस्तुत करते हैं। 'आकाशं नित्यं निरवयवत्वात् यन्निरवयवं तन्नित्यम्, यथा परमाणवः'। इस अनुमान से आकाश नित्य सिद्ध किया जाता है। इस विषय में श्रुति से विरोध उपस्थित होता है। श्रुति है—'एतस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः'[1]।

इसका अर्थ है आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। श्रुति आकाश की उत्पत्ति मानकर उसकी अनित्यता बतलाती है। अनुमान आकाश की नित्यता बतलाता है। इस प्रकार अनुमान और श्रुति में विरोध आता है। इसका परिहार करने के लिये दोनों दर्शनकार अपनी दृष्टि में लचीलापन लाकर 'संभूतः' इस शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्तः' करते हैं। इससे किसी प्रकार विरोध का परिहार करके संगति बिठाई जाती है। यह अनेकान्त दृष्टि की ही छाया है।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने वीतराग स्तोत्र में लिखा है—

'चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्'[2]।

नैयायिक और वैशेषिक चित्ररूप को एक मानते हैं। जिसमें अनेक वर्ण होते हैं, उसे चित्र रूप कहा जाता है। उसको एक रूप एवं अनेक रूप दोनों कहना स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि है।

न्याय दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के मत में इन्द्रिय ,सन्निकर्ष से धूम का

प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते.........। यथा च दृश्यः सन् प्रदीप-प्रकाशो दृश्यान्तराणां दर्शनहेतुः इति दृश्यदर्शनव्यवस्थां लभते, एवं प्रमेयं सत् किंचिदर्थजातम् उपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणप्रमेय-व्यवस्थां लभते।

—न्यायभाष्य पृ० १०२, १०३।

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१।

२. वीतरागस्तोत्र ८ प्रकाश ९ श्लोक।

ज्ञान होता है। धूम-ज्ञान से अग्नि का ज्ञान होता है। यहाँ इन्द्रियसन्निकर्षादि प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसका फल धूम-ज्ञान है। धूम-ज्ञान वह्नि-ज्ञान की अपेक्षा से अनुमान प्रमाण है, वह्निज्ञान तो अनुमान का फल है। इस प्रकार धूम के ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण की फलता और अनुमान की प्रमाणता-इस प्रकार उभयरूपता मानते हैं। यह अनेकान्त दृष्टि ही है।

इन दर्शनों के मत में चाय का कप या धूपदानी या सिगरेट एक अवयवी है। उनका पकड़ा जाने वाला हिस्सा ठंडा तथा दूसरा हिस्सा गरम देखा जाता है। यद्यपि चाय के कप, धूपदानी या सिगरेट में अवयव भेद माना जा सकता है, परन्तु कप, धूपदानी, सिगरेट नाम का अवयवी तो एक ही है, और उसी कपरूपी, धूपदानीरूपी या सिगरेटरूपी अवयवी में परस्पर विरुद्ध शीत एवं उष्ण स्पर्श दोनों ही पाये जाते हैं। परस्परविरुद्ध धर्मवान् होना अनेकान्तवाद ही है। वैशेषिक दर्शन का ही यह सिद्धान्त है कि एक ही पट आदि में विभिन्न भाग में चलत्व, अचलत्व, रक्तत्व, अरक्तत्व, आवृतत्व, अनावृतत्व आदि अनेक विरुद्ध धर्मों के उपलब्ध होने पर भी विरोध नहीं माना जाता। यह भी अनेकान्त दृष्टि की ही मुद्रा है।

इनके मत में नित्य ईश्वर में जगत् के निर्माण की इच्छा तथा जगत् के संहार करने की इच्छा, रजोगुण और तमोगुण रूप स्वभाव तथा अनेक सात्त्विक भावों का मानना स्पष्ट ही परस्पर विरुद्ध है। यह अनेकान्त दृष्टि से ही संभव है।

एक ही ईश्वर को पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल रूप अष्टमूर्ति मानना अनेकान्तवाद का ही रूप है।

एक ही आँवले में कमलगोटा की अपेक्षा महत्त्व-बड़ापन, तथा बिल्वफल की अपेक्षा से अणुत्व—छोटापन मानना अनेकान्तात्मकता का ही संपोषण है।

सांठे को समिध् की अपेक्षा से बड़ा और बाँस की अपेक्षा से छोटा मानते हैं। देवदत्त में अपने पिता की अपेक्षा से परत्व और पुत्र की अपेक्षा से अपरत्व माना जाता है। इस प्रकार विरोधी धर्मा को एक में मानना अनेकान्तवाद ही है।

सांख्यदर्शन

हेमचंद्राचार्य लिखते हैं—

'इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैविरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।'[1]

सांख्य दर्शन के मत में प्रकृति को सत्त्व, रज और तम—इन तीन परस्पर विरुद्ध गुणवाली माना जाता है। परस्पर विरुद्ध गुणों का समावेश एक ही प्रकृति में मानना स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि का समर्थन है।

इस दर्शन में 'सत्कार्यवाद' माना जाता है। इस मत में सब कार्य सदा ही सत्‌रूप है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि घट पट आदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व भी सत् रूप ही हैं, तो फिर उनको उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न क्यों करना पड़ता है ? इसका उत्तर वहाँ यही दिया जाता है कि सब कार्य अपने-अपने कारण में अव्यक्त अर्थात् अप्रकट सूक्ष्म दशा में रहते हैं। उन्हें व्यक्त अर्थात् प्रकट दशा में लाने के लिये यत्न करना पड़ता है। अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि वे व्यक्त या अव्यक्त दशायें उन पदार्थों से भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न मानेंगे तो वे अवस्थाएं भी पदार्थों के समान पहले से ही थीं, फिर उनके लिये प्रयत्न क्यों ? यदि भिन्न मानी गईं तो अवस्थाएँ असत् ही पैदा होती हैं—यह मान लेने पर 'सब पदार्थ सदा सत् रूप ही हैं' यह अपना सिद्धान्त कट जाता है। इसलिये विवश होकर उन्हें अनेकान्तवाद ही बलात् मानना पड़ता है कि अवस्थाएँ द्रव्य आदि पदार्थों से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।

सांख्योगदर्शन वस्तु को नित्यानित्य उभय मानता है। धर्मी के भेद न रहने पर भी निमित्त के भेद से भिन्न धर्मी में भिन्न व्यवहार होते हैं। यहाँ धर्मी से मतलब है द्रव्य और निमित्त का मतलब है पर्याय या धर्म। जिस प्रकार एकत्व बोधक अंश शून्य द्वय युक्त होने से याने दो शून्य की अपेक्षा-निमित्त से सौ, एक शून्य से युक्त होने पर एक शून्य के निमित्त से दश, तथा शून्य रहित होने से एक संख्या होती है। अथवा जिस प्रकार एक ही स्त्री अपेक्षा भेद से स्त्री, माता, पुत्री एवं बहिन (पति, पुत्र, पिता, भाई की अपेक्षा

---

१. वीतराग स्तोत्र ८ प्रकाश १० श्लोक।

से) कही जाती है। उसी प्रकार एक ही धर्मी अपेक्षा भेद से अनेक धर्म वाला कहा जाता है।[1] यह अनेकान्त दृष्टि का ही निरूपण है।

ये दर्शन परिणामवादी कहे जाते हैं। परिणाम का अर्थ है—विद्यमान द्रव्य के पूर्व धर्म (पर्याय) की निवृत्ति होने पर अन्य (उत्तर) धर्म की उत्पत्ति होना। यह धर्मी का परिणाम तीन प्रकार का होता है। धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम। धर्मी के विद्यमान होने पर पूर्व धर्म का तिरोभाव और उत्तर धर्म का आविर्भाव-धर्म परिणाम कहलाता है। धर्म का अनागत काल का त्यागपूर्वक वर्तमान काल का लाभ होना लक्षण परिणाम है। निरोध क्षणों में निरोध संस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थान संस्कार दुर्बल होते हैं—यह अवस्था परिणाम है। जैसे मिट्टी रूप धर्मी पिंडाकार धर्म से अन्य घटाकार में परिणत होता है—यह धर्म परिणाम है। घट आकार अनागत को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है—यह लक्षण परिणाम है। घट प्रतिक्षण नये पुराने पन को अनुभव करता हुआ अवस्था के परिणाम को प्राप्त करता है। इस प्रकार मिट्टी द्रव्य एक ही है, उसमें परिणाम भेद से भिन्न-भिन्न रूप से वह कहा जाता है। इस तरह द्रव्य नित्य है, अवस्थाएँ (पर्याय) अनित्य हैं। इस प्रकार वस्तु नित्य एवं अनित्य उभयधर्मी[2] है। यह भी अनेकान्त की प्रक्रिया ही है।

---

१. यथा एका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैका च एकस्थाने यथा च एकत्वेऽपि स्त्री माता दुहिता च उच्यते, दुहिता च स्वसा चेति।
—पातंजल योगदर्शन, पृ० ३४७।

२. 'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः'।
—पातंजलयोग सूत्र ३।१३।

अत्र पातंजलभाष्यम्—एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामः अवस्थापरिणामः च उक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोः धर्मयोः अभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः, लक्षणपरिणामः च, निरोधः त्रिलक्षणः त्रिभिः ऊध्वभिः युक्तः। तथावस्थापरिणामः। तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्काराबलवन्तो भवन्ति, दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति। एष धर्माणाम् अवस्थापरिणामः।
—पातंजलयोग भाष्य पृ० ३३१ से ३३७।

सांख्य मत में मन को कर्मेन्द्रिय और बुद्धीन्द्रिय दोनों माना है, एकही मन में दोनों धर्म विरुद्ध हैं, फिर भी माने गये हैं।[1]

बुद्ध्यादि सात तत्त्वों को पर के कारण होने से प्रकृति और कारणों से उत्पन्न होने से कार्य या विकृति कहे जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि आदि सात तत्त्वों में कारणत्व और कार्यत्व तथा प्रकृतित्व एवं विकृतित्व विरुद्ध धर्म रहते हैं[2]।

पुरुष भोक्ता नहीं है, अपितु दोनों तरफ दर्पण रूप बुद्धि में सम्भ्रान्त सुख दुःखादि का निर्मल पुरुष में प्रतिबिंबोदय होने से वह भोक्ता कहा जाता है। अतः अपेक्षा भेद से पुरुष में भोक्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अभाव दोनों विरोधी धर्म रहते है[3]।

इस दर्शन में एक ही प्रकृति में संसारी जीवों की अपेक्षा उन्हें सुखदुःखादि उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्यात्मक स्वभाव, तथा मुक्त जीवों की अपेक्षा निवृत्ति रूप स्वभाव माना जाता है।[4] इस प्रकार विरुद्ध धर्म एक ही प्रकृति में मानना अनेकान्त दृष्टि का ही समर्थन है।

मीमांसादर्शन

मीमांसा दर्शन में प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय के आकार वाला ज्ञान एक है, क्योंकि 'घटमहं जानामि' मैं घड़े को जानता हूँ—यह अनुभव होता है, तथा ज्ञान स्वयं प्रकाशक है। इसमें अनेकपदार्थ से निरूपित विषयताशालि एक ज्ञान माना गया है। विषयता ज्ञान रूप है। उन तीन विषयता रूप वह

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय सांख्यदर्शन पृ० १४७ सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १४७ कारिका २७।

२. वही पृ० १४६ सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १२, ३५ कारिका ३, ८।

३. वही पृ० १४०।

४. 'पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्'
'पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः'।
—सांख्यकारिका ५८, ५९।

एक ज्ञान है। इस प्रकार त्रयात्मक होने पर भी एकात्मक मानना अनेकान्त दृष्टि को ही अपनाना है।

मीमांसा दर्शन में कुमारिल आदि स्वयं ही सामान्य और विशेष में कथंचित्तादात्म्य, धर्म और धर्मी में भेदाभेद मानते ही हैं। यह अनेकान्त दृष्टि का ही प्रभाव है।

ये शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे नोदना को याने श्रुति-वाक्य को कार्यरूप अर्थ में ही प्रमाण मानते हैं। इस कार्य को वे त्रिकाल शून्य कहते हैं। उनका अभ्युपगम है कि वेदवाक्य त्रिकालशून्य शुद्ध कार्यरूप अर्थ को ही विषय करते हैं। इसी विषय में उनसे पूछना है कि—यदि कार्यरूपता त्रिकाल शून्य है, किसी काल में अपनी सत्ता नहीं रखती, तब वह अभाव प्रमाण का ही विषय हो जायगी। उसे आगमगम्य मानना अयुक्त है। क्योंकि अभाव को आप पृथक् प्रमाण मानते हैं। यदि वह अर्थ रूप है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उसका परिज्ञान हो जायगा। अतः कार्य को त्रिकालशून्य भी मानना होगा तथा अर्थरूप भी। तभी वह वेद वाक्य का विषय हो सकता है। इसलिये जब अनेकान्त के माने बिना वेदवाक्य का विषय ही सिद्ध नहीं हो सकता, तब उसे अगत्या मान लेना चाहिये। क्योंकि नोदना की विषयता उभयरूपता में है।

'जगत् के दो स्वरूपों में हमारी भारतीय परंपरा भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को सतत प्रधानता देती आ रही है। चाहे इस परम्परा के निर्वाह के लिये हमें कितने ही नवीन तथ्य स्वीकृत करने पड़े हों। दृश्य और अदृश्य जगत् में हम अदृश्य को अधिक महत्त्व देते आये हैं, और दृश्य की वह दशा, जो हमारे प्रत्यक्ष है, उसकी भी उपेक्षा करते चले आ रहे हैं। यह कहाँ तक व्यावहारिक है—यह एक बड़ी समस्या आज से ही नहीं, अनादि काल से—जहाँ से विचारों का विकास प्रारम्भ होता है, उपस्थित होता है। यह अवश्य है कि बीसवीं शताब्दी के वातावरण ने इसे अधिक प्रबल बना दिया है। जिस प्रकार मानव जीवन दृश्य और अदृश्य के संघर्ष का लेखा है, उसी प्रकार हमारे दर्शन की विभिन्न धाराएं भी इसी संघर्ष से निसृत हैं, और उनकी प्रवृत्ति का यही एक आधार रहा है। इन दोनों दृष्टिकोणों में कहीं दृश्य प्रधान बन कर आता है और कहीं अदृश्य। इनमें एक की प्रधानता दूसरे को कुचल कर ही अपना अस्तित्व बना सकती है। इसीलिये हमारे दर्शन खंडन-मंडन के

भंडार बने हुये हैं। चाहे किसी दृष्टि से हम देखें, इन दोनों की महत्ता और उपयोगिता में संशय करना सहज नहीं है। तर्क के जाल से हम चाहे किसी एक का खंडन कर सकें, पर लोक हमें इसके लिये सहयोग नहीं देता।

महर्षि जैमिनि के सम्मुख भी यह समस्या उपस्थित हुई कि दृष्ट और अदृष्ट की संगति कैसे बिठाई जाय। उन्होंने इसका ऐसा हल निकाला, जैसा सम्भवतः किसी ने नहीं निकाला। दृष्ट और अदृष्ट दोनों एक प्रकार से यथार्थ और आदर्श के रूप हैं। यथार्थ आदर्श के बिना ऊँचा उठ नहीं सकता, और आदर्श यथार्थ के बिना स्थिर नहीं रह सकता। जहाँ उन्नति पथ पर पहुँचने के लिये यथार्थ को आदर्श के स्तर की आवश्यकता रहती है, वहाँ अपना पाँव जमाये रखने के लिये आधार के रूप में यथार्थ को आदर्श की भी अनिवार्य अपेक्षा रहती है। एक के बिना दूसरे की अपूर्णता है। ठीक इसी प्रकार दृष्ट का अदृष्ट लक्ष्य है, एवं दृष्ट अदृष्ट की पृष्ठभूमि है। इसमें तर्क और व्यवहार दोनों का समन्वय हो जाता है। जैमिनि ने अपने दर्शन में यही दृष्टिकोण अपनाया है। इसीलिये वे एक समन्वयवादी के रूप में परिगणित किये जा सकते हैं।'[1]

यह कथन 'मीमांसा दर्शन' में डा० मंडनमिश्र का है। जैमिनि के इस समन्वयवादी दृष्टिकोण में प्रयोजक रूप से अनेकान्त दृष्टि है। अनेकान्त दृष्टि के बिना समन्वयदृष्टि कठिन है।

यशोविजयजी ने अपने अध्यात्मोपनिषत् में कहा है—

'जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वापि मुरारिर्वा नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥'[2]

मीमांसक दर्शन में कुमारिल भट्ट एवं मुरारि इस दर्शन के आद्यचिन्तक हैं। वे वस्तु को जातिव्यक्त्यात्मक मानते हैं। जाति एवं व्यक्ति परस्पर विरोधी वस्तु तथा जातित्व एवं व्यक्तित्व परस्पर विरोधी धर्म हैं। एक ही वस्तु को जातिव्यक्त्यात्मक मानना अनेकान्त दृष्टि के बिना सम्भव नहीं है।

---

१. **मीमांसा दर्शन पृ० ९७-९८ (रमेश बुक डिपो—जयपुर)।**

२. **अध्यात्मोपनिषत् पृ० २५ (प्राचीन पत्राकार, कांचमंदिर ज्ञानभंडार, इन्दौर)।**

उत्पत्ति, स्थिति और नाश—यह त्रयात्मकता जैन व मीमांसा दर्शन में वस्तु की जान है। इसी को स्वामी समंतभद्र ने तथा भट्ट कुमारिल ने लौकिक दृष्टान्त से इस प्रकार समझाया है। दोनों आचार्य समान पथ पर ही इस विषय में अग्रसर हुये हैं। जब सोने के कलश को मिटाकर मुकुट बनाते हैं, तब कलश के नष्ट होने से कलशार्थी को शोक हुआ और मुकुट के अभिलाषी को हर्ष तथा सुवर्ण के अर्थी को माध्यस्थभाव रहा। कलशार्थी को शोक कलश के नाश के कारण हुआ। मुकुटाभिलाषी को हर्ष मुकुट की उत्पत्ति के कारण तथा सुवर्णार्थी की तटस्थता दोनों दशाओं में सुवर्ण के बने रहने के कारण हुई है। अतः वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक है।[1]

जब दूध को जमाकर दही बनाया गया तो जिस व्यक्ति को दूध खाने का व्रत है, वह दही नहीं खावेगा। पर जिसे दही खाने का व्रत है, वह दही को तो खा लेगा, पर दूध को नहीं खावेगा। जिसे गोरस के त्याग का व्रत है, वह दूध न खायगा, और न दही, क्योंकि दोनों ही अवस्था में गोरस है ही। इससे ज्ञात होता है कि गोरस की ही दूध और दही दोनों क्रमिक पर्यायें थीं। पर्यायों का परिवर्तन हुआ है, द्रव्य की स्थिति कायम है।[2]

इस विषय में मीमांसक दर्शन अनेकान्त दर्शन के इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकृत करता है। मालूम होता है दोनों दर्शन वस्तु की त्रयात्मकता के

---

१. 'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्'।

—आप्तमीमांसा श्लोक ५९।

'वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा, तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः। हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता'।

—मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ० ६१९ (चौखंभा)।

२. पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।

—आप्तमीमांसा श्लोक ६०।

विषय में एक ही मान्यता रखते हैं। दोनों एक ही पथ के पथिक व साथी मालूम पड़ रहे हैं।

वेदान्त दर्शन

यशोविजय जी ने लिखा है—

'अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः,
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्'[1]।

आत्मा—ब्रह्म को व्यवहार से बद्ध और परमार्थ से अबद्ध मानने वाले ब्रह्मैक्यवादी भी सापेक्षवाद से एक आत्मा में विरुद्ध धर्म बद्धत्व एवं अबद्धत्व मानकर अनेकान्तदृष्टि का ही उपयोग करते हुये मालूम पड़ रहे हैं।

एक ब्रह्म को ही सत्य एवं जगत् को मिथ्या मानने वाले अद्वैतवादी के मंतव्य में विरोध उपस्थित होता है। हम या प्रत्येक प्राणी अपना सारा जीवन जगत में ही चलाता है, सारे व्यवहार हम संपूर्ण जीवन तक जगत् में ही करते हैं। सारी प्रक्रियायें हम प्रत्यक्ष में जगत् में देखते हैं। अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान इस जगत में ही हम करते हैं, जिनके फल भी हमें मिलते जा रहे हैं, उन फलों का भी परिणाम हम अनुभव करते जा रहे हैं। विज्ञान की महान् उपलब्धि अणुबम एवं हाइड्रोजन बम और उनके महासंहारक फल हिरोशिमा एवं कई प्रयोगों में हम देख चुके हैं और देखते जा रहे हैं। विज्ञान की नूतन महान् उपलब्धि चन्द्र पर समानव यान पहुँचाना, चद्रमा पर मानव का घूमना, तथा मंगल पर यान उतारना—इन सब प्रत्यक्ष दृष्ट बातों को हम मिथ्या कैसे कह सकते हैं? यह सब विषय न तो मिथ्या ही मालूम पड़ता है और न इसे हम शुक्तिका में रजत के समान भ्रान्त अनुभव ही कह सकते हैं। 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इस सिद्धान्त में उपर्युक्त रूप से विरोध उपस्थित होता है। उसके परिहार के लिये अद्वैत दर्शनकारों ने सत्ता तीन प्रकार की मानी है—(१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक, (३) प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की है। व्यावहारिक सत्ता जगत् की है। प्रातिभासिक सत्ता

---

१. अध्यात्मोपनिषत्, पृ० २६।

शुक्तिका में रजत की है। इस प्रकार तीन सत्ता मानकर विरोध का परिहार किया जाता है। यह भी अनेकान्त दृष्टि का एक मार्ग है।

एक बात और है। इसके बारे में कुछ थोड़ा ऊपर तृतीय परिच्छेद में कुछ लिख आया हूँ। अद्वैत दर्शन का यह निरूपण आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार के निरूपण से बहुत ही साम्य रखता है। साम्य ही नहीं, एक प्रकार का ही निरूपण कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। केवल शब्द का भेद है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दो नय माने हैं। निश्चय एवं व्यवहार नय। निश्चय नय और पारमार्थिकता एक ही बात है। दोनों में कोई भेद नहीं है। व्यवहार नय एवं व्यावहारिक सत्ता में भी कोई भेद नहीं है। व्यावहारिक सत्तावान् जगत् को अद्वैत दर्शन मिथ्या कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द व्यावहारिक नय को मिथ्या कहते हैं। ऐसा मालूम होता है कि दोनों का कथन एक ही मार्ग पर जा रहा है।

एक श्रुति है 'मनसैवानुदृष्टव्यम्', दूसरी श्रुति है 'यन्मनसा न मनुते'। दोनों श्रुति के प्रतिपाद्य अर्थों में विरोध है। अतः वेदान्त दर्शन ब्रह्म में वृत्ति-व्याप्यत्व मान लेते हैं। पहली श्रुति का अर्थ है, ब्रह्म में वृत्ति व्याप्यत्व का होना। दूसरी श्रुति से फलव्याप्यत्व का निषेध किया जाता है। इस तरह दोनों श्रुतियों में विरोध का परिहार करके संगति बिठा दी जाती है।[1] यह भी अनेकान्त का मार्ग है।

वेदान्त दर्शन में अविद्या को सदसदादि विकल्प से निर्मुक्त मानते हुये अनिर्वचनीय मानते हैं। अविद्या सत् भी नहीं है, असद् भी नहीं है, अपितु अनिर्वचनीय है। यह निरूपण शून्यवादी सदृश 'नसत् नासत्' है। अनिर्वचनीय का कथन अनेकान्त के मूल बिन्दुओं के समानधर्मा उल्लेख है। अनेकान्त दर्शन में अनेकान्त के निरूपण का चतुर्थ भंग 'अवक्तव्य' यही है। दोनों में बिलकुल भेद नहीं है।

इसी प्रकार वेदान्त दर्शन की अनेक शाखाएं हैं। उनमें श्री रामानुजाचार्य ने 'तत्त्वमसि' इस श्रुति वाक्य के समन्वय के लिये ब्रह्म से जीव का भेद और अभेद दोनों माना है। जीव और ब्रह्म में उन्होंने तादात्म्य माना है। तादात्म्य

---

१. **पंचदशी VII ९०-९२।**

का अर्थ है—'भेद सहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्'[1] याने भेद को सहन करने वाला अभेद तादात्म्य है। इस प्रकार विरोधी धर्म भेद और अभेद दोनों मानकर अनेकान्तवाद दृष्टि को अपनाया गया है।

श्री वल्लभाचार्य भी भगवान् को सब विरुद्ध धर्मों का आधार मानते हैं। तब उन धर्मों का भगवान् से भेद या अभेद तथा परस्पर विरोध और अविरोध दोनों ही मानते पड़ते हैं। इस प्रकार यह अनेकान्तवाद का स्पष्ट रूप से स्वीकार है[2]।

वेदान्त के अंतर्गत रामानुज और माध्व श्री बादरायण प्रणीत सूत्र के अनुसरण करते हुये 'हम श्रौत हैं—याने श्रुतिसंमत अर्थ को कहने वाले हैं' ऐसा कहते हैं। तो भी वह केवल अपने से प्रतिपादित विषय में विद्वानों के आदरातिशय को उत्पन्न करने के लिये बाह्य रूप से ही है। आन्तरिक रूप से तो वे तार्किक हैं। क्योंकि अनुमान से सिद्ध तार्किकों से प्रतिपादित सृष्टि का प्राक्कालिक 'द्वैत' को स्वीकार करते हुये उन्होंने 'तत्वमसि' इस श्रुति की किसी प्रकार संगति बैठाई है। यह श्रुति अज्ञात अर्थ की ज्ञापक है। इसमें भी उनका ऐकमत्य नहीं है। कोई जीव का ब्रह्म के साथ संबंध को बतलाने में तात्पर्य है—ऐसा कहते हैं। कोई जीव को ब्रह्म का शरीर बतलाते हैं। दूसरे ब्रह्म के अधीन है—यह तात्पर्य प्रदर्शित करते हैं। कोई ब्रह्म के साथ अत्यन्त सादृश्य में तात्पर्य है—ऐसा प्रकट करते हैं।[3] इस प्रकार एक ही श्रुति के विभिन्न तात्पर्य की कल्पना करना अनेकान्त की दिशा में अग्रसर होने का ही प्रतीक है।

अलग अलग दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि के बारे में हमने अभी विचार किया। अब बौद्धादि सर्वदर्शनों में अभीष्ट दृष्टान्त एवं युक्तियों में अनेकान्त दृष्टि उपस्थित करते हैं[4]।

---

१. सर्वदर्शन संग्रह (भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, १६२४) पृ० १०३।

२. दर्शन अनुचिन्तन पृ० ३४।

३. सर्वदर्शन संग्रह भूमिका (अभ्यंकर शास्त्री) पृ० ७४-७५।

४. षडदर्शन समुच्चय पृ० ३७६।

बौद्ध आदि सभी दार्शनिक एक ही संशय ज्ञान में परस्पर विरोधी दो आकारों का प्रतिभास तथा उल्लेख मानते हैं। एक में परस्पर विरोधी दो आकार मानना अनेकान्त दृष्टि का ही खेल है। अनेकान्त दृष्टि के बिना यह जम नहीं सकता।

सभी दार्शनिक अपनी युक्तियों तथा प्रमाणों को स्वपक्ष का साधक तथा परपक्ष का खण्डन करने वाला मानते हैं। अतः वे एक ही हेतु में स्वपक्ष-साधकता तथा परपक्ष असाधकता—दूषकता रूप विरुद्ध धर्म मानकर अनेकान्त-वाद से कैसे बच सकते हैं?

अब हम प्राचीनतम दार्शनिक विचारधाराओं के प्रतिपादक वेद और उपनिषद् पर दृष्टिपात करते हैं—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[1]।

तस्माद् वा एते सेतुं तीर्त्वा अंधः सन् अनंधो भवति।

विद्धः सन् अविद्धो भवति, उपतापी सन् अनुपतापी भवति'[2]॥

'नासदासीत् नो सद् आसीत् तदानीम् नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्'[3]।

'न मृत्युरासीत् अमृतं तर्हि न'[4]।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'[5]।

एक और दूसरी श्रुति है—

'असदेवेदमग्र आसीत्'[6]।

इन श्रुतियों में पहले एक ही ब्रह्म में परस्पर विरुद्धधर्म अपेक्षा भेद से बतलाये

---

१. ऋग्वेद १।१६४।४६ पृ० ३२०।

२. छांदोग्योपनिषद् ८।४।१।

३. ऋग्सूत्रसंग्रह मंत्र १० सूक्त १२९।१।

४. वही ,, १२९।२।

५. छांदोग्योपनिषत् ६।२।

६. वही ३।१९।१।

हैं, बाद में जगत् का प्रतिपादन करके असत्व प्रतिपादित किया गया है। सत्त्व और असत्व दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। एक ही जगत में दोनों की स्थिति अपेक्षा भेद से ही संभव है। अपेक्षाभेद से विरोधपरिहार करना अनेकान्त का ही प्रभाव है।

एक श्रुति है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[1]।

इसमें ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। जिस ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति वचन और मन दोनों ही नहीं कर सकते। दोनों की पहुँच वहाँ तक नहीं है। ये भी उससे निवृत्त होते हैं। इस प्रकार सदसद्रूप का कथन एक कालावच्छेद से अशक्य है, अत. वह अनिर्वचनीय-वचनातीत-अवक्तव्य है। यहाँ भी अनेकान्त के मूल बिन्दु चतुर्थ भंग 'अवक्तव्य' का शब्द भेद से प्रतिपादन है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं यच्च-सच्च त्यच्च'[2]।

इसी में आगे कहा है—

'अस्थूलम्, अनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् अलोहितं अरजतम् अच्छायम् अतमः अवायु अनाकाशम्'[3]।

यहाँ दोनों जगह ब्रह्म में परस्पर विशुद्धधर्म बतलाये हैं।

कठोपनिषत् में कहा है—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[4]।

---

१. तैत्तिरीयउपनिषद् २।४।१।
२. बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।१।
३. वही ३।८।८।
४. श्वे० उपनिषद् ३।२०।

आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' ॥[1]

यहाँ ब्रह्म को अणीयान् और महीयान् कहा गया है। अणीयस्त्व और महीयस्त्व परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। ये दोनों एक ही ब्रह्म में रहते हैं। यह स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि है। अणीयस्त्व और महीयस्त्व धर्म बिना अपेक्षा भेद के संभव नहीं हो सकते।

श्वेताश्वतरोपनिषत् में कहा है—

'क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तम्'[2]।

यहाँ पर भी ब्रह्म में क्षरत्व एवं अक्षरत्व, व्यक्तत्व तथा अव्यक्तत्व परस्पर विरुद्ध धर्म कहे गये हैं, जो कि अलग-अलग अपेक्षा से ही संभव है।

कठोपनिषत् में कहा है—

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥'[3]

इसके ऊपर के शांकर भाष्य का अभिप्राय है कि 'यह बात विरुद्ध है कि 'मत्वा धीरो न शोचति'[4] यह कहना और 'न प्रकाशते' यह कहना। एक जगह ज्ञान का विषय बतलाया, अन्यत्र उसका अविषय बतलाया। इस प्रकार विरुद्ध कथन है। आचार्य शंकर का यहाँ यह कहना है कि असंस्कृत बुद्धि की अपेक्षा से अज्ञेय होने से 'न प्रकाशते' ऐसा कहा। परन्तु संस्कृत, श्रेष्ठ, एकाग्र एवं सूक्ष्मबुद्धि की अपेक्षा से वह दिखाई देता है, अर्थात् बुद्धि का विषय बनता है।[5]

---

१. पूर्ण मंत्र कठोपनिषद् १।२।२०।

२. श्वेताश्वतरोपनिषत् १।८।

३. कठोपनिषत् ३।१२

४. कठोपनिषत् ३।२२।

५. ननु विरुद्धमिदम् उच्यते 'मत्वा धीरो न शोचति' 'नप्रकाशते' इति च, नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेः अविज्ञेयत्वाद् न प्रकाशत इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्यया........एकाग्रतयोपेता........
कठोपनिषद् ३।१२ शांकरभाष्य। पृ० ५७।

इस प्रकार अपेक्षा भेद से ब्रह्म में विरुद्ध धर्म बतलाये हैं। यह स्पष्ट अनेकान्त का प्रभाव है।

छांदोग्य उपनिषत् में कहा है—

'यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यत् शृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यत् शृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा। तदमृतमयं यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि।'[1]

यहाँ का शांकर भाष्य भी देखें।[2] यहाँ देखना नहीं देखना, सुनना नहीं सुनना, जानना नहीं जानना तथा अमृतत्व और मर्त्यत्व, महिमा में प्रतिष्ठित और न प्रतिष्ठित आदि विरुद्ध धर्म की उक्ति अनेकान्त के प्रभाव को ही प्रकट करती है। विना सापेक्ष कथन के संगति लग नहीं सकती। ये स्पष्टतया अपेक्षावाद के उदाहरण हैं। अपेक्षावाद अनेकान्त दृष्टि का ही अन्य नाम है।

अब अनेकान्त के मूल बिन्दुओं के समान धर्मा उल्लेख के उदाहरण देखिये- शास्त्रवार्ता समुच्चय में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—

> **'न तथा भाविनं हेतुमन्तरेणोपजायते**
> **किंचिन्नश्यति नैकान्ताद्'**[3]
> **यथाह व्यासमहर्षिः—**

जिसकी एक अवस्था-विशेषमात्र वस्तु है उस कारण के अभाव में कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न कोई वस्तु सर्वथा नष्ट होती है, जैसा कि महर्षि व्यास का कहना है—

> **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**
> **उभयोरपि दृष्टोऽन्त स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।'**[4]

---

१. छांदोग्योपनिषत् ७।२४।१।

२. वही ७।२४।१ (शांकर भाष्य)।

३. शास्त्रवार्तासमुच्चय १।७५।

४. गीता २।१६।

दोनों में परिणामी सत्ता याने परिणामवाद माना गया है। दोनों का निष्कर्ष 'उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्' यह है।

भगवान बुद्ध ने भाषा के दो प्रकार बताये। एक नेयार्थ सूत्र और दूसरा नीतार्थ सूत्र।[1] इसी को व्यवहार भाषा और परमार्थ भाषा कहते हैं। अनेकान्त दर्शन के अनुसार यह व्यवहार व निश्चय नय है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यावहारिक सत्ता एव पारमार्थिक सत्ता है। शब्दों का भेद है। तात्पर्य एक है।

नागार्जुन भी शून्यवाद के निरूपण में दोनों दृष्टिकोणों का शब्द भेद से प्रतिपादन करते हैं—(१) लोकसंवृति सत्य और (२) परमार्थ सत्य। ये ही बुद्ध के नेयार्थ सूत्र और नीतार्थ सूत्र हैं।[2]

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने लोक संवृति को भी मिथ्या संवृति और तथ्य संवृति—इन दो भागों में विभाजित कर दिया है। इस प्रकार आचार्य चन्द्र-कीर्ति के मत में शून्यवाद में (१) मिथ्या संवृति, (२) तथ्य संवृति, (३) पर-मार्थ—ये तीन दृष्टिकोण मिलते हैं[3]।

वेदान्त दर्शन में आचार्य शंकर ने भी अपने पूर्ववर्ती की इन शैलियों को ग्रहण किया है। उसका नाम है—(१) प्रातिभासिक सत्य, (२) व्यावहारिक सत्य और (३) पारमार्थिक सत्य।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन एवं वेदान्त दर्शन में अत्यन्त निकटता है। तीनों उपर्युक्त विषय में एक ही लाइन पर चलते हुये प्रतीत होते हैं।

एक नया उदाहरण और देखिये। जहाँ दो दर्शनों के विरोध का परिहार तीसरा दर्शन करता है। विरोध परिहार का तीसरे दर्शन का प्रयास बहुत स्तुत्य है।

---

१. अंगुत्तर निकाय दूसरा निपात प्रथम भाग पृ० ६२।

२. माध्यमिक वृत्ति ४९२।

३. बोधिचर्या ३६१।

वेदान्त मत में माना गया है—

'एकं सत् नित्यं च'।

बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त है—

सत् नाना क्षणिकानि च'।

इस प्रकार दो दर्शन परस्पर विरुद्ध रूप से मोर्चे पर उपस्थित हुये। यहाँ सांख्य दर्शन आता है और कहता है—

'सत् नैकान्तेन नित्यम्, न चैकान्तेन अनित्यम्, अपितु परिणामि नित्यम्।'

याने सत् एकान्त से नित्य नहीं है और न एकान्त से अनित्य है, अपितु परिणामि नित्य है।

इस प्रकार सांख्य ने कह कर दोनों की पारस्परिक कटुता या विरोध को दूर करने में प्रयत्न अवश्य किया है। वादी और प्रतिवादी के मतभेद के निराकरण में अनेकान्त दृष्टि समर्थ ही है।

अनेकान्त दृष्टि का या अनेकान्तवाद का महान् कार्य है कि वह दर्शनों के पारस्परिक मतभेद को मध्यममार्ग निकाल कर उपर्युक्त सांख्य दर्शन की तरह दूर करने का प्रयत्न कर समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता है।

(आ) अनेकान्त का परवर्ती दार्शनिक संप्रदायों एवं आधुनिक चिन्तकों पर प्रभाव

विभिन्न दर्शनकारों ने किसी समस्या को हल करने एवं कहीं पर आने वाली विसंगति को दूर करने के लिये अज्ञात रूप से अनेकान्त दृष्टि या उसके समान धर्मा उपाय अपनाया है।

इसके बाद परवर्ती दार्शनिक संप्रदायों एवं आधुनिक चिन्तकों पर अनेकान्त के प्रभाव के बारे में किये गये अनुसंधान पर लिखना है। यह प्रभाव दो प्रकार से हो सकता है। एक तो वे, किसी समस्या के अन्य प्रकार से हल न निकलने पर अथवा किसी स्थान पर आने वाली विसंगति को दूर करने के लिये, अन्य कोई उपाय के न मिलने पर, अनेकान्त दृष्टि या उसके सदृश दृष्टि अपनावें। दूसरे अनेकान्त दृष्टि को स्वीकृति देकर उसका अनुमोदन या प्रशंसा करे। दोनों ही दृष्टिकोणों से यहाँ इस अध्याय में विचार किया जावेगा।

अनेकान्त की व्युत्पत्ति है—'न एकान्तः अनेकान्तः', याने एकान्त का निषेध अनेकान्त है। एकान्त याने एक ही दृष्टिकोण से ज्ञात धर्म के लिये दृढ़ आग्रह। ऐसा ही है, यही है इत्यादि। इसका निषेध अनेकान्त है। उपर्युक्त वाक्यों में 'ही' शब्द की जगह 'भी' शब्द का प्रयोग करने से अनेकान्त हो जाता है। 'ही' शब्द एक ही धर्म को बतलाता है और उसके अतिरिक्त अन्य धर्मों का निषेध करता है। वह वस्तु के पूर्ण स्वरूप को बतलाने में अवरोध उत्पन्न करता है। 'भी' शब्द एक धर्म को बतला कर अन्य धर्मों के अस्तित्व की भी उस वस्तु में होने की सूचना देता है। इसलिये वस्तु के पूर्ण स्वरूप को बतलाने में 'भी' शब्द सहयोग करता है। इसीलिये 'भी' शब्द का प्रयोग करते हैं। अनेकान्त का मतलब व्यवहार में यह है कि विचार एवं बुद्धि में लचीलापन। लचीलेपन से ही समन्वय की भावना प्रकट होती है। विचार में हम किसी भी मत को पकड़कर बुद्धि को उसमें प्रतिबद्ध न बनावें, अपितु बुद्धि को भावना या पक्ष से

उन्मुक्त रखकर पूर्ण तटस्थता से दूसरे के मत को भी विचार में लावें। इसमें 'भी' शब्द सहयोग देता है।

एकान्त याने एकांगी दृष्टि को नय कहते हैं। इनके समुदाय का नाम अनेकान्तवाद है। उपर्युक्त बात अनेकान्तवाद का दृष्टिकोण है, अनेकान्तवाद की छाया है। इस विवेचनात्मक विचार को ध्यान में रखते हुये इस अध्याय में विचार होगा।

सर्वप्रथम महामुनि पतंजलि का व्याकरण महाभाष्य में जो कथन है, उसको लेवें। पतंजलि का समय ईसा से पहले दूसरी शताब्दी है। महामुनि के सम्मुख यह प्रश्न आया कि—

'किं पुनः नित्यः शब्दः आहोस्वित् कार्यः ?'[1]

शब्द नित्य हैं या अनित्य ? इसका उत्तर आगे वे देते हैं—

'संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्'[2]
नित्यो वा स्यात् कार्यो वा इति।
तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यपि उक्तानि।
तत्र त्वेष निर्णयः— यद्येव नित्यः अथापि कार्यः।
उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति'।

महाभाष्यकार समाधान करते हैं—'संग्रह नामक व्याडि आचार्य कृत ग्रन्थ में प्रधान रूप से इसका विचार किया गया है। इस विषय की परीक्षा करके, दोष तथा प्रयोजन कहने के बाद वहाँ यह निर्णय बतलाया गया है कि शब्द नित्य है और अनित्य भी है। दोनों प्रकार से लक्षण की प्रवृत्ति करना चाहिये।

यहाँ पर शब्द की नित्यता एवं अनित्यता—दोनों बतलाकर स्पष्ट रूप से महाभाष्यकार ने अनेकान्त दृष्टि को अपनाया है।

---

१. व्याकरणमहाभाष्य भूमिका (म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी पृ० २७) (चौखंभा सन् १९५४)।

२. व्याकरण महाभाष्य १।१।१ पृ० ३७।

व्याकरण महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने अनेकान्त को स्वीकृत किया है। अनेकान्त का मूल है, पदार्थ की त्रयात्मकता[1]। यही त्रयात्मकता महाभाष्यकार ने शब्दार्थ मीमांसा के प्रकरण में बतलाई है। उन्होंने बतलाया है—

'इस प्रकार दिखाई देता है कि लोक में मिट्टी किसी आकृति से युक्त पिण्डरूप रहती है। पिण्ड की आकृति को नष्ट करके घटिका बनाते हैं। घटिका की आकृति को नष्ट करके कुण्डिका बनाते हैं। उसी प्रकार किसी आकृति से युक्त स्वर्ण पिण्ड होता है। पिण्ड आकृति को उपमर्दन करके रुचक बनाते हैं, रुचक की आकृति को मिटा कर कड़े बनाते हैं तथा कड़े की आकृति को मिटा कर स्वस्तिक बनाते हैं। स्वस्तिक को मिटाकर बना सुवर्णपिंड फिर दूसरी आकृति से युक्त होकर कुण्डल बनता है। आकृति दूसरी दूसरी बदलती रहती है। सुवर्ण रूप द्रव्य तो वही है। आकृति के मिटने से द्रव्य ही बाकी बचता है।[2]

यहाँ महाभाष्यकार आकृति को उत्पन्न एवं विनष्ट बतलाकर द्रव्य को नित्य बतलाते हैं। यहाँ आकृति का अर्थ है—अनेकान्त दर्शन का पारिभाषिक शब्द पर्याय। इस प्रकार अनेकान्तवाद की मूल प्रक्रिया याने सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से अपनाया है। इसका सिद्धान्त है—

'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।

प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिरता से युक्त है। पर्यायावच्छेद

---

१. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' तत्त्वार्थ सूत्र ५।२९।

२. 'द्रव्यं हि नित्यम् आकृतिः अनित्या। कथं ज्ञायते ? एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिंडो भवति, पिंडाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुंडिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिंडो भवति, पिंडाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिंडः पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिरांगारसवर्णे कुंडले भवतः। आकृतिरन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

—पातंजल व्याकरण महाभाष्य पृ० ४३, १।१।१।

से उत्पत्ति एवं विनाश है, तथा द्रव्यावच्छेद से ध्रौव्य है। इसी सिद्धान्त को उदाहरण से स्पष्ट करके बतलाया गया है।

आगे जाकर महाभाष्यकार ने आकृति को भी नित्य बतलाया है। उसके लिये कहा है—

'आकृति कहीं नष्ट हो गई, इससे सब जगह नष्ट नहीं होती। अन्य द्रव्य में वह रहती है।'[1]

इस विवेचन से मालूम होता है कि आकृति भी नित्य एवं अनित्य दोनों है।

आगे महाभाष्यकार नित्य लक्षण में कूटस्थ नित्यता को निषेध करके दूसरा नित्य लक्षण करते हैं—

'अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थम् अविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्ययोगि यत्, तन्नित्यमिति। तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्? तस्य भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।[2]

नित्य का यही लक्षण नहीं है कि वह कूटस्थ, अविचालि, अविकारी हो, अपितु नित्य उसको भी कहते हैं, जिसमें परिवर्तन से तत्त्व नष्ट नहीं होता है। आकृति बदलने पर भी तत्त्व (स्वर्ण द्रव्य) नष्ट नहीं होता है। अतः वह भी नित्य है।

नित्य का यह लक्षण परिणामी नित्यता का है। यही अनेकान्त दर्शन मानता है। अतः दोनों कथनों में बहुत सादृश्य है। योगभाष्यकार का भी यही मत है।[3]

---

१. **ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्या इति। नैतदस्ति, नित्याकृतिः कथम्? न क्वचिद् उपरता इति कृत्वा सर्वत्र उपरता भवति, द्रव्यान्तरस्था तु उपलभ्यते।**

—व्याकरणमहाभाष्य पृ० ४३।

२. **व्याकरण महाभाष्य पृ० ४४।**

३. **योगभाष्य ४।१२, १३।**

अब देखिये श्री भास्कर भट्ट के कथन को। ये आचार्य ११ वीं शती में हुये हैं।[1] ये ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार हैं। आचार्यजी भेदाभेदवादी हैं। एक ही वस्तु में भेद और अभेदरूपी विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं, क्योंकि दोनों में विरोध है। इस आशंका का उत्तर आचार्य जी देते हैं—

'यह प्रमाण और प्रमेयतत्त्व को न समझने वाले की शंका है।.........जो वस्तु प्रमाण से जिस रूप में परिच्छिन्न हो, वह उसी रूप है। गौ, अश्व आदि समस्त पदार्थ भिन्नाभिन्न ही प्रतीत होते हैं। सर्वथा अभिन्न या भिन्न पदार्थ कोई दिखा नहीं सकता। सत्ता, ज्ञेयत्व और द्रव्यत्वादि सामान्य रूप से अभिन्न हैं, और व्यक्ति रूप से परस्पर विलक्षण होने के कारण भिन्न। जब वस्तु उभयात्मक प्रतीत हो रही है, तब विरोध की गुंजाइश नहीं है। विरोध और अविरोध प्रमाण से ही तो व्यवस्थापित किये जाते हैं। यदि प्रतीति बल से एकरूपता निश्चित की जाती है तो द्विरूपता भी जब प्रतीत होती है, तो उसे भी मानना चाहिये।[2]

यहाँ वस्तु को भेदाभेदरूप उभयात्मक माना गया है। यह स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि का अभाव है। अनेकान्त दृष्टि में वस्तु उभयात्मक मानी जाती है।

अब आचार्य श्री रामानुज को लेवें। भी आचार्यजी ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार हैं। इनका समय १२ वीं शती है। आचार्यजी ब्रह्मसूत्र की टीका वेदान्त दीप में लिखते हैं—

'एक ही पृथिवी द्रव्य घट में और शराब में भी प्रदेशभेद से रहता है। एक ही प्रदेश से उभयाश्रयत्व नहीं बन सकता। जिस प्रकार एक देवदत्त में काल भेद से उत्पत्ति और विनाश की योग्यता रहती है।'[3]

देवदत्त में एककालावच्छेद से उत्पत्ति रहती है, भिन्न काल की अपेक्षा से

---

१. भारतीय दर्शन (बल० उपा०) पृ० ३३७।

२. भास्करभाष्य पृ० १६।

३. वेदान्तदीप पृ० १११, ११२।

विनाश भी उसमें रहता है। प्रकार भेद से—अपेक्षा भेद से उभयधर्मयुक्त एक वस्तु का रहना स्पष्ट ही अनेकान्त की मान्यता है। अतः अनेकान्त का प्रभाव इन विचारों में स्पष्ट है।

इसके बाद आचार्य निंबार्क को लीजिये। इनका समय १३ वीं शती है। आचार्यजी स्वभावतः भेदाभेदवादी हैं। वे स्वरूप से चित्, अचित् और ब्रह्म-पदार्थ में द्वैत श्रुतियों के आधार से भेद मानते हैं। किन्तु चित् और अचित् की स्थिति तथा प्रवृत्ति ब्रह्माधीन होने से वे ब्रह्म से अभिन्न हैं।

आचार्यजी के निंबार्क भाष्य के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य भेदाभेद के विरोध का निराकरण स्पष्ट रूप से करते हैं—'आपके मत में भी एक ही धर्मी में (भेदाभेदरूप) विरुद्ध धर्मद्वय की स्वीकृति है। उसी प्रकार' सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों से एकत्व का प्रतिपादन किया जाता है। 'प्रधानक्षेत्रज्ञ-पतिर्गुणेशः, द्वा सुपर्णा सयुजा सरवाया' इत्यादि में अनेकत्व का प्रतिपादन किया जाता है. इसका उत्तर क्या है ? इसका उत्तर आप देते हैं—'यह विषय युक्ति-मूलक नहीं है। श्रुतियों ने ही परस्पर अविरोध से यथार्थता का निर्णय कर दिया है। इस प्रकार जगत् और ब्रह्म का भेद तथा अभेद स्वाभाविक है तथा श्रुति एवं स्मृति से साधित है। अतः इनमें विरोध नहीं है।[1]

उपर्युक्त कथन में चाहे श्रुति एवं स्मृति से साधित किया हो, भेदाभेद एवं एकत्वानेकत्व परस्पर विरुद्ध धर्म एक ही ब्रह्म में स्वीकार किये गये हैं। यह स्पष्ट रूप से अनेकान्त का मार्ग एवं उसका प्रभाव है। अनेकान्त के बिना परस्पर विरुद्ध धर्मद्वय का एक ही वस्तु में मानना नहीं जम सकता। विरुद्ध धर्मद्वय एक ही वस्तु में मानना एवं अनेकान्त को स्वीकार करना एक ही बात है।

अब आचार्य श्रीकंठ एवं उनके टीकाकार अप्पय दीक्षित के विचार देखें। आचार्य श्रीकंठ का समय १३ वीं शती है[2]। आचार्यजी ने वस्तु की उभयात्मकता मानी है। इनके टीकाकार ने तो स्पष्ट रूप से इसका विवेचन किया है। वे लिखते हैं—'यदि प्रकार भेद मान लिया तो यह पारिभाषिक सप्तभंगी-

---

१. निंबार्क भाष्य एवं उसकी टीका २।२।३३।

२. भारतीय दर्शन (बल० उपा०) पृ० १३७।

नय स्वीकार किया ही जाता है। घटादि स्वदेश में हैं, अन्य देश में नहीं है। अपने काल में है, अन्य काल में नहीं है। स्वरूप से है, अन्यस्वरूप से नहीं है—इस प्रकार देशकालप्रतियोगीरूप उपाधि के भेद से सत्व और असत्व के एक जगह समावेश में लौकिक तथा परीक्षकों को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।[1]

आपने प्रकार भेद मान लिया तो आप स्वयं सप्तभंगी नय को मान्य करते हैं। अनेकान्त दर्शन प्रकारभेद—अवच्छेदक भेद या उपाधि भेद या अपेक्षा भेद से अनेक धर्मों का समावेश एक में मानता ही है। अतः स्पष्ट ही यह अनेकान्तवाद की समकक्षता है। दोनों ही उपाधिभेद से विभिन्न धर्म एक वस्तु में मानते हैं। यह स्पष्ट अनेकान्त का प्रभाव है।

अब आचार्य वल्लभ को लेवें। इनका समय १५ वीं शताब्दी है। 'आचार्य ब्रह्म में विरुद्ध-धर्मान्तरत्व मानते हैं। ब्रह्म को ये निर्विकार मानते हैं और उसमें उभयरूपता वास्तविक मानते हैं। ब्रह्म का जगत् रूप में परिणमन स्वीकार करते हैं। जैसे स्वर्ण कटक कुंडल आदि आकारों में परिणत होकर स्वर्ण अविकारी रहता है। उसी प्रकार ब्रह्म जगत् रूप में परिणत होकर भी अविकारी रहता है। उस समय ब्रह्म के आनंद आदि गुण तिरोभूत हो जाते हैं।'[2]

ब्रह्म के गुणों का तिरोभाव एवं आविर्भाव पूर्वरूप का त्याग एवं उत्तर का उपादान है। ब्रह्म अनेक रूपों में परिणमन करता है। यह बात कि एक का अनेक रूप स्वीकार करना, अनेकान्त के स्पष्ट प्रभाव या समानधर्मता का उदाहरण है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु के कथन पर भी अनेकान्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इनका समय १६ वीं शताब्दी है। आचार्य वल्लभ एवं विज्ञानभिक्षु प्रायः समकालीन हैं। विज्ञानामृत भाष्य में आपका स्पष्ट कथन है—

'प्रकार भेद के बिना विरुद्ध धर्म का एक जगह एक समय में रहना

---

१. श्रीकंठभाष्य टी० पृ० १०३।

२. अणुभाष्य चतुःसूत्री।

असंभव है। प्रकार भेद से—अपेक्षा भेद से या अवच्छेदक भेद से या उपाधि-भेद से एक काल में एक जगह विरुद्ध धर्म रह सकते हैं।[1]

अनेकान्तवाद एक वस्तु में एक ही काल में विरुद्ध अनेकधर्म अवच्छेदक भेद से मानता है। यह तो अनेकान्तवाद का स्पष्ट स्वीकार एवं प्रभाव है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय गीता के विषय में कहते हैं—

'गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है, उसका व्यवहार पक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है।..........इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियाँ अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता, परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समग्रता तथा व्यापकता पर पूर्णतः ध्यान नहीं दिया गया है। शास्त्रों ने मानवी प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रख चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये त्रिविध उपायों की व्यवस्था की है। चिन्तन का प्रेमी साधक ज्ञान मार्ग से, सांसारिक विषयों का अभिरुचि वाला पुरुष कर्मयोग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियों का विशेष विकास वाला व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है। इन भिन्न-भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते थे, तथा अन्य मार्गों को नितान्त हेय बतलाते थे। गीता के अध्याय से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक्-पृथक् मार्ग प्रचलित थे।[2] इन चारों के नाम हैं—कर्म मार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्ति मार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था, वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था, उसकी दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नहीं; परन्तु भगवान् ने इस गीता का प्रचार कर इन विविध साधनों का अपूर्व समन्वय कर दिया है, जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना तथा सरस्वती की धाराएँ भारत भूमि को पवित्र करती हुई त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की

---

१. विज्ञानामृत भाष्य १।२।३३।

२. गीता १३।२४।२५।

धाराएँ गीता में मिलकर तत्व-जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा मिटाती हुई भगवान की ओर अग्रसर हो रही हैं। यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता है।[1]

इस कथन में बतलाया गया है कि गीता में कर्म, ध्यान ज्ञान तथा भक्ति इन चार मार्गों का समन्वय किया गया है। इस कथन में स्पष्ट रूप से अनेकान्त की छाया है।

एक प्राचीन प्रसिद्ध श्लोक है—

'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्मेति मीमांसकाः
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्तेति नैयायिकाः
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः'।

इस श्लोक में ईश्वर का विभिन्न नामों से कथन कर सबका एक वस्तु में समन्वय कर दिया गया है। यह स्पष्ट ही अनेकान्तवाद की छाया है।

आचार्य हेमचन्द्र का निम्न श्लोक—

'भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै'।

योगी आनंदघन कवि का यह प्रसिद्ध पद—

'राम कहो रहमान कहो कोउ कान्ह कहो महादेव री
पारसनाथ कहो कोई ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री
भाजनभेद कहावत नाना एक मृत्तिका रूप री
तैसे खण्ड कल्पनारोपित आप अखंड स्वरूप री।'
'निज पद रमे राम सो कहिये रहम करे रहमान री
कर्षे कर्म कान्ह सो कहिये ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।'

देखिये। इज दोनों में पूर्वोक्त श्लोक के समान अनेकान्त के समान अनेक विकल्पात्मक कथन है।

---

१. **भारतीय दर्शन (बल० उपा०) पृ० ६०।६१।६२।**

जर्मन दार्शनिक हेगेल ने अतिवादि मतों का समन्वय करते हुये प्रतिपादित किया है कि—

'दिक् वाह्यगत एवं विषयीगत दोनों है।'[1]

इस कथन में दिशा में दो धर्म बतलाकर दिशा को अनेकधर्मात्मक माना गया है।

इन्हीं हेगेल महोदय का दूसरा विवेचन देखिये—

'हमारे सामने एक चीज आती है, फिर उसकी विरोधी दूसरी चीज आ जाती है। इन दोनों का द्वन्द्व चलता है, फिर दोनों का समन्वय हम एक तीसरी चीज से करते हैं। इनमें पहली बात 'वाद' है, दूसरी 'प्रतिवाद', और तीसरी संवाद। उदाहरण के लिये पर्मेनिद ने कहा—मूल तत्त्व स्थिर, नित्य है—यह हुआ वाद। हेराक्लितु ने कहा कि वह निरंतर परिवर्तनशील है—यह हुआ प्रतिवाद। परमाणुवादियों ने कहा—'यह न तो स्थिर है, न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनों है—यह हुआ संवाद।'[2]

यह स्पष्ट अनेकान्तवाद के समान प्रतिपादन है।

हेगेल महोदय का एक कथन और देखिये—

'प्रत्येक वस्तु भाव और अभाव का मेल है। इसके अस्तित्व का अर्थ ही यह एक साथ—'है' और 'नहीं' है। भाव में ही अभाव विद्यमान है।'[3]

यह भावाभावात्मक वस्तु को मानना स्पष्ट अनेकान्त के सदृश है।

'हेगेल ने पक्ष, विपक्ष और समन्वय को सृष्टिक्रम का तत्त्व बताया। आरम्भ में व्यवस्था का पूर्ण अभाव था। प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों का शत्रु था। हर एक दूसरों पर शासन करने के लिये उत्सुक था। यह अवस्था असह्य

---

१. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग पृ० २०७। (डा० ब्रजगोपाल तिवारी)।

२. दर्शन दिग्दर्शन (राहुल सांकृ०) पृ० ३३७।

३. पश्चिमी दर्शन (डा० दीवानचन्द्र) पृ० १८०।

थी। इसमें अपने विनाश की शक्यता विद्यमान थी। वह शक्यता प्रकट हुई, और लोगों ने निश्चय किया कि सभी अधिकार एक मनुष्य को दे दिये जायँ। दूसरों पर अधिकार करने की चेष्टा छोड़ने के साथ लोग अपने ऊपर अधिकार छोड़ने पर भी उद्यत हो गये। लंगर एक सीमा से दूसरी सीमा पर जा पहुँचा। अधिराज्य भी असह्य सिद्ध हुआ। अतः दोनों का समन्वय प्रजातंत्र राज्य के रूप में व्यक्त हुआ।'

'नीति में भोगवाद ने कहा कि व्यक्ति के लिये सुख प्राप्ति का यत्न ही अकेला कर्तव्य है। विवेकवाद ने कहा कि नैतिक आचार में अनुभूति का कोई स्थान ही नहीं। संपूर्णतावाद इन दोनों का समन्वय है।[1]

हेगेल ने उक्त दोनों विवेचनों में अतिवादों के समन्वित रूप का सिद्धान्त स्थापित किया है। यही अनेकान्तवाद का पथ है। अनेकान्तवाद अस्तित्व, नास्तित्व, आदि उभय धर्मों का समन्वित रूप है। स्पष्ट ही अनेकान्त के समान कथन यहाँ हैं।

डा० ब्रजगोपाल तिवारी लिखते हैं—'रशियन विद्वान् शर्बेत्सकाय और दूसरे जापानी विद्वान् कहते हैं कि बौद्ध दर्शन की महायान शाखा का प्रसिद्ध आचार्य माध्यमिक—शून्यवाद के निर्माता नागार्जुन भी पूर्ण निरपेक्ष अभाव-वाद का समर्थन नहीं करता है। वह तो केवल सापेक्षवादी ही है। इस प्रकार वह भी समन्वयवाद के निकट आता है। इसलिये ऐसा समझौतावाद अत्यन्त अच्छा है। समझौतावाद की पद्धति से दर्शनों के मतमतान्तर और वादविवाद के ज्ञान में और उनमें समन्वय की स्थापना में बड़ी सहायता मिल सकती है। इसलिये दर्शनप्रेमियों ने यह पद्धति उपयोग में लाई जानी चाहिये।'[2]

उपर्युक्त लेखन में शर्बेत्स्काय के विवेचन में स्पष्ट ही अनेकान्तवाद की

---

१. पश्चिमी दर्शन (डा० दीवानचंद) पृ० १७४ द्वितीय संस्करण हिन्दी समिति लखनऊ।
पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग पृ० २०७-२०८।

२. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग पृ० २११ शर्बेत्सकाय का बौद्ध दर्शन पृ० ११।

समानधर्मता दृष्टिगोचर होती है। सापेक्षवाद अनेकान्तवाद का ही दूसरा नाम है। इसी को दो मतों का समन्वय कर देने के कारण समझौतावाद भी कह सकते हैं।

अब हम प्रसिद्ध चिन्तक श्री कबीर का उद्धरण लें—

'साकार ब्रह्म मेरी माँ है, और निराकार ब्रह्म मेरे पिता। मैं किसे छोड़ूँ, किसे स्वीकार करूँ? तराजू के दोनों पलड़े बराबर भारी हैं'[1]

'यहाँ एक ही ब्रह्म में अवच्छेदक भेद से साकारत्व और निराकारत्व, पितृत्व एवं मातृत्व-रूप दो विशुद्ध धर्मों को माना गया है। यह स्पष्ट ही अनेकान्त है।'

अब हम आध्यात्मिक जगत के वर्तमान् महान् चिन्तक श्री रामकृष्ण परमहंस के कार्यों पर दृष्टि डालते हैं। उनके विचारों पर अनेकान्त का काफी प्रभाव परिलक्षित होता है। डा० हृदयनारायण मिश्र लिखते हैं—

'परम सत्ता संबंधी अपने विचारों के लिये रामकृष्ण शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत दोनों से प्रभावित जान पड़ते हैं'।

'वास्तव में रामकृष्ण ने इन दोनों विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।'[2]

ऊपर बतलाया गया है कि रामानुज के सिद्धान्त पर अनेकान्त का स्पष्ट प्रभाव है। श्री रामकृष्ण ने शंकर के साथ रामानुज के विशिष्टाद्वैत को भी अंगीकार किया है। यह दो विभिन्न मतों का समावेश एवं समन्वय बिना अनेकान्त के प्रभाव के नहीं हो सकता। यह बात कई जगह स्पष्ट की जा चुकी है।

---

१. वी० एस० नरवाणे के 'माडर्न इंडियन थाट्' का हिन्दी अनुवाद, पृ० ७५।

२. समकालीन दार्शनिक चिन्तन (डा० मिश्र) पृ० ८८ (द्वितीय संस्करण)।

आगे डा० मिश्रा लिखते हैं—

'उनके अनुसार (श्री रामकृष्ण के अनुसार) वही परम अस्तित्व अपने निष्क्रिय रूप में ब्रह्म अथवा पुरुष है, और सक्रिय रूप में प्रकृति, माया अथवा शक्ति है। वे इस प्रकार से संबंधित हैं कि एक के बिना दूसरे को सोचा नहीं जा सकता।[1]

यहाँ एक ही ब्रह्म या पुरुष को अपेक्षा भेद से द्विरूप माना गया है। यह स्पष्ट ही अनेकान्त के समानधर्मा कथन है।

पश्चिम के प्रसिद्ध चिन्तक श्री रोमां रोलां ने श्री रामकृष्ण के शब्दों को उद्धृत किया है—

'मेरी देवी माँ निरपेक्ष से भिन्न नहीं है। वह एक ही समय में एक और अनेक दोनों है और एक और अनेक दोनों से परे है।[2]

यहाँ एक ही देवी माँ में एक ही समय में एकत्व, अनेकत्व तथा इन दोनों से परत्व बतलाया है। यह स्पष्ट अनेकान्तवाद की दिशा है।

'यदि निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है तो इस समस्या को लेकर शंकर और नामानुज के अनुयायियों में इतना वाद-विवाद क्यों हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में रामकृष्ण कहा करते थे कि ईश्वर एक ही है, किन्तु उसके खोजने के रास्ते भिन्न-भिन्न हैं। वे सगुण और निर्गुण ब्रह्म के बीच के भेद को अधिक महत्त्व नहीं देते थे। अतः यह स्पष्ट है कि रामकृष्ण ने शंकर और रामानुज के विचारों में से किसी एक के विचारों को नहीं चुना। उन्होंने उन दोनों को स्वीकार करने एवं उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।'[3] इस संबंध में रोमां रोलां का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'उनके स्वभाव की कोमलता ने उन्हें रामानुज द्वारा प्रस्तुत समन्वयात्मक सामाधान की ओर मोड़ा'।[4]

---

१. समकालीन दार्शनिक चिंतन, (डा० मिश्रा), पृ० ८८।

२. The Life of Ramkrishna by Romain Rolland P. 67.

३. समकालीन दार्शनिक चिंतन, (डा० मिश्रा०), पृ० ८९।

४. दि लाइफ आफ रामकृष्ण पृ० ६३।

उपर्युक्त कथन में श्री रामकृष्ण ने ब्रह्म को अपेक्षाभेद से सगुण एवं निर्गुण दोनों मानकर दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। अनेकान्त भी विभिन्न नयवादों का समन्वय करके विरोध को परिहृत करता है। अतः दोनों एक ही मार्ग के पथिक हैं।

अब स्वामी विवेकानंद को लें। इनके भी चिन्तन एवं विचारों में अनेकान्त की समानधर्मी धारा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। डा० मिश्रा लिखते हैं—

'एक सच्चे वेदान्ती की भाँति विवेकानंद ने ब्रह्म और जीव की एकता को भी स्वीकार किया है। वे मानते हैं कि हमारी आत्मा भोक्ता व कर्ता के रूप में ब्रह्म से तादात्म्य नहीं रखती, किन्तु सार रूप में जीव ब्रह्म ही है।'[1]

इस कथन में स्वामी विवेकानंद ने अपेक्षा भेद या अवच्छेदक भेद से जीव को ब्रह्म से भिन्न एवं अभिन्न—दोनों बतलाये हैं। सामान्यतया जीव एवं ब्रह्म एक हैं, लेकिन कर्तृत्व एवं भौक्तृत्व की अपेक्षा से भिन्न भी है। यहाँ स्पष्ट अनेकान्त का प्रभाव है।

एक विचार और देखिये। आप लिखते हैं—

'समुद्र में लहर उठती है। यह लहर समुद्र से एकता रखते हुये भी समुद्र नहीं है और समुद्र से भिन्न भी है। यह भिन्नता नामरूप के कारण है। किन्तु लहर को समुद्र से भिन्न अस्तित्व के रूप में नहीं सोचा जा सकता।'[2]

उपर्युक्त कथन में लहर को समुद्र से भिन्न एवं अभिन्न दोनों बतलाया गया है। यह स्पष्ट अनेकान्त है।

श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर के विचारों का अवलोकन करिये। श्री मिश्रा लिखते हैं—

'माया की अवधारणा शंकर और टैगोर कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं।

---

१. समकालीन दार्शनिक चिन्तन, पृ० ९४।

२. वही पृ० ९७।

३. वही पृ० १०३।

शंकर का कहना था कि माया न सत् है और न असत्। टैगोर कहते हैं कि माया है और नहीं भी है। यह सिद्धान्त वल्लभ प्रतिपादित माया से अधिक साम्य रखता है। ससीमता और अनेकता का अनुभव होने के कारण माया का अस्तित्व मानना पड़ता है। अनन्त सत्ता की अखंडता का बोध हो जाने पर माया विलीन हो जाती है। इसलिये कहा जाता है कि वह नहीं है।'[1]

उपर्युक्त कथन में श्री टैगोर ने माया का अस्तित्व एवं नास्तित्व दोनों बतलाये हैं और उनमें कारण है—अपेक्षा भेद। यह स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि से प्रतिपादन किया हुआ प्रतीत होता है।

अब महात्मा गाँधी के विचारों को लीजिये। वे लिखते हैं—

'उनके लिये वह एक है और अनेक है। अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है। वह जल के एक बिन्दु में समा सकता है और सात समुद्र मिलकर उसकी समानता नहीं कर सकते हैं।[2]

उपर्युक्त कथन में ईश्वर को एक एवं अनेक, छोटा एवं बड़ा बतलाया गया है। परस्पर विरुद्ध भासित होने वाले धर्मों को अपेक्षा भेद से एक ही ईश्वर में निरूपित किया गया है। यह स्पष्ट अनेकान्त का चिन्तन है।

एक अन्य कथन भी देखिये। श्री मिश्रा लिखते हैं—

'.........गाँधी के इस कथन से यह भी निर्णय निकाला जा सकता है कि आत्मा और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। इस संबंध में वे शंकर की तरह अद्वैतवादी हैं।'

'गाँधी कभी-कभी आत्मा को ईश्वर का अंश भी मानते हैं, तथा आत्मा और ईश्वर के बीच सेवक और स्वामी का संबंध मानते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे द्वैतवाद के विरोधी नहीं हैं। रामानुज या कपिल की तरह ईश्वर और आत्मा तथा विभिन्न आत्माओं के बीच उन्हें भेद स्वीकार है। [यह

---

१. समकालीन दार्शनिक चिन्तन पृ० १०३।

२. वही, पृ० १०५।

उनका अन्तिम मत नहीं है। व्यवहार में वे द्वैत भले ही मान लें, किन्तु उनका स्पष्ट कथन है कि 'मैं अद्वैत के बुनियादी सिद्धान्त में विश्वास करता हूँ।'[1]

श्री गाँधी की विचारधारा अद्वैत और द्वैतवाद दोनों को स्वीकार करती है। वे ईश्वर और आत्मा में भेद एवं अभेद दोनों मानते हैं। यह चिन्तन अनेकान्त के अनुसार है।

श्री दिनकर गांधी जी के विचारों के विषय में लिखते हैं—

'अनेकान्त जैन दर्शनों में सोया हुआ था। भारतवासी जैसे अपने दर्शन की अन्य बातें भूल चुके थे, वैसे ही अनेकान्तवाद का यह दुर्लभ सिद्धान्त भी उनकी आँखों से ओझल हो गया था। किन्तु नवोत्थान के क्रम में जैसे हमारे अनेक प्राचीन सत्यों ने दुबारा जन्म लिया, वैसे ही गाँधी जी में आकर अनेकान्त-वाद ने भी नवजीवन प्राप्त किया। संपूर्ण सत्य क्या है—इसे जानना बड़ा ही कठिन है। तात्त्विक दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक सत्यान्वेषी सत्य के जिस पक्ष के दर्शन करता है. वह उसी की बातें बोलता है, इसीलिये सत्य के मार्ग पर आये हुये व्यक्ति की सब से बड़ी पहचान यह होती है कि वह दुराग्रही नहीं होता, न वह यही हठ करता है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वही सत्य है। अपने ऊपर एक प्रकार की श्रद्धा तथा यह भाव कि, कदाचित् प्रतिपक्षी का मत ठीक हो, ये अनेकान्तवादी मनुष्य के प्रमुख लक्षण हैं।

'गाँधी जी पर ये सभी लक्षण घटित होते हैं, क्योंकि अहिंसा कायिक और वाचिक होने के साथ बौद्धिक भी थी, और इसी बौद्धिक अहिंसा ने उन्हें सम-झौतावादी एवं विरोधियों के प्रति श्रद्धालु बना दिया था। जब गाँधीजी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन की योजना बना रहे थे, सुप्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर ने उनसे पूछा कि आपके इस कार्य से युद्ध में बाधा पड़ेगी और अमरीकी जनता को आपका यह आंदोलन पसन्द नहीं आवेगा। अजब नहीं कि लोग आपको मित्र राष्ट्रों का शत्रु समझने लगें। गाँधीजी यह सुनते ही घबरा उठे, उन्होंने कहा—फिशर, तुम अपने राष्ट्रपति से कहो कि वे मुझे आंदोलन छेड़ने से रोक दें। मैं तो समझौतावादी मनुष्य हूँ, क्योंकि मुझे कभी भी यह नहीं लगता कि मैं ही ठीक राह पर हूँ।

---

१. **समकालीन दार्शनिक चिन्तन, पृ० १०७।**

चूँकि अनेकान्तवाद से परस्पर विरोधी बातों के बीच सामंजस्य आता है तथा विरोधियों के प्रति भी आदर की अभिवृद्धि होती है। इसलिये गाँधीजी को यह वाद अत्यन्त प्रिय था। उन्होंने लिखा है—मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य ही होता हूँ, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझमें गलती देखते हैं। पहले में अपने को सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था, किन्तु अब मैं मानता हूँ कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं। कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था—वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया कि मुसलमान की जाँच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिये। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों को प्यार करता हूँ, क्योंकि अब मैं अपने को विरोधियों की दृष्टि से देखता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्त का ही परिणाम है। सह अस्तित्व, सहजीवन और पंचशील इन सबका आधार अनेकान्तवाद ही हो सकता है।'[1]

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि गाँधीजी अनेकान्तवाद को जीवन का तथा विचार का सबसे आवश्यक सिद्धान्त मानते थे। गाँधीजी के चिन्तन एवं उनकी विचार पद्धति पर अनेकान्तवाद का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उनकी सफलता का आधार अनेकान्तवाद था। इसीसे वे विरोधियों में प्रेमभाव जगाने में सफल हुये थे।

श्री जवाहरलाल नेहरू की विचारधारा पर भी अनेकान्त का काफी प्रभाव था। उसके बिना वे भारत की अनेकता में एकता का दर्शन नहीं कर सकते थे, तथा एकता के दर्शन के बिना भारत को एक सूत्र में बाँध कर उसे एक महान् राष्ट्र बनाने के स्वप्न नहीं देख सकते थे। उन्होंने एक जगह लिखा है—

'ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और बेक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की आरंभिक सदियों में आने वाले ईसाई, यहूदी और पारसी, ये सब के सब, एक के बाद एक, भारत में आये और उनके आने से समाज ने एक हल्के कंपन का भी अनुभव

---

१. जैन जगत समन्वय अंक १९७२ दिनकर का लेख पृ० १८७ से १८९।

किया। मगर अन्त में आकर वे सब के सब भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन हो गये। उनका कहीं कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा।'[1]

यदि एकान्तवाद एवं दुराग्रह से पूर्ण वे होते तो भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में विलीन होना उनका संभव नहीं था। भारतीय संस्कृति का भी अनेकान्तवाद के सरीखा ही लचीला रूप है, जो विरोधी को भी अपने में विलीन करने की क्षमता रखता है। इस उपर्युक्त विचारधारा के मूल में श्री नेहरू जी की चिन्तन पद्धति में अनेकान्तवाद का स्पष्ट प्रभाव है।

अब हम श्री रामधारी सिंह दिनकर के विचारों को देखें। वे लिखते हैं—

'जैन दर्शन केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन दर्शन का अनेकान्तवाद है।[2]

'अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि—प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखंड पिंड है। वस्तु को हम जिस कोण से देख रहे हैं, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। हमें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उस पर ईमानदारी से विचार करें तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसंधि निकालें और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजें, वह भी वहीं लहरा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।'

'अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्तवाद है, जो हमें यह चेतावनी देता है कि बहस के समय अपनी आँखों को लाल मत बनाओ, न कभी इस भाव को मन में स्थान बनाने दो कि तुम जो कुछ कहते हो, एकमात्र वही सत्य है।'[3]

---

१. संस्कृति के चार अध्याय (दिनकर) पृ० ६७ में उद्धृत।

२. संस्कृति के चार अध्याय पृ० १३५।

३. वही, पृ० १३६, १३७।

श्री दिनकर की विचारधारा के अनुसार भारतीय संस्कृति में अनेकान्तवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे व्यवहार में अनेकान्त की बहुत आवश्यकता मानते हैं। अनेकान्त का बढ़िया निरूपण उन्होंने किया है और उसकी आवश्यकता बतलाई है। अनेकान्त की आवश्यकता के बारे में वे लिखते हैं—

'गांधी जी के वचन और प्रयोग से जो सिद्धान्त निकलता है, उसके अनुसार हिंसा केवल रक्तपात करने अथवा दूसरों को शारीरिक कष्ट पहुँचाने में ही नहीं है, उसका एक विकृत रूप दुराग्रही होना भी है। अपने मतवाद पर अहंकार-पूर्वक अड़ जाना भी हिंसा ही है। भारत में अहिंसा का सबसे बड़ा प्रयोक्ता जैन दर्शन है, जिसने मनुष्य को केवल वाणी और कार्य से ही नहीं, प्रत्युत विचारों से भी अहिंसक बनाने का प्रयत्न किया था। किसी भी बात पर यह मानकर अड़ जाना कि यही सत्य है, तथा बाकी लोग जो कुछ कहते हैं, वह सबका सब झूठ और निराधार है, विचारों की सबसे भयानक हिंसा है। मनुष्य को इस हिंसा के पाप से बचाने के लिये ही जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद का सिद्धान्त निकाला था, जिसके अनुसार प्रत्येक सत्य के अनेक पक्ष माने जाते हैं, तथा हम जब, जिस पक्ष को देखते हैं, तब हमें वही पक्ष सत्य जान पड़ता है। अनेकान्तवादी दर्शन की उपादेयता यह है कि वह मनुष्य को दुराग्रही होने से बचाता है। वह शिक्षा देता है कि केवल तुम्हीं ठीक हो, ऐसी बात नहीं है। सम्भवतः वे लोग भी सत्य ही कह रहे हों, जो तुम्हारा विरोध करते हैं। यह दर्शन मनुष्य के भीतर बौद्धिक अहिंसा को प्रतिष्ठित करता है। संसार में जो अनेक मतवाद फैले हुए हैं, अनेकान्त उनके भीतर सामंजस्य को जन्म देता है तथा वैचारिक भूमि पर जो कोलाहल और कटुता उत्पन्न होती है, उससे विचारकों के मस्तिष्क को मुक्त रखता है।'[1]

आगे दिनकरजी लिखते हैं—

'अनेकान्तवाद' नाम यद्यपि जैनों का दिया हुआ है, किन्तु जिस दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त इंगित करता है, वह दृष्टिकोण भारत में प्रारम्भ से ही विद्यमान था। यदि वह विद्यमान नहीं रहता, तो भारत में इतनी विभिन्न जातियां एक मानवता के अंग बन कर एकता की छाया में शान्ति से नहीं जीतीं। तब शायद भारत का भी वही हाल होता, जो यूरोप का रहा है। भारत और यूरोप (रूस को छोड़कर) आकार में बहुत समान है और दोनों ही

---

१. जैन जगत् समन्वयांक १९७२ में दिनकर का लेख।

महादेशों में भाषा एवं जातिगत भिन्नताएं भी बहुत हैं, फिर भी भारत में भिन्नताएं एक समाधान पर आ गई हैं, मानों अनेक नदियों ने एक ही समुद्र में अपना विलय खोज लिया हो। किन्तु यूरोप के बित्ते भर भर के देश परस्पर मारकाट और भयानक रक्तपात मचाते रहते हैं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है ? और तो और, राष्ट्रीयता का जो भाव भारत की एकता में दृढ़ता लाने का कारण हुआ, ठीक उसी के कारण यूरोप के देश परस्पर और भी दूर हो गये। अहिंसा प्रियता के कारण जो तत्व भारत में अमृत बरसाता है, हिंसा-प्रियता के कारण यूरोप में वही जहर बन गया है।'

'सहिष्णुता, उदारता, सामाजिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा—ये एक ही सत्य के अलग अलग नाम है। असल में यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिसके अधीन यह देश एक हुआ है, और जिसको अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवाद वह है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवाद वह है, जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवाद वह है, जो समझौते को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्धन अनेकान्तवादी थे, जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुये भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे रूप उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिये। अतः संपूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुये भी उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत की साधना की थी और गाँधीजी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।'[1]

महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के विचारों का अवलोकन कीजिये। वे लिखते हैं—

'सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सब ही दर्शनों में किसी न किसी स्थान पर जाकर यह अनेकान्तवाद मानना ही पड़ता है। इससे अनेकान्तवादरूप जैन सिद्धान्त की एक प्रकार से व्यापकता ही सिद्ध हो जाती है।'[2]

---

१. दिनकर—'भारतीय दर्शन की सार्वभौम चिंतन दृष्टि'—अनेकान्त-वाद, नामक लेख, अमर भारती एप्रिल १९७१ पृ० १०२, १०३।

२. दर्शन अनुचिन्तन पृ० ३२, ३४।

उपर्युक्त कथन में श्री चतुर्वेदी जी ने अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण को व्यापक बताया है। सभी दर्शनकारों को इसे कहीं न कहीं स्वीकार करना पड़ा है।

डा० मंगलदेव शास्त्री एम० ए० डी० फिल० (आक्सन) प्रिन्सिपल गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस, तथा रजिस्ट्रार, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज एग्जामिनेशंस यू० पी० बनारस, अनेकान्तवाद के ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुये लिखते हैं—

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का भी एक प्रधान स्थान है। इसका हमारी समझ में एक मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि इसके आचार्यों ने प्रचलित परंपरागत विचार और रूढ़ियों से अपने को पृथक् करके स्वतंत्र दृष्टि से दार्शनिक प्रमेयों के विश्लेषण की चेष्टा की है। हम यहाँ विश्लेषण शब्द का प्रयोग जानबूझ कर कर रहे हैं। वस्तु स्थिति में एक दार्शनिक का कार्य— जिस प्रकार एक वैयाकरण शब्द का व्याकरण अर्थात् विश्लेषण न कि निर्माण, करता है— इसी प्रकार पदार्थों के संबंध से उत्पन्न होने वाले हमारे विचारों और उनके संबंधों के रहस्य का उद्घाटन करना होता है। 'पदार्थों की सत्ता हमारे विचारों से निरपेक्ष, स्वतः सिद्ध है' इस सिद्धान्त को प्रायः लोग भूल जाते हैं। हम समझते हैं कि जैन दर्शन का अनेकान्तवाद, जिसको कि उसकी मूलभित्ति कहा जा सकता ,है, उपर्युक्त मूल सिद्धान्त को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।

'अनेकान्तवाद का मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्व के विषय में आग्रह न होते हुये भी उसके विषय में तत्तदवस्थाभेद के कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्त की मौलिकता में किसको संदेह हो सकता है ? क्या हम—

'श्रुतयो विभिन्नाः, स्मृतयो विभिन्नाः,
नेको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'

(महाभारत)

'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।'

(केनोपनिषत् २।३)

इत्यादि वचनों को मूल में अनेकान्तवाद का प्रतिपादक नहीं कह सकते ? दर्शन शब्द ही स्वतः दृष्टिभेद के अर्थ को प्रकट करता है। इस अभिप्राय से

जैनाचार्यों ने अनेकान्त के द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनों में विरोध भावना को हटाकर परस्पर समन्वय स्थापित करने का एक सत्प्रयत्न किया है।'

इसमें संदेह नहीं कि जैन दर्शन में प्रतिपादित अनेकान्तवाद के इस मौलिक अभिप्राय को समझने से दार्शनिक जगत् में परस्पर विरोध तथा कलह को भावनाओं के नाश से परस्पर सौमनस्य और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।'

'जैन धर्म का भारतीय संस्कृति को बड़ी भारी देन अहिंसावाद है, जो कि वास्तव में दार्शनिक भित्ति पर स्थापित अनेकान्त का ही नैतिक शास्त्र की दृष्टि से अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक दृष्टि से यदि अहिंसावाद को ही जैन धर्म में सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवाद को ही उसका दार्शनिक दृष्टि से अनुवाद कह सकते हैं।'[1]

'.........ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि किसी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि से ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता स्वभावतः होनी चाहिये और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। इसी सिद्धान्त को जैन-दर्शन की परिभाषा में 'अनेकान्तदर्शन' कहा गया है। जैन दर्शन का तो यह आधार स्तम्भ है ही, परन्तु वास्तव में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के लिये भी इसको आवश्यक मानना चाहिये।'

'.........वास्तविक अर्थों में जो अपने स्वरूप को समझता है, दूसरे शब्दों में आत्म सम्मान करता है, और साथ ही दूसरे के व्यक्तित्व को भी उतना ही सम्मान देता है, वही उपर्युक्त दुष्कर मार्ग का अनुगामी बन सकता है। इसी लिये सारे नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैन दर्शन के उपर्युक्त अनेकान्त दर्शन का अत्यन्त महत्त्व इसी सिद्धान्त के आधार पर है कि उसमें व्यक्तित्व का सम्मान निहित है।'

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग वि० सं० १९७२ का आदि वचन पृ० ९-१०।

'विचार जगत् का अनेकान्त दर्शन ही नैतिक जगत् में जाकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसलिये जहाँ अन्य दर्शनों में परमत खण्डन पर बड़ा बल दिया गया है, वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर वस्तु स्थिति मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है।'[1]

'इसमें संदेह नहीं कि, न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगम करने के लिये अपितु भारतीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिये भी जैन दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमत सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैन दर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है, उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।[2]

डा० मंगलदेव शास्त्री ने अनेकान्त का मूल स्वरूप समझाते हुये हर जगह उसकी आवश्यकता बतलाई है। अनेकान्त की व्यापकता के साथ भारतीय संस्कृति के विकास को समझने के लिये भी अनेकान्तवाद की आवश्यकता है।

राजस्थान के राज्यपाल डा० संपूर्णानन्द अनेकान्त के विषय में अपने विचार प्रकट करते हैं—

'साधारण मनुष्य को यह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही वस्तु के लिये एक ही समय में, हैं और नहीं है'—दोनों बातें कैसे कही जा सकती हैं। परन्तु कठिनाई के होते हुये भी वस्तु स्थिति तो ऐसी ही है। जो लेखनी मेरे हाथ में है, और मेज पर नहीं है। जिस बच्चे का अस्तित्व आज हैं, उसका अस्तित्व कल नहीं था। जो वस्तु पुस्तक रूप से है, वह कुर्सी रूप से नहीं है। जो घटना एक के लिये भूतकालिक है, वही दूसरे के लिये वर्तमान की और तीसरे के लिये भविष्यत् की है।····प्रतीयमान् जगत् में तो सभी वस्तुएँ, चाहे वे कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो, अनेकान्तिक हैं।······ परंतु अनेकान्तवाद की ग्राह्यता स्वीकार करता हूँ।[3]

---

१. जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार) प्राक्कथन पृ० १४, १५।

२. वही, पृ० १५, १६।

३. 'जैन धर्म' का प्राक्कथन पृ० ४-५।

डा० संपूर्णानन्द ने अनेकान्त की ग्राह्यता अनुभव के आधार पर स्वीकार की है।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति एवं दिल्ली के उप-राज्यपाल डा० आदित्यनाथ झा दर्शन के अच्छे चिन्तक एवं उनमें समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने वाले विद्वान् हैं। आप लिखते हैं—

'इस प्रकार जैन दर्शन 'प्रमाण' एवं 'नय' का आश्रयण कर 'स्याद्वाद' के दृष्टिकोण से अन्य समस्त दर्शनों के दृष्टिभेद के समन्वयार्थ प्रयत्नशील होता हुआ सामाजिक सुव्यवस्था तथा विश्व बंधुत्व की भावना का मार्ग प्रशस्त करता है।[1]

प्रमाण एवं नय का आश्रयण लेना अनेकान्तवाद है। श्री झा के मत से यह वाद दर्शनों में समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता है। अनेकान्तवाद का स्वरूप ही ऐसा है कि वह इस कार्य को बड़ी खूबी से करने की क्षमता रखता है। इसी बात को डा० झा आगे प्रकट करते हुये लिखते हैं—

'जैन दर्शन की सामंजस्यवादिता के बारे में तो कहना ही क्या है? अन्य दर्शनों के साथ सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने के लिये ही तो उसका आविर्भाव हुआ है।'[2]

जैन दर्शन के अनेकान्तवाद में ही यह सामर्थ्य है कि वह सब दृष्टिभेदों में सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करता है।

डा० भगवानदास दर्शन के बहुत प्रसिद्ध चिन्तक एवं 'समन्वय' पर लेखनी उठाने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति हैं। डा० साहब ने 'समन्वय' नामक समन्वय पर एक पुस्तक लिखी है। ऊपर बतलाया गया है कि समन्वय के मूल में अनेकान्त दृष्टि बहुत आवश्यक है। उसके बिना समन्वय होना अशक्य है। पूरी पुस्तक पढ़ने से उनकी विचारधारा का परिचय मिलता है। उनकी विचारधारा पर स्पष्ट अनेकान्त दृष्टि का पर्याप्त प्रभाव है। डा० साहब केवल एक अक्षर के

---

१. भारतीय दर्शनों का समन्वय पृ० ११०।

२. वही पृ० १३०।

अपनाने से विरोध और उसकी जगह अन्य अक्षर के अपनाने से विरोध-शान्ति एवं समन्वय का मार्ग प्रशस्त मानते हैं। देखिये—

'एक ही वस्तु से पक्ष, पहलू, अस्त्र हैं, एक परम दर्शन, आत्म दर्शन, सम्यग्दर्शन के षट्दर्शन षडस्त्र हैं, किसी एक पर केवल 'एम्फेसिस' अधिक अवधारणा, अतितानता से वह अस्त्र वा पक्ष अन्य से भिन्न और विरुद्ध भासने लगता है। 'ही' मत कहो, 'भी' कहो; 'यह ही' नहीं, 'यह भी', तो सब में मेल ही मेल है।[1]

इस कथन में एकान्त पर जोर न देकर अनेकान्त अपनाने पर जोर दिया गया है। 'ही' में एकान्तवाद और 'भी' अनेकान्तवाद रहता है। 'ही' शब्द में झगड़ा है और 'भी' शब्द में मेल व समन्वय है। डा० साहब ने बहुत मार्मिक गहनता से लेखनी का उपयोग किया है।

श्री हरिमोहन भट्टाचार्य अनेकान्त की अभिव्यंजन शैली स्याद्वाद के बारे में लिखते हैं—

'हम सप्तभंगी न्याय या सात प्रकार के निर्णय के सिद्धान्त को प्रभावपूर्ण तरीके से सिद्ध कर सकते हैं, जो कि यथार्थ की प्रकृति को समझने और प्रकट करने का तर्कपूर्ण मार्ग है।'[2]

श्री भट्टाचार्यजी ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के यथार्थ को समझने के लिये आवश्यक माना है।

आधुनिक विचारक संत विनोवा भावे अनेकान्तवाद के विषय में लिखते हैं—

'अपना सत्य तो सत्य है ही, किन्तु दूसरा जो कहता है, वह भी सत्य है। दोनों सत्य मिलकर पूर्ण सत्य होता है। यही महावीर का स्याद्वाद है।'[3]

---

१. समन्वय पृ० ७९।

२. 'gain logic and Epistomology' (Calcutta University).

३. अमर भारती जून, १९७२ अन्तिम पृष्ठ।

यह नय के द्वारा अनेकान्त का मार्ग है। इससे स्पष्ट अनेकान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

गाँधीवादी विचारक काका कालेलकर लिखते हैं—

'मेरे पास जो 'समन्वय दृष्टि' है, यह मैं जैनियों के 'अनेकान्तवाद' से सीखा हूँ। अनेकान्तवाद ने मुझे बौद्धिक अहिंसा सिखाई, इसके लिये मैं जैन दर्शन का ऋणी हूँ।'[1]

समन्वय दृष्टि के लिये अनेकान्तवाद प्रयोजक है। इससे व्यावहारिक कलह, वादविवाद समाप्त हो जाते हैं।

गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० आनन्द शंकर ध्रुव लिखते हैं—

'स्याद्वाद का सिद्धान्त अनेक सिद्धान्तों को देखकर उनका समन्वय करने के लिये प्रकट किया गया है। स्याद्वाद हमारे सामने एकीभाव का दृष्टि बिन्दु उपस्थित करता है।''''यह निश्चय है कि विविध दृष्टि बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना किसी वस्तु का संपूर्ण स्वरूप समझ में नहीं आ सकता है। इसलिये स्याद्वाद उपयोगी और सार्थक है।''''''''यह हमको एक मार्ग बताता है—यह हमें सिखाता है कि विश्व का अवलोकन किस तरह करना चाहिये।'[2]

डा० हृदयनारायण मिश्र लिखते हैं—

'मनुष्य, यदि साधारण अर्थ में लें तो स्वयं, पूर्ण नहीं है। इसलिये उसका ज्ञान भी पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाया है। अनुभव में आने वाले ज्ञान को हमें व्यवस्थित संकेतों द्वारा व्यक्त करना पड़ता है। संकेत कई प्रकार से प्रयोग में आते हैं। इसलिये अनुभूत ज्ञान की अभिव्यक्ति भी उतने ही प्रकार से की जा सकती है। यही कारण है कि कई दार्शनिक चिन्तन धाराएँ चला करती हैं। सत्य एक है, किन्तु उसके अनेक पहलू हैं। संसार में वह नाना रूपों में व्यक्त होता है। उसकी अनुभूति भी विभिन्न प्रकार से होती है। अगर यह कथन

---

१. जैन जगत समन्वय विशेषांक १९७२ पृ० २११।

२. जैन दर्शन पृ० १०३ टिप्पणी।

सही है तो यह कल्पना कभी नहीं की जा सकती कि दर्शन कभी सर्व स्वीकृत एक हल पर पहुँच जायेगा।'[1]

स्पष्ट ही यह कथन अनेकान्त का समानधर्मा है।

अब अन्त में वाचस्पति गैरोला के विचार देखें। वे लिखते हैं—

'प्रत्येक निष्पक्ष विचारक को लगेगा कि स्याद्वाद ने दर्शन के क्षेत्र में विजय प्राप्त कर अब वैज्ञानिक जगत में विजय पाने के लिये सापेक्षवाद के रूप में जन्म लिया है।'[2]

'स्याद्वाद का जितना संबंध अध्यात्म से है, उतना ही भौतिक वस्तु से भी।'[3]

'जैनों का अनेकान्तवाद कुछ ऐसा गढ़ा हुआ सिद्धान्त नहीं है, जिसमें जैन दर्शन की वैयक्तिक दृष्टि का आभास मिलता हो। वह तो लोक दृष्टि जितना उपयोगी है, विचार की दृष्टि से भी उतना ही उपयोगी है।'[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन एवं अर्वाचीन चिन्तकों के चिन्तन पर अनेकान्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। संसार विभिन्न समस्याओं का सागर है। कई विषयों में कई स्थान पर विभिन्न समस्याओं का विभिन्न विसंगतियों का विभिन्न विरोधों का हमें सामना करना पड़ता है। यदि हम विचार में या चिन्तन में लचीलापन या उदारता न रखें तो उनका हल निकालना महा कठिन हो जाता है। यही अनेकान्त दृष्टि है। इसको हमने अपनी दृष्टि में अपना लिया तो उन समस्याओं का, विसंगतियों का एवं विरोधों का हल सरलता से उपलब्ध हो जाता है।

●

---

१. समकालीन दार्शनिक चिंतन पृ० १।

२. भारतीय दर्शन (गैरोला) पृ० १२०।

३. वही, पृ० १२०।

४. वही, पृ० १२५।

पञ्चम अध्याय

आधुनिक युग में अनेकान्त की प्रासंगिकता

इस अध्याय में आधुनिकता के संदर्भ में अनेकान्त की प्रासंगिकता पर विचार करना है। प्राचीन काल में दर्शन के क्षेत्र में अनेकान्त की उपयोगिता कायम हुई थी। अब यह विचार करना है कि आज के युग में धार्मिक, सामाजिक आदि के परिवेश में भी अनेकान्त की उपयोगिता है या नहीं ? व्यावहारिकता के परिवेश में यह सब सोचना है।

व्यावहारिकता के परिवेश में अनेकान्त का अभिप्राय है कि हमको एक ही अनुभव, एक ही ज्ञान पर आग्रहवान् न बनकर अपने मस्तिष्क को ज्ञान के लिये उन्मुक्त रखना चाहिये। हम अपने मस्तिष्क को किसी एक विषय में प्रतिबद्ध कर लें तो ज्ञान का मार्ग एवं व्यावहारिकता अवरुद्ध हो जाती है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये हमें अपने मस्तिष्क को अप्रतिबद्ध, उन्मुक्त एवं अनाग्रही रखना होगा, तभी हम सभी क्षेत्रों में निभ सकते हैं, अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त कर सकते हैं, और वस्तु का यथार्थबोध कर सकते हैं।

हमको एक ज्ञान हुआ, या एक अनुभव हुआ, उसी में हम अपने आप को बन्द न कर लें, अपितु हम अपने मस्तिष्क को हर ज्ञान के लिये खुला रखें तथा तटस्थ वृत्ति से ज्ञान के लिये प्रयत्न करें और अनुभवों के नये आयाम प्राप्त करें।

आधुनिक युग में व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। आज केवल वैचारिकता उपयोगी नहीं, जब तक कि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता न हो। आज के प्रत्येक विचार बिन्दु में व्यावहारिकता की दृष्टि से समन्वय एवं सामंजस्य की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना संसार के किसी भी कार्य का निर्वाह कर पाना कठिनतम है।

जिस प्रकार दिग्भ्रमित व्यक्ति दिशासूचक यंत्र की सहायता से गंतव्य दिशा में जा सकता है, उसी प्रकार समन्वय का आधार लेकर आजकल के जीवन में समुत्पन्न कठिनाइयों का समाधान किया जा सकता है।

अपने अस्तित्व को अन्य में विलीन कर देना या दूसरे किसी का भी अनुकरण करना समन्वय शब्द का अर्थ नहीं है। विभिन्न अस्तित्व, विभिन्न आकार और विभिन्न विचारों के परिवेश में जो भावात्मक एकता, समरसता और जो सामंजस्य है, उसी को समन्वय कहते हैं।

अनेकान्त समन्वय का प्रयोजक और सहास्तित्व एवं सहिष्णुता का दृढ़तम आधार है। इस विवेचन के परिप्रेक्ष्य में अनेकान्त की प्रासंगिकता पर विचार करना है।

अनेकान्त की प्रासंगिकता पर विचार करते समय हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि जहां हमें इस दृष्टिकोण से व्यवहार नजर आता है, या कुछ व्यक्तियों के कार्यों में, चिन्तन में या विचार में इस दृष्टिकोण का प्रयोग दृष्टिगत होता है, वहाँ उन व्यक्तियों ने अनेकान्त को पढ़ा है या वे इसके विद्वान् हैं। कहीं-कहीं हमें केवल स्वाभाविक प्रक्रिया से इसका प्रयोग या उपयोग देखने में आता है।[1] संभवतः उन्हें यह भी ज्ञात न हो कि यह अनेकान्त के दृष्टिकोण की प्रक्रिया है। आज तो अन्वेषण एवं प्रयोग का युग है। अतः मनुष्य ठोकर खाकर इस प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाने में सफलता समझता है और स्वभावतः इस दृष्टिकोण का उपयोग करता है। मतलब यह है कि अनेकान्तिक दृष्टिकोण रखना—यह कई स्थान पर कई व्यक्तियों में, उनके चिन्तन में, उनके विचार में, उनके व्यवहार में, यहाँ तक कि उनके रहन सहन में एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। अनेकान्त की व्याख्या करके उसको एक वाद के रूप में खड़ा करना, एक अलग बात है। उसको स्वाभाविक रूप में उपयुक्त करना अलग बात है। पहली शास्त्रीय प्रक्रिया है, दूसरी व्यावहारिक प्रक्रिया। व्यावहारिक प्रक्रिया में अनेकान्त के स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। उसके स्वरूप के ज्ञान के बिना भी अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग कई जगह देखने में आता है।

---

१. इसी का अध्याय ४।

धार्मिक परिवेश में

प्राचीन काल में धार्मिक कट्टरता बहुत बलवती थी। धार्मिक की जगह इसे सांप्रदायिक कट्टरता कहना अधिक उपयुक्त होगा। परस्पर संप्रदायों में रागद्वेष की भावना, खंडन मंडन की बहुलता, खून खराबा होने की प्रचुरता और तीव्र संघर्ष की संभावना बहुत अधिक होती थी। अपने विचारों की व्याख्या या विवेचना दूसरे संप्रदाय के विचारों के खंडन के बिना होती ही नहीं थी। इसका अवशेष आज भी दर्शन की प्राचीन पुस्तकों में देखने को मिल जाता है।

किन्तु आज समय बहुत बदल गया है। पुराने युग में एक राष्ट्र की भावना बहुत कमजोर थी, लेकिन आज एक राष्ट्र की भावना बहुत मजबूत हो चुकी है। हम आज कई संप्रदाय के लोग एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में साथ-साथ रहते हैं। यदि हम भावात्मक एकता न रखें, आपस में संघर्ष करते रहें, तो हमारे देश पर दूसरे देशों के आक्रमण की संभावना बढ़ जाती है। अन्य देशों के आक्रमण के भय के कारण देश में स्थिरता के अभाव से हम शान्ति एवं सुख से नहीं रह सकते हैं और देश की विकास की गति रुक जाती है। भावात्मक एकता एवं सहिष्णुता की भावना से हम बड़े प्रेम और शान्ति के साथ, साथ-साथ रह सकते हैं। यही अनेकान्तवादी दृष्टिकोण है। यही समन्वय की भावना है। इस भावना पर चलकर हम, दूसरों की बातों एवं उनके विचारों में जो सत्य दबा पड़ा हो, उसे भी मानते हुये सहिष्णु भाव से सत्याग्राही बन जायें और उसके आधार पर समाधानात्मक सामन्वयवादी रवैया अपनाने लगे। हम अपनी ही बात को सत्य मानकर उसे दूसरों पर दुराग्रह पूर्वक थोपने का दुष्प्रयास न करें। इससे विचार एवं व्यवहार की सहिष्णुता जागृत होगी और प्रतिदिन के अनेकों संघर्ष टाले जा सकेंगे। इससे मतभेद दूर होंगे। स्नेह और सौहार्द्र का मृदु वातावरण बनेगा। आपसी तनाव और संघर्ष में नष्ट होने वाली शक्ति बचेगी, सब मिलकर काम करेंगे और देश शक्तिशाली बनेगा। धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त भी मूलतः इस बात पर बल देता है कि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी धर्म के अनुपालन की स्वतंत्रता है। ये परिस्थितियाँ मानव-इतिहास में इस रूप में इतनी सार्वजनीन बनकर पहले कभी नहीं आईं। प्रकारान्तर से अनेकान्त का दृष्टिकोण इस चिंतन के मूल में प्रेरक घटक रहा है। अन्य देशों में भी विभिन्न धार्मिक

विचारों वाले व्यक्ति अनेकान्तवादी दृष्टिकोण, भावात्मक एकता तथा समन्वय की भावना के बिना एक साथ नहीं रह सकते हैं।

सामाजिक परिवेश में

समाज में विभिन्न विचारधारा वाले व्यक्ति रहते हैं। उनके रहन सहन, रुचि, खानपान एवं कई जगह भाषा अलग-अलग रहती है। उनकी पारस्परिक विभिन्नतायें कई हैं। इस विभिन्नताओं के रहते हुये व्यक्ति परस्पर सामंजस्य रखते हुये बड़े प्रेम से सामाजिकता का निर्वाह करते हैं। परस्पर साहिष्णुता रखते हुये समन्वय की भावना के साथ शन्ति से रहते हैं। विभिन्नताओं में भी एकता स्थापित करने का कार्य अनेकान्तिक दृष्टिकोण ही करता है।

मानव इस संसार में एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य लेकर आया है कि वह समाज में अपने जीवन को सुसंस्कृत, सभ्य और सुन्दर बनाने के साथ-साथ अपने आस-पास के लोगों में, समाज में भी सुसंस्कृतता, सभ्यता एवं सुन्दरता लावे, सर्वत्र प्रेम की ज्योति जलावे और ज्ञान का प्रकाश फैलावे। यही मानव-जीवन का महत्वपूर्ण आदर्श है। सदाचार, स्नेह, वात्सल्य, दया, करुणा, प्रेम और क्षमा मानव जीवन के सद्गुण हैं, जो व्यक्ति के जीवन का भी निर्माण करते हैं और समाज के जीवन का भी।

विश्व में सबसे उलझा हुआ प्रश्न यह है कि व्यक्ति को सुधारने में सारी शक्ति लगाई जाय या समाज को सुधारने में। एक पक्ष है व्यक्तिवादियों का, जो चाहते हैं, व्यक्ति, अलग-अलग इकाई है, इन विभिन्न व्यक्तियों या इकाइयों को सुधारा जाय, उनमें परिवर्तन लाया जाय, उनका विकास किया जाय तो इनका असर समाज पर पड़ेगा और समाज में अपने आप सुधार आ जायगा। दूसरी ओर समाजवादियों का पक्ष है कि व्यक्ति—व्यक्ति में कब तक सुधार किया जाय। व्यक्ति बड़ा नहीं है, समाज बड़ा है। वही मुख्य है। अतः समाज के जीवन का निर्माण होना चाहिये। समाज उन्नत होगा तो व्यक्ति भी उन्नत होगा।

व्यक्तिवाद में दोष यह है कि वह समाज को छोड़कर चलना चाहता है। वह अपने सुख को ही सुख और अपने दुःख को ही दुःख समझता है। वह समझता है कि वह सुखी है तो संसार सुखी है, वह दुःखी है तो संसार दुःखी

है। व्यक्तिवादी मानव व्यक्तिगत जीवन से ही घिरकर बैठ जाता है और समाज से कटकर अपने व्यक्तित्व को ही महत्त्व देने लगता है।

दूसरी ओर समाजवाद इसी धारणा को लेकर चलता है कि उसे तो समाज का निर्माण करना है और समाज के लिये ही कुछ कर गुजरना है। व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं।

समाजवादी पक्ष में दोष यह है कि एकान्त समाजवाद में व्यक्ति समाज के नीचे कुचल दिया जाता है, उसे दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है। समाजवाद के घोर आडम्बर के नीचे व्यक्ति अपने आपको समाप्त कर देता है। आखिरकार व्यक्ति का भी जीवन है। उसका भी विचार करना जीवन का आदर्श है।

इस प्रकार व्यक्तिवाद और समाजवाद के कारण व्यक्ति और समाज के बीच जो पृथक्ता आई है, उसका समाधान भारत ने हजारों वर्ष पहले कर लिया है। भारत ने व्यक्ति के लिये भी सोचा है और समाज के लिये भी। उसका विचार है, व्यक्ति और समाज—दोनों सर्वथा अलग-अलग नहीं है। व्यक्ति समाज का अंग है और समाज भी अनेकों व्यक्तियों का समूह ही तो है। हम अपने शरीर की ओर देखें तो पहला प्रश्न सामने आता है—शरीर क्या है? हाथ-पैर आदि अवयव, जो इस शरीर के हैं, उन सबकी समष्टि का नाम ही तो शरीर है। यदि हम सोचें कि हाथ क्या है, पाँव क्या है? तो इसका उत्तर होगा—हाथ और पाँव इस समष्टि रूप शरीर का एक-एक अंग है। अतः जिस प्रकार शरीर और उसके अंग अलग-अलग नहीं हैं, एक दूसरे से संबंधित एवं एक दूसरे पर अवलंबित हैं, इसी प्रकार व्यक्ति समाज से और समाज व्यक्ति से अलग नहीं है। दोनों का पोषण एक दूसरे के सहयोग पर ही अवलंबित है। समाज के निर्माण में व्यक्ति का निर्माण अंतर्निहित ही है। इस प्रकार भिन्नता में एकता के दर्शन करना अनेकान्त दृष्टि है। इसके बिना भिन्नता में एकता लाई नहीं जा सकती।

जीवन तत्त्व अपने में पूर्ण होते हुये भी वह कई अंशों की अखंड समष्टि है। इसीलिये समष्टि को समझने के लिये अंशों का समझना आवश्यक है। यदि हम अंश की उपेक्षा करते रहें तो अंशी को उसके सर्वांग एवं संपूर्ण रूप में नहीं समझ

सकेंगे। सामान्यतः समाज में जो कलह या वाद-विवाद होता है, वह दुराग्रह, हठ-वादिता और एक पक्ष पर अड़े रहने के ही कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल आवेगा। एक ही विचार को एक तरफ से न देखकर उसको विभिन्न पहलुओं से जांच लिया जाय तो फिर किसी को एतराज न रहेगा। आइंस्टीन का सापेक्षवाद भी इसी भूमिका पर खड़ा है। इसी भूमिका पर चलकर ही तो सगुण एवं निर्गुण के, ज्ञान और भक्ति के विवाद को सुलझाया गया। यह चिन्तन वर्तमान के संदर्भ में अधिक सार्थक एवं प्रासंगिक लगता है।

वैज्ञानिक चिन्तन में यद्यपि धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों और उन्मादकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध जनमानस को संघर्षशील बना दिया है, मानव की इन्द्रियों के विषय सेवन के क्षेत्र का विस्तार कर दिया है, औद्योगीकरण के माध्यम से उत्पादन की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया है, राष्ट्रों की दूरी परस्पर कम कर दी है, तथापि आज का मानव सुखी एवं शान्त नहीं है। उसके मन की दूरियाँ बढ़ गई हैं। जातिवाद, रंगभेद, भुखमरी, गुटपरस्ती जैसे सूक्ष्म कीटाणुओं से वह ग्रस्त है। वह अपने परिचितों के बीच रह कर भी अपरिचित और पराया है। मानसिक कुंठाओं, वैयक्तिक पीड़ाओं और युग की कटुता से वह त्रस्त है, संतप्त है। इसका कारण है—आत्मगत मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा का अभाव। इस अभाव को वैज्ञानिक प्रगति और आध्यात्मिक स्फुरण के सामंजस्य से ही दूर किया जा सकता है। इस प्रकार के चिन्तन के मूल में प्रेरक सिद्धान्त अनेकान्त ही रहा है। अतः सामाजिक परिवेश में आधु-निकता के संदर्भ में अनेकान्त का दृष्टिकोण बहुत ही उपयोगी है।

साहित्य-कला-संस्कृति के परिवेश में

वर्तमान युग में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि पश्चिम में अरस्तू के जमाने से जो तर्क पद्धति 'ए' और 'नान ए' की चल पड़ी वही भारत में भी अन्य की तरह अपनाई गई। यानी हर वस्तु को हम स्वीकार-नकारवाली पद्धति से या तो वाम है या दक्षिण, काला है या गोरा, अमीर है या गरीब, सवर्ण है या दलित—इस प्रकार से पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण के परस्पर विरोध के खानों में ही देखते हैं। मानवीय वस्तुएँ या विचार या व्यवहार मशीनी नहीं होता। उसमें यह तार्किक दो टूक प्रणाली उचित नहीं, यह पश्चिम भी समझने लगा

है। पर हम ब्रिटिश शिक्षा पद्धति की भाँति यही पुरानी तर्क पद्धति, मृत शिशु को मोहवश छाती से चिपटाये रखने वाली वानरी के समान, अपनाये हुये हैं। यहाँ पर महावीर के उपदेशों का अनेकान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। आइनस्टाइन ने अपने उच्च गणित और भौतिकी में सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रचारित—प्रचलित किया। हजारों वर्ष पूर्व महावीर और उनके शिष्यों ने नय पद्धति से अपेक्षाभंग पर गहरा विचार किया था। यदि उसे आज की समाजनीति-राजनीति-अर्थनीति पर लागू किया जाय तो गाँधीजी कहते थे, उस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' रह कर 'योगः कर्मसु कौशलम्' का अनुसरण करेगा।—जन्म से जातीय ऊँच-नीचता नहीं रहेगी। वर्गों की परस्पर हितरक्षा, पंचायत और पंचपद्धति से बातचीत और परस्पर संवाद से प्राप्त की जा सकेगी। हर छोटी-छोटी माँग के लिये परस्पर सिर फोड़ने, दंगे, रक्तपात, घेराव और दबाव में मानवी शक्ति का अपव्यय नहीं होगा।[1]

इसी प्रकार विचार के क्षेत्र में, साहित्य-कला-संस्कृति के क्षेत्र में भी अनेकान्तवाद बहुत उपयोगी और एकमात्र सम्यक् समीक्षा दृष्टि दे सकता है। आज हम देखते हैं कि अपनी बात को मनवाने के लिये, उसी को अन्तिम सत्य मानकर, हम अन्य संभावनाओं को एकदम झुठला देते हैं। साम्यवादी और उनके विरोधी ऐसी बद्धमूल धाराओं—डाग्मा—से चिपटकर सारे विचार विनिमय को केवल वितंडावाद में बदल देते हैं। आधुनिकतावादी, प्रयोगवादी नव-नवीन-प्रज्ञा-उन्मेष अनुयायी अधिक उदार होंगे, ऐसी आशा थी, पर वे तो दूसरे की बात जरा भी सुनने को तैयार नहीं। वे सूच्यग्र भूमि छोड़ने की इच्छा नहीं दिखाते और बहुत छोटी-छोटी बातों पर 'महाभारत' मचा देते हैं। उनके लिये वे स्वयं 'राम हैं और शेष रावण, वे स्वयं कृष्ण हैं और शेष कंस या कालिया'। यह वृत्ति साहित्य-कला-संस्कृति के विकास के लिये हानिकारक है। मनोविश्लेषणशास्त्र के नये आचार्य जानते हैं कि पूर्वाग्रह एक प्रकार का मनोरोग है। उससे तो कोई भी ज्ञान आगे विकसित नहीं हो सकता। जहाँ 'ज्ञान' नहीं है, वहाँ सृजन क्या होगा ? ऐसी दिशा में अनंत संभावनाओं वाले अनेकान्य से हमें बहुत प्रेरणा मिलेगी। वह 'अवक्तव्यं' तक मानवी कल्पना को

---

१. डा० प्रभाकर माचवे के लेखानुसार, जैनजगत् परिनिर्वाण विशेषांक पृ० ३२।

पहुँचाता है ।[1] अतः वह नवीनतम 'मौन में अन्तिम परिणति वाले' विचार को बहुत पहले ही सोच चुका है । इस प्रकार साहित्य-कला-संस्कृति के परिवेश में भी अनेकान्त की आधुनिकता के संदर्भ में उपयोगिता है ।

संसार के विभिन्न महापुरुषों ने अपने-अपने देशों में स्थिति और समय के अनुसार वहाँ के निवासियों का जीवन सफल और सार्थक बनाने के लिये जो विचार दिये, उनमें मूल तत्त्व यही रहता है कि मानव का जीवन सफल और सार्थक कैसे बने । फिर भी इस चिन्तन में कुछ अन्तर दिखाई देता है, वह यह है कि कुछ लोग अंतरंगता से विचार करते हैं और कुछ लोग केवल बाह्य रूप से ।

आधुनिक युग में विश्व में दो विचार धाराएँ हैं । एक पाश्चात्य विचार पद्धति और दूसरी पौर्वात्य विचार पद्धति । पाश्चात्य विचार-पद्धति यथार्थ पर आधारित और बहिर्मुखी है । इसीलिये स्वाभाविक रूप से भौतिकता को अधिक महत्त्व देती है । इसमें भौतिक साधनों से मानव को सुखी बनाने का अधिक से अधिक प्रयत्न है । पौर्वात्य विचारधारा अंतर्मुखी होने से आध्यात्मिक सुप्त-शक्तियों के विकास द्वारा मानव को सुखी बनाने में प्रयत्नशील है । इसीलिये वह संयम प्रधान है । पाश्चात्य विचार पद्धति भोगप्रधान विचारधारा को पल्लवित करती है । फिर भी भोगप्रधान विचारधारा में भी यदि मानव समाज को ठीक से चलाना हो तो कुछ नियंत्रण तो अपने आप पर लगाना ही होगा । क्योंकि संयम के बिना मनुष्य कभी सुखी बन नहीं सकता ।

आज के युग में दोनों विचार-धाराओं में संघर्ष की स्थिति है । संयम पर अधिक जोर देने वाली विचार धारा और भोगप्रधान विचारधारा के प्रचलन के विषय में गंभीरता से सोचने लगते हैं तो संयम प्रधानविचारधारा से प्रचलित होने में स्थानीय परिस्थिति के हिस्से के बारे में भी चिन्तन करना आवश्यक हो जाता है।

शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति तथा सामाजिक जीवन को सुख एवं सुरक्षित रूप से चलाने के लिये भौतिक साधनों की आवश्यकता रहती है । उनके बिना समाज का धारण, पोषण और रक्षण ठीक से नहीं हो सकता ।

---

१. डा० प्रभाकर माचवे—जैन जगत के परिनिर्वाण विशेषांक पृ० ३३ ।

परन्तु जब कोई समाज अपने बुद्धिकौशल से इन चीजों का उत्पादन जरूरत से अधिक बढ़ा लेता है, तब उस समृद्ध स्थिति से भी समाज में असंतोष पैदा हो जाता है। समाज में सुख, लालसा, या तृष्णा के बढ़ने से असंतोष, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और संघर्ष बढ़ते हैं। फलतः मानव-शक्ति, मानव-जाति को सुखी बनाने की अपेक्षा उसके नाश और अकल्याण की ओर बढ़ती है।

भारत के प्राचीन निावसी बाह्य और भौतिक सुखों की अपेक्षा आत्मिक-सुखों की ओर अधिक ध्यान देते थे। ध्यान और आध्यात्मिक साधना में विश्वास करते थे और शान्ति से अपनाजीवन बिता रहे थे। उनके समय में कला का भी विकास हुआ था। इस नागरिक संस्कृति के नगर काफी व्यवस्थित और सुखदायी प्रतीत होते थे। पर जब बाहर से आये हुए आर्यों के साथ संघर्ष हुआ तो उसमें उनकी पराजय हुई। युद्ध में उनकी पराजय हुई, पर भौतिक सुखों को प्राधान्य देने वाली उनकी संस्कृति पर उन्होंने विजय पाई। दोनों के समन्वय से भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ, जिसके दर्शन हमको उपनिषद् एवं महाभारत काल में होते हैं। भौतिक सुखों की निःसारता समझकर प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग[1] और अहिंसादि गुणों के विकास की ओर वे प्रवृत्त हुये।

भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है। उसमें दोनों विचार पद्धतियों का सामंजस्य है। आज जो हमें समाज में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, ये समस्याएँ किसी एक पक्ष पर अधिक झुकने से उत्पन्न होती हैं। सामाजिक सुख एवं शान्ति के लिये दोनों विचार पद्धतियों का समन्वय करके चलना ही श्रेयस्कर है। किसी एक का ही अवलंबन करना कई समस्याओं को जन्म देता है। अतः एकान्तवाद को छोड़कर समन्वय के प्रयोजक अनेकान्त का अवलम्बन आधुनिक युग में उपयुक्त है।

अंतर्राष्ट्रिय परिवेश में

आज विश्व अनेक गुटों में बंटा हुआ है। खास गुट दो हैं—साम्यवादी और पूँजीवादी। इन दोनों गुटों के मूल में बलवती विचारधाराएँ काम कर रही हैं। पूँजीवादियों ने प्रजातन्त्र को अपनाया है। विश्व में शासन की सबसे अच्छी पद्धति प्रजातन्त्र है। साम्यवादियों का विरोध प्रजातन्त्र से उतना नहीं

---

१. 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला', —गीता।

है, जितना पूँजीवाद से। पूँजीवाद एवं साम्यवाद में सर्प-नेवले सदृश स्वाभाविक विरोध है। कुछ समय से दोनों की अति अथवा एकान्त मान्यता में हानि देखकर कुछ लोगों ने मध्यम मार्ग-समाजवाद निकाला। यह तीसरी विचारधारा उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का समन्वय है। साम्यवाद प्रजातन्त्र में जम नहीं सकता है। दोनों पद्धतियों में पर्याप्त विरोध है। अतः प्रजातन्त्र के ढांचे में जमाने के लिये साम्यवाद को कुछ शिथिल कर उसे मध्य मार्ग तक लाया गया। उसी का नाम समाजवाद है। समाजवाद दोनों पद्धतियों का, दोनों विचारधाराओं का समन्वय है। आज संघर्ष साम्यवाद एवं पूँजीवाद में है। उस संघर्ष को तीव्र रूप न मिल जाय और उसको शिथिल किया जाय, इसलिये समाजवादी राष्ट्रों का एक अलग समूह बन गया है, जो तटस्थ कहलाते हैं। इसको गुट नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये देश गुट बनाने के विरोध में हैं। ये सबसे अच्छे सम्बन्ध कायम रखना चाहते हैं और दोनों के विरोध के शमन का कार्य करते हैं। यह अनैकान्तिक विचारधारा एवं अनैकान्तिक दृष्टिकोण है, जो दोनों के एकान्त को छोड़कर दोनों में सामंजस्य बिठाता है।

आज भयानक से भयानक अस्त्रों का अनुसंधान हो रहा है। कई भयानकतम संहारक अस्त्र बन चुके हैं। उनका निर्माण तेजी से हो रहा है। कई संहारक अस्त्रों का व्यापार हो रहा है, जो कि तेजी पर है। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दंड एवं अमर्यादित बना देता है। प्रभुता की लालसा में एवं भयंकर शस्त्रास्त्रों के मद में विश्व में वह कभी भी भयंकर युद्ध की आग भड़का सकता है। आज यह विचारधारा काम कर रही है कि एक से एक शक्तिशाली शस्त्रास्त्रों का निर्माण करके विज्ञान युद्ध को सदा के लिये समाप्त कर देगा। यह विचार मृग-मरीचिका से कम नहीं है। यद्यपि इस शस्त्र निर्माण की होड़ में शक्ति संतुलन कायम कर दिया है, और युद्ध आगे खिसकता जा रहा है। भयानकतम अस्त्रों के निर्माण ने सभी राष्ट्रों को सशंकित कर दिया है। उनके परिणामों से सभी भयभीत हैं। इसलिये युद्ध को टालना चाहते हैं। भयानकतम शस्त्रास्त्रों के संग्रह के कारण भावी युद्ध मानव जाति का सर्वनाश कर सकता है।

मानव-विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विज्ञान ने संहारक अस्त्र-शस्त्रों का प्रचुरता से निर्माण किया है, मानव ने निहित स्वार्थवश उसका निर्ममता से प्रयोग किया है। फलस्वरूप भयंकर से भयंकर संहारक लीलाएं

देखने को मिली हैं। विश्व का प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध इसका ज्वलंत प्रमाण है। किन्तु प्रत्येक समय यही देखा गया है कि मानव-मन ने उन संहारक शस्त्रास्त्रों से त्रस्त होकर पारस्परिक सहानुभूति सह अस्तित्व के आधार पर ही शान्ति स्थापित की है। 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इस प्रकार अहिंसा एवं सह अस्तित्व के आधार पर जो शान्ति स्थापित की गई, वह बहुत अंशों में स्थायी सिद्ध हुई है। अतः यह निश्चित है कि अहिंसा द्वारा संपादित विजय स्थायी एवं शाश्वत विजय होती है। वैचारिक अहिंसा का नाम अनेकान्त है।

भले ही विज्ञान हमें विपुल परिमाण में शस्त्रास्त्र का कोष प्रदान करें, किन्तु हमें उन शास्त्रास्त्रों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देना चाहिये, किन्तु उन्हें सदा अपने नियंत्रण में रखना चाहिये। शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सुरक्षा एवं शान्ति की रक्षा के लिये मर्यादित होना चाहिये। हर विचार के मूल में हित की भावना मानव कल्याण की भावना का होना बहुत आवश्यक है।

ऐसे विज्ञान अहिंसा का सहचर सिद्ध हो सकता है, संहारक नहीं। मानव पहले—सबसे पहले मानव है, उसके पश्चात् और कुछ—इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये।

विश्व के महान् राजनेताओं ने समय-समय पर विज्ञान-प्रदत्त विपुल एवं भायनक संहारक शस्त्रास्त्रों से संशस्त्र होकर शान्ति का मार्ग अहिंसा एवं अनेकान्त के द्वारा खोजने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस तथ्य को जान लिया है कि शाश्वत शान्ति युद्ध की विभीषिका एवं आणविक शस्त्रास्त्रों के संहारक प्रयोग में नहीं, अपितु एवं सह-अस्तित्व में निहित है।

भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने अहिसा एवं अनेकान्त को अपनी नीति में सदा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका 'पंच-शील' सिद्धान्त का निर्माण इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है। सन् १९६१ में बेलग्रेड में हुआ आणविक विभीषिका के संरक्षणार्थ विश्व के विभिन्न तटस्थ राष्ट्रों का सम्मेलन भी इस दिशा में गौरवपूर्ण प्रयास है। उक्त सम्मेलन में इसी उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—'मानवता खतरे में'—हमें इसी पहलू से सोचना है। याने जो आवश्यक प्रश्न है—उस पर पहले सोचें। यह आवश्यक प्रश्न

है—युद्ध और शांति का। जब विश्व विनाश की ओर बढ़ रहा है, तो दूसरे सब प्रश्न गौण हो जाते हैं।

'श्री नेहरू ने कहा था—'मुझे बड़ा ताज्जुब होता है कि महान् शक्तियाँ इसे इज्जत का सवाल बनाकर अपनी-अपनी बात पर दृढ़ हैं, तथा ये इतनी महान् और शक्तिशाली हैं कि शान्ति वार्ता के लिये तैयार नहीं। मेरा विश्वास है कि यह एक गलत रुख है। इसमें उनकी इज्जत का ही प्रश्न नहीं, बल्कि मानव जाति के भविष्य का भी प्रश्न है।

उक्त सम्मेलन में लंका की प्रधान मंत्री श्री भंडारनायके ने अपनी हार्दिक भावना को व्यक्त करते हुये कहा था—'मैं इस सम्मेलन में भाग लेने केवल अपने राष्ट्र की प्रधान मंत्री की हैसियत से ही नहीं आई हूँ, किन्तु एक स्त्री और माँ की हैसियत से भी·······'।

मैं एक क्षण के लिये भी ऐसा विश्वास नहीं कर सकती कि दुनिया में कोई भी माँ है, जो अपने बच्चों के पारमाणविक सक्रिय धूल के शिकार होने एवं घुल-घुल कर मरने की संभावना पर विचार कर सके।'

सम्मेलन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुये युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने कहा था—'बेलग्रेड-सम्मेलन का उद्देश्य महान् शक्तियों को यह बतला देना है कि विश्व का भाग्य सिर्फ उन्हीं के हाथों में नहीं रह सकता।

इसी प्रकार के एक सम्मेलन में, जो कि क्रेमलिन में रूस की तरफ से आयोजित था, बोलते हुये तत्कालीन रूसी प्रधान मंत्री निकिता ख्रुश्चेव ने ने कहा था—'आंशिक अणुपरीक्षण प्रतिबंध-संधि अंतर्राष्ट्रीय महत्व का आलेख है। किन्तु अणु युद्ध का खतरा समाप्त नहीं हुआ है। जब तक हथियारों के लिये दौड़ जारी रहेगी, तब तक यह खतरा बना रहेगा।'

उक्त अवसर पर अमरीकी विदेश मंत्री डीन रस्क ने कहा था—'यह एक अच्छा पहला कदम है, और यदि इसके अनुगमन में और कदम बढ़े तो मानव का शान्ति के लिये स्वप्न यथार्थ रूप पा सकेगा।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व के महान् शक्तिशाली एवं आणविक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र को अपनी राजनीति में प्रधानतः ऐकान्तिकता के अभाव

को ही स्थान देते हैं। ऐकान्तिक विचारों से विश्वशान्ति को महान् खतरा है। आज तो विरोध छोड़कर दोनों विश्व को समीप लाने वाली एवं दोनों में समन्वय एवं सामंजस्य लाने वाली पंचशील एवं सह अस्तित्व की पद्धति को ही अपनाना पड़ेगा। यह पद्धति अनेकान्त का ही रूप है। आज विवशता से ही सही, विश्व ने इस सिद्धान्त को अपनाया है, क्योंकि इसके बिना मानव जाति के कल्याण का कोई मार्ग नहीं है। आज शक्तिशाली राष्ट्र जब आपस में शान्ति के लिये विचार विनिमय करने के लिये बैठते हैं, तब उनकी वाणी में तर्क एवं सामंजस्य स्थापित करने की भावना होती है, पहले सरीखी आँखों में क्रोध की मशाल नहीं रहती। संसार अपनी जलती हुई देह को क्षीरोदक से शीतल करने के लिये बेचैन है, किन्तु तन को शीतल करने से पहले उसको अपने मन को शीतल करना चाहिये। मन की शीतलता का मार्ग दुराग्रह के त्याग में है, सत्य की राह पर आने में है। सत्य के मार्ग का पथिक किसी भी अवस्था में दुराग्रह या हठ नहीं करता।

आज भयानक रूप से संहारक अणु अस्त्रों की विभीषिका ने बड़ी शक्तियों के विचारों को लचीला बना दिया है। आज एकान्त रूप से अपने विचारों को उन्होंने नहीं पकड़ रखा है, अपितु समन्वय की भावना से दूसरों के विचारों को सुनकर सह अस्तित्व की भावना से मध्यमार्ग ढूंढने में वे संलग्न हैं। अनैकान्तिक दृष्टि से वे इस मार्ग को पाने में अवश्य सफल होंगे। सफलता के लिये इस दृष्टि के सिवाय अन्य कोई दृष्टि उपयोगी नहीं है, यह बात आज कहने की आवश्यकता नहीं है, अपितु सब लोग इसे ठीक रूप से समझ रहे हैं।

अनेकान्त की छाया में विकसित सह-अस्तित्व का सिद्धान्त विश्व शान्ति का सबसे सुगम उपाय एवं श्रेष्ठ पथ माना जा रहा है। इसको अपनाये बिना विश्व शान्ति असंभव है। सह-अस्तित्व का प्रयोजक, विभिन्न विचारधाराओं में भी एकता लाने वाला, विभिन्न विभिन्नताओं में सम रसता उत्पन्न करने वाला अनेकान्त सिद्धान्त विश्व शान्ति के लिये अनिवार्य है।

आज जो विश्व नागरिकता की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उड़ानें ले रही है, 'जय जगत्' का जो उद्घोष समर्थ चिन्तकों की जिह्वा से उच्चरित हो रहा है, उसको मूर्त रूप देना अनेकान्त की भावना के द्वारा ही संभव है।

इसके अतिरिक्त दूसरा कोई आधार ही नहीं है, जो विभिन्न भाषा, विभिन्न रंग, विभिन्न विचार, विभिन्न रहन-सहन, विभिन्न खान-पान, विभिन्न वेष-भूषा के कारण खण्ड-खण्ड हुई मानव जाति की एकरूपता दे सके, उनमें समरसता एवं सामंजस्य स्थापित कर सके।

प्रत्येक मानव के अपने सृजनात्मक स्वातंत्र्य एवं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी को, जो 'विश्व नागरिकता' तथा 'जय जगत्' का मूल आधार है, अहिंसा एवं सह-अस्तित्व की भावना ही दे सकती है, अन्य कोई नहीं। ये दोनों तत्त्व विश्वास के जनक हैं। यह विश्वास परिवार, समाज, राष्ट्र तथा इस क्रम में संपूर्ण विश्व के पारस्परिक सद्भाव, स्नेह और सहयोग का आधार है। ये दोनों तत्त्व—'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्'[1] की ध्वनि को जन-जन के मानस में अनुगुंजित करते हैं। इन तत्त्वों का आधार अनैकान्तिक दृष्टि ही है।

पहले विश्व छोटे-छोटे अंशों में विभक्त था। एक राष्ट्र का कोई कार्य अन्य पर प्रभाव नहीं डाल सकता था, क्योंकि उनमें परस्पर बहुत दूरी थी। आज तो विज्ञान के विकास से वह दूरी खतम हो चुकी है। सारा विश्व एक सूत्र में बंध गया है। सब में बहुत निकटता आ गई है। ऐसी स्थिति में एक राष्ट्र की कोई भी कार्य प्रक्रिया अन्य पर तुरन्त प्रभाव डालती है। इसलिये आज सभी राष्ट्र समग्र विश्व पर नजर रखते हुये बहुत ही सतर्क हैं। इसीलिये विश्व नागरिकता आदि के विचार पनप रहे हैं। सब राष्ट्रों में सामंजस्य, एकरूपता, बंधुत्व की भावना, सह अस्तित्व के विचार, दुराग्रह एवं हठवाद का परित्याग अनिवार्य बन गये हैं। इन सब का आधार है—अनैकान्तिक दृष्टिकोण।

राजनीति के परिवेश में

शासक के सामने कई चीजें, कई बातें, कई समस्याएँ, कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनका यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान का अभिप्राय उनकी गहराई तक पहुँचकर खुले दिमाग से उसमें से वास्तविकता को ढूंढना। उसके पहलुओं से देखना, उसकी वास्तविकता को ढूंढने

१. ऋग्वेद १०।१९१।२।

में सहायक होता है। वास्तविकता को जाने बिना निर्णय गलत ठहरता है, और गलत निर्णय के परिणाम कई वक्त में बड़े भयंकर साबित होते हैं। इस सारी प्रक्रिया में एकान्तवाद, दुराग्रह, पक्षप्रतिबद्धता, हठवाद कहीं नहीं ठहर सकते। इनके रहने से निर्णय वास्तविकता पर आधारित नहीं रह सकते। इसलिये इस सारी विधि में अनेकान्त की प्रक्रिया काम करती है। उसके बिना वास्तविकता का ज्ञान असम्भव है।

शासन की प्रणालियों में अधिनायक तन्त्र ही ऐसी प्रणाली है, जिसमें स्वदेश के शासन में एकान्तवादी प्रक्रिया काम कर सकती है। इनमें एक ही व्यक्ति की आज्ञा काम करती है। इसलिये एकान्तवाद की संभावना उसमें अधिक है। किन्तु इस तंत्र में भी अन्तर्राष्ट्रीय कार्य प्रणाली में एकान्तवाद से काम नहीं चल सकता। अपने देश में एकान्तवादिता से काम चलता है। परन्तु अन्य देशों के साथ सम्बन्ध में या व्यवहार में यह नीति काम नहीं कर सकती। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य देशों की विचारधाराओं का सम्मान भी करना पड़ता है। उसमें से मार्ग निकालकर अपने सम्बन्ध एवम् व्यवहार बनाने पड़ते हैं। अतः अनेकान्तिक दृष्टिकोण यहाँ भी अनिवार्य रूप से उपयोग में लाया ही जाता है।

प्रजातान्त्रिक प्रणाली में तो एकान्तवादिता को स्थान ही नहीं है। न वहाँ दुराग्रह, न हठवाद, न पक्षप्रतिबद्धता, न असहिष्णुता और न अधिकनायकवाद के समान अहंभाव इसमें काम कर सकता है। इसमें तो विरोध में भी अविरोध लाना पड़ता है, भिन्नता में भी एकता के दर्शन करने पड़ते हैं, एवं वैचारिक भिन्नताओं में अभिन्नता देखनी पड़ती है। इसमें विरोधी पक्ष तो शासन का अंग रहता हैं। पारस्परिक विरोध या मतभेद के शमन का मार्ग ढूंढकर एकवाक्यता की स्थापना की जाती है। इसमें परमत सहिष्णुता, समन्वय की भावना, सामंजस्य की स्थापना की इच्छा रखनी पड़ती है। इनके बिना प्रजातंत्र एक दिन भी चल नहीं सकता। दूसरे ओर विरोधी पक्ष की विचारधारा का इसमें सम्मान करना पड़ता है। विभिन्न पक्षों को निकट लाकर उनमें व्यापक देशों के हित एवं कल्याण की भावना को दृष्टि में रखना पड़ता है। यह सब अनेकान्त मूलक समन्वय दृष्टि से ही संभव है। विभिन्न विरोध एव मतभेदों में समन्वय लाने का महान कार्य अनेकान्त की प्रक्रिया से ही संभव है।

अनेकान्त विश्व शान्ति का प्राण है

विचार में अहिंसा को हम अनेकान्त कहते हैं। विचार भेद के कारण ही वादों का जन्म होता है। उसी के कारण संघर्ष होता है। अनेकान्त ने इस संघर्ष की जड़ पर प्रहार किया। वह कहता है—अनेकान्त के द्वारा किसी भी मत, पंथ या सम्प्रदाय में कथित विचारधारा और आचार पद्धति को किसी एक ही दृष्टिकोण से न देखकर, उसकी दृष्टि एवं उसकी अपेक्षा से भी देखो। जब व्यक्ति दूसरे के वाद व अन्य की विचारधारा पर शान्तिपूर्वक सहिष्णुता से व्यवहार करता है, तो विरोध का शमन या कमी स्वतः ही हो जाती है। समन्वय दृष्टि में संघर्ष खतम हो जाता है। एकान्त कदाग्रह सत्य नहीं कहा जा सकता। कोई भी विचार तभी पूर्ण सत्य कहा जा सकता है, जब कि उसे सभी पहलुओं से जाँचा परखा न जाय। उसी तथ्य एवं सत्य का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्त किसी भी वाद का विरोध नहीं करता। वह तो समन्वय दृष्टि से सबमें सत्य के अंश का दर्शन करता है।

विश्व शान्ति में एकान्तवाद, दुराग्रह एवं हठवाद खतरा उपस्थित करते हैं। यदि विरोधी का कथन भी सहिष्णुतापूर्वक सुना जाय एवं उसकी बात में भी सत्यांश का दर्शन किया जाय, तो फिर विरोध पैदा होने का कोई कारण ही नहीं। दोनों विचारधाराओं के बीच का मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है, जहाँ आकर दोनों में समन्वय या सामंजस्य स्थापित हो जाता है। समन्वय में विरोध भावना रहती ही नहीं है। अतः संघर्ष का कोई कारण नहीं रहता। ऐसी स्थिति में विश्व शान्ति सरलता से कायम रहती है। अनेकान्त के बिना विश्व शान्ति सम्भव नहीं है।

अनेकान्त प्रजातंत्र का प्राण है

इसी प्रकार प्रजातन्त्र में विरोध पक्ष शासन का अंग रहता है। उसका तिरस्कार कर उसे दूर नहीं फेंक दिया जाता है। उसकी बात सुनकर और फिर रास्ता निकालकर कार्य किया जाता है। विरोध में भी एकता कायम की जाती है। विरोध पक्ष नहीं रहे तो शासन निरंकुश हो जाता है। निरंकुश शासन प्रजा का उत्पीड़क बन जाता है। इसलिये विरोधपक्ष में एकता कायम करके शासन चलाया जाता है। अनेकान्त के बिना प्रजातन्त्र चल ही नहीं

सकता । समन्वय, विरोध में भी एकता, सहिष्णुता ये धर्म अनेकान्त से ही आते हैं । अतः प्रजातन्त्र में अनेकान्त की अनिवार्य आवश्यकता है ।

विश्व में कोई भी कार्य हो, शासन हो, जनता हो, समाज हो, अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र हो, हर जगह सभी व्यवहारों में अनेकान्त की बहुत आवश्यकता होती है । कोई भी व्यवहार अनेकान्त के बिना सफलतापूर्वक नहीं चल सकता । आचार्य सिद्धसेन ने सच ही कहा है—

'जेण विणा लोयस्सवि विवहारो सव्वहान निव्वडई
तस्य भुवणेवकगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ।'[1]

जिसके बिना लोक के सभी व्यवहार का सर्वथा निर्वाह नहीं हो सकता, त्रिभुवन के एकमात्र गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार है ।

अन्त में अनेकान्त की व्यावहारिक उपयोगिता के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिन्तक काका कालेलकर का उन्हीं के शब्दों में सुन्दर कथन उद्धृत करता हूँ—

'अहिंसा धर्म का एक उज्ज्वल रूप हैं 'अनेकान्तवाद' । इसकी तात्त्विक, दार्शनिक और तार्किक चर्चा बहुत हो चुकी है । इसमें अब किसी को दिलचस्पी नहीं है । लेकिन सांस्कृतिक क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में, अन्तर्राज्यीय क्षेत्र में, रंग में और गोरे, काले, पीले, लाल या गेहूँ वर्णी भिन्न-भिन्न वर्णों के सम्बन्ध के बारे में अगर हम समन्वयवाद को चलावेंगे और अनेकान्तवाद को नया रूप देंगे तो अनेकान्त संस्कृति फिर से सजीव एवं तेजस्वी बनेगी । अगर इस क्षेत्र में जैन समाज ने कुछ पुरुषार्थ करके दिखलाया तो बिना कहे दुनिया भर के मनीषी अनेकान्त शास्त्रों का अध्ययन करेंगे और जिसे नव प्रेरणा का उद्गम कहा है, उसे ढूँढेंगे ।'[2]

संक्षेप में अनेकान्त सिद्धान्त विश्व के समस्त दर्शनों धर्मों, सम्प्रदायों, मतों, पन्थों और वादों का समन्वय करता है । यह विश्व को बतलाता है कि विश्व के

---

१. सन्मति तर्क कां ३ गा० ६९ पृ० ७५६ ।

२. अमर भारती निर्वाण विशेषांक पृ० १३६-१३७ ।

सभी धर्मों में जहाँ कहीं भी सत्यांश है, उसका आदर करो और जो असत्यांश है, उसको लेकर किसी से घृणा या द्वेष न करो। क्योंकि घृणा आध्यात्मिक जीवन का सर्वोपरि शत्रु है। इसी से क्लेश, मनोमालिन्य और वैर विरोध की भावना जन्म लेती है। इस तरह अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर यदि मानव गुणग्राही बन जाय और दोषदृष्टि छोड़ दे तो विश्व का कायाकल्प हो सकता है।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद का महत्त्व एवं उपयोगिता

पिछले अध्यायों में अनेकान्तवाद के विषय में उसकी विभिन्न बातों पर प्रकाश डाला गया है। उन सबके ऊपर यदि एक साथ विचार किया जाय तो कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। उनसे यह भी अनुमान लग सकता है कि भविष्य में अनेकान्त की विचारधारा का प्रवाह किधर रहेगा। यह तो स्पष्ट है कि दर्शन देश काल की परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों में सतत विकसित होता रहता है। विकासवादी सिद्धान्तों से इतना निष्कर्ष तो सहज ही निकाला जा सकता है कि मानवीय क्षमतायें और उसकी शक्ति के स्रोत समय के साथ बढ़ते जा रहे हैं। ज्ञान भी समष्टि रूप में गहन और विस्तृत होता जा रहा है। विज्ञान के नित्य नवीन अनुसंधान प्रकृति के नियमों का रहस्य खोलते जा रहे हैं। मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान के प्रयोग मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों की सम्भावना बढ़ाते जा रहे हैं। इन सभी दिशाओं में बढ़ता हुआ हमारा ज्ञान दर्शन को अधिक उदार और पारगामी बनाता जा रहा है।

आज चिन्तन की और विचार की शैली एवं पद्धति में भी बड़ा परिवर्तन हुआ है। इनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण आ गया है। खंडन-मंडन, तथा उसमें विरोध एवं रागद्वेष की भावनाएँ कम होती जा रही हैं। उनकी जगह एकता के बिन्दु, सहिष्णुता, समता, उदारता आदि गुण धीरे-धीरे आते जा रहे हैं, अथवा लाने की अकांक्षा है। आज विश्व में, देश में समाज में व साहित्य में ऐसे चिन्तन की आवश्यकता नहीं है, जो हमें भिन्न-भिन्न करके विखेर दे। आज तो सर्वत्र ऐसे चिन्तन एवं विचारों की आवश्यकता है कि जो अलग

व्यक्तियों को जोड़ दे, उनमें एकता की धारा प्रवाहित कर दे। और उसमें समरसरता, समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित कर दे। इसी प्रकार के चिन्तन एवं विचारों से विश्व, देश, समाज एवं हम जीवित रह सकते हैं। जीवन में और उसके विकास में सबको परस्पर सहयोग की आवश्यकता है। यह सब कार्य अनेकान्त के दृष्टिकोण से ही संभव है। अनेकान्त इन कार्यों को सफलता के साथ कर सकता है। विभिन्नता में एकता, समरसता, सहिष्णुता, सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित कर सकता है। आज के युग में तो इसकी बहुत आवश्यकता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार में प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक मालूम होती है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि यदि किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान करना है तो उसे अनेक पहलुओं से देखना होगा। एक पहलू से देखने से वस्तु के एक पहलू का ही ज्ञान होता है। जैसे एक तरफ से किसी प्रासाद का चित्र लिया तो वह चित्र प्रासाद का एक तरफ का ही ज्ञान करावेगा, दूसरा अंश आँखों से अछूता रह जायगा। चारों तरफ से चित्र लिये जाने पर ही मकान का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। यह निरीक्षण बाह्य दृष्टि से हुआ। बाहर के सब रूपों का ज्ञान होने पर भी प्रासाद के अंतरंग के ज्ञान से हम वंचित रहेंगे। अतः प्रासाद के भीतर भी प्रत्येक हिस्से का चित्र लेना होगा। तभी उसका अंतरंग का भी यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इतने पर भी उसकी बनावट का ज्ञान हमारा शून्य ही है। जब तक हम उसकी बनावट के अंतरंग का ज्ञान पूरी तरह से नहीं कर लें, तब तक उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

एक वस्तु-प्रासाद के यथार्थ और पूर्ण ज्ञान के लिये हमें कितनी तरफ से अलग-अलग दृष्टिकोण से कितने चित्र लेना पड़े? बिना इसके प्रासाद का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान होना असंभव है, इसी तरह विश्व की प्रत्येक वस्तु को ले लीजिये, जब तक हम उनको विभिन्न अनेक दृष्टि बिन्दुओं से और अनेक पहलुओं से सूक्ष्म निरीक्षण नहीं करते, तब तक उस वस्तु का पूर्ण और यथार्थ ज्ञान होना असंभव है। वस्तु के यथार्थ रूप से पूर्ण ज्ञान के लिये उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखने की इसी प्रक्रिया का नाम अनेकान्तवाद है।

विश्व के चिन्तन की प्रक्रिया में कई उलझनें और समस्याएँ उपस्थित होती

रहती हैं, वे ऐकान्तिक दृष्टिकोण से ही पैदा होती हैं, उन उलझनों को दूर करने के लिये, उन समस्याओं का हल निकालने के लिये अनेकान्तवाद की प्रक्रिया को अपनाने के सिवाय हमारे पास अन्य कोई मार्ग नहीं है।

उपर्युक्त वर्णित दिशा से वस्तु अपने में रहने वाले अनेक या अनन्त धर्मों के कारण ही अनेकान्तात्मक या अनन्तधर्मात्मक कही जाती है। उन धर्मों में से व्यक्ति अपने इष्ट धर्मों को समय-समय पर कथन करता है। वस्तु में कथन किये जा सकने वाले वे सभी धर्म वस्तु के अन्दर विद्यमान हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि व्यक्ति अपनी इच्छा से उन-उन धर्मों को पदार्थ पर आरोपित करता है।

ऐसी स्थिति में किसी एक दृष्टि से वस्तु एक प्रकार की कही जा सकती है, और दूसरी दृष्टि से वस्तु का कथन दूसरे प्रकार से हो सकता है। यद्यपि वस्तु में वे सब धर्म हैं, किन्तु इस समय हमारा दृष्टिकोण—हमारी नजर अमुक धर्म की ओर है, इसलिये वस्तु एतद्रूप ज्ञात हो रही है। वस्तु केवल इस रूप में ही नहीं है, वह अन्य रूप में भी है, इस सत्य को व्यक्त करने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से ही हमारा वचन स्याद्वाद कहलाता है। स्यात् पूर्वक वाद—स्याद्वाद है। इसीलिये यह कहा जाता है कि अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन स्याद्वाद है।

स्याद्वाद को अनेकान्तवाद कहने का कारण यह है कि स्याद्वाद से जिस पदार्थ का कथन होता है, वह अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त अर्थ का कथन स्याद्वाद है। 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है। इसलिये स्याद्वाद को अनेकान्तवाद कह सकते हैं। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही है। स्याद्वाद में स्यात् शब्द की प्रधानता है, और अनेकान्तवाद में अनेकान्त धर्म की मुख्यता है। 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक है। अनेकान्त को अभिव्यक्त करने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रंथों में इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। इस प्रयोग के पीछे जो हेतु रहा है, वह है वस्तु की अनेकान्तात्मकता। यह अनेकान्तात्मकता अनेकान्त शब्द से प्रकट होती है और स्याद्वाद शब्द से भी। वैसे देखा जाय तो स्याद्वाद शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन मालूम होता है, क्योंकि आगमों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग अधिक देखने में आता है। उसमें

वस्तु की अनेकरूपता का प्रतिपादन करने के लिये 'सिय' अथवा 'सिया' (स्यात्) शब्द का प्रयोग किया हुआ है।

यद्यपि अनेकान्तवाद स्याद्वाद का स्थूलतः पर्यायवाची शब्द कहा जाता है, फिर भी दोनों में अन्तर भी यह है कि स्याद्वाद भाषा दोष से बचाता है, और अनेकान्तवाद चिन्तन को निर्दोष घोषित करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद पूर्वक स्याद्वाद होता है, क्योंकि निर्दुष्ट चिन्तन के बिना दोषमुक्त भाषा का प्रयोग सम्यग् रीति से नहीं हो सकता। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है, जिसके माध्यम से दूसरे दृष्टिकोण का समादर किया जाता है।

यदि पदार्थ के स्वभाव को समझना है, और ज्ञान का यथार्थ मूल्यांकन करना है तो अनेकान्तमयी स्याद्वाद दृष्टि को अपनाना चाहिये। क्योंकि साधारण मनुष्य की शक्ति अत्यल्प है और बुद्धि परिमित है। ऐसी स्थिति में बहुत प्रयत्न करने पर भी हम ब्रह्माण्ड के असंख्य पदार्थों का ज्ञान करने में असमर्थ रहते हैं। स्याद्वाद यही प्रतिपादन करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता है। इसलिये हमारा ज्ञान आपेक्षिक सत्य है। पदार्थों के अनन्त धर्मों में से हम एक समय में कुछ धर्मों का ही ज्ञान कर सकते हैं, और दूसरों के समक्ष भी कुछ धर्मों का प्रतिपादन कर सकते हैं।

स्याद्वाद की शैली सहानुभूतिमय है। इसलिये उसमें समन्वय की क्षमता है। उसकी मौलिकता यही है कि अन्य वादों को वह उदारता के साथ स्वीकार करता है, लेकिन उनको उसी रूप में नहीं, उनके साथ रहने वाले आग्रह के अंशों को छोड़कर उन्हें वह अपना अंग बनाता है। स्याद्वाद दुराग्रह के लिये नहीं, किन्तु ऐसे आग्रह के लिये संकेत करता है, जिसमें सम्यक् ज्ञान के लिये आवकाश हो।

'जैन दर्शन' के परिशीलन, चिन्तन और मनन के अभाव में अन्य दर्शनों का अध्ययन अपूर्ण ही रह जाता है। वह इसलिये कि जैन दर्शन में आकर अन्य दर्शनों के समस्त मतभेद अनेकान्तवाद के कारण विलुप्त हो जाते हैं। जैन दर्शन का अपना एक ही दृष्टिकोण है। विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों में प्रच्छन्न सत्य को वह प्रकट कर देता है। अन्य दर्शनों में दोष-दर्शन करना ही मुख्य नहीं है, किन्तु दार्शनिक मतभेदों के बीच मतैक्य कहाँ है? और वह मतभेद दूर

कैसे हो सकता है—इस तथ्य का अनुसंधान ही जैन दर्शन का अपना मुख्य विषय है। विभिन्न दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की, जो आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है, पूर्ति आज से ढ़ाई हजार वर्षों से जैन दर्शन निरन्तर करता चला आया है।

बौद्धिक स्तर में इस सिद्धान्त को मान लेने से मनुष्य के नैतिक और लौकिक व्यवहार में एक महत्त्व का परिवर्तन आ जाता है। चारित्र ही मानव जीवन का सार है। चारित्र के लिये मौलिक आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एक ओर तो अपने को अभिमान् से पृथक् रखे, साथ ही हीन भावना से अपने को बचावे। स्पष्टतः यह मार्ग कठिन है। वास्तविक अर्थों में जो अपने स्वरूप को समझता है, दूसरे शब्दों में आत्मसम्मान करता है और साथ ही दूसरे के व्यक्तित्व को भी उतना ही सम्मान देता है, वही उपर्युक्त दुष्कर मार्ग का अनुगामी बन सकता है। इसीलिये समग्र नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। अनेकान्त दर्शन का अत्यन्त महत्व इसी सिद्धान्त के आधार पर है कि उसमें व्यक्तित्व का सम्मान निहित है।

जहाँ व्यक्तित्व का समादर होता है, वहाँ स्वभावतः साम्प्रदायिक संकीर्णता, संघर्ष या किसी भी छल, जाति, जल्प, वितण्डा आदि सदृश असदुपाय से वादि पराजय की प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवन में भी खंडन के स्थान पर समन्वयात्मक निर्माण की प्रवृत्ति ही रहती है। साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का महान् आदर्श भी उक्त सिद्धान्त के साथ ही रह सकता है। इस प्रकार अनेकान्तवाद नैतिक उत्कर्ष के साथ-साथ व्यवहार शुद्धि के लिये भी अनेकान्त दर्शन की एक महान् देन है।

विचार जगत् का अनेकान्तवाद ही नैतिक जगत में आकर अहिंसा के व्यापक सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। इसीलिये जहाँ अन्य दर्शनों में परमत खंडन पर बड़ा बल दिया गया है, वहाँ जैन दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर वस्तुस्थिति मूलक विभिन्न मतों का समन्वय रहा है। आजकल के जगत की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि अपने-अपने परम्परागत वैशिष्ट्य को रखते हुये भी विभिन्न मनुष्य जातियाँ एक दूसरे के समीप आवें और उनमें एक व्यापक मानवता की दृष्टि का विकास हो। अनेकान्त सिद्धान्तमूलक समन्वय की दृष्टि से ही यह हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि न केवल भारतीय दर्शन के विकास का अनुगमन करने के लिये, अपितु भारतीय संस्कृति के स्वरूप के उत्तरोत्तर विकास को समझने के लिये भी अनेकान्तदर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचार-धारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमत सहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में अनेकान्त दर्शन और अनेकान्त विचारधारा की जो देन है, उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।[1]

अनेकान्तवाद केवल वाद-विवाद की या जबानी जमा खर्च की वस्तु नहीं है। एक तरह से अनेकान्तवाद भी संविभाग है। वैचारिक संविभाग अनेकान्त-वाद है। हम एक दूसरे के विचारों का लेन देन अच्छी तरह से करें, दूसरों की बात को भी हम अच्छी तरह आदर से ग्रहण करें और अपनी बात को भी अच्छी तरह दूसरों को समझावें। इससे भिन्न अनेकान्तवाद क्या वस्तु है ? यदि यह अनेकान्तवाद हमारे सम्प्रदायों, समाजों और देशों के पारस्परिक विचार संघर्ष की गुत्थी को न सुलझा सके तो फिर उसका उपयोग क्या है ? किसी भी जाति एवं धर्म परम्परा के हम हों, एक दूसरे की बात को मैत्री भाव से सुनें, दूसरे यदि चाहें तो अपने विचार उन्हें देवें, और हमको अपेक्षा हो तो हम उनके विचारों को ग्रहण करें। इस प्रकार विचारों में भी संविभाग होना चाहिये। यदि हम विचारों के मामले में अपनी बुद्धि के द्वार बन्द कर लें, बड़ी सावधानी रखें कि ज्ञान का प्रकाश कहीं से भी आ न जावे, किसी भी पक्ष, किसी भी सम्प्रदाय, किसी भी व्यक्ति का वैचारिक प्रकाश हम तक पहुँचे नहीं, तो हम अनेकान्तवाद को मानने वाले नहीं कहला सकते। अनेकान्तवाद मानने वाला तो अपने दिमाग को खुला रखेगा।

आज विश्व में अन्तर्राष्ट्रिय क्षितिज में वैचारिक तनाव बहुत अधिक है। अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में प्रधानतया दो विचारधाराएँ हैं—एक साम्यवाद और दूसरा पूँजीवाद। वास्तव में साम्यवाद की विरोधी धारा पूँजीवाद है। पूँजीवादी देशों ने प्रजातन्त्र को अपना रखा है। यदि वे पूँजीवादी होकर अधिनायकतंत्र

---

१. डा० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० (आक्सन) प्रिन्सीपल गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस, जैन दर्शन के प्राक्कथन में—पृ० ६ से १४ तक।

अपनाते तो दोष एकत्रिक होने पर जनता में उसकी प्रतिक्रिया बहुत तीव्र होती, और वे अधिक समय तक अधिनायक तंत्र को नहीं रख सकते। कई देशों में अधिनायक तन्त्र के उदाहरण हम देख चुके हैं और उनके अधिनायकों का पतन भी हमने देखा है। इसलिये पूँजीवाद के लिये अधिक सुरक्षित मार्ग प्रजातन्त्र का है।

बहुत समय से इन दोनों प्रकार के राष्ट्रों में काफी तनाव है। कई बार संघर्ष के अवसर आ चुके हैं। लेकिन दोनों के पास भयङ्करतम संहार करनेवाले अस्त्र एवं शस्त्र हैं। इसलिये दोनों ही संघर्ष से कतराते हैं और युद्ध से दूर रहकर सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। भयंकरतम संहारक अस्त्र शस्त्र वाले युग में सहअस्तित्व, सहिष्णुता और वैचारिक उदारता की अनिवार्य आवश्यकता है। यही दोनों देश कर रहे हैं और सहअस्तित्व का मार्ग ढूँढ़ते जा रहे हैं।

ऐसे समय में अनेकान्तवाद की आवश्यकता सर्वोपरि है। इसी के बल से दोनों विचारधारा वाले देश अभी तक शान्ति कायम कर पाये हैं। आज के युग में अनेकान्त की भूमिका बहुत मूल्य रखती है। विश्व में विश्व शान्ति कायम रहना है तो अनेकान्त से ही यह रह सकती है। अत्यन्त विरोधी विचार धारा वाले देश भी भयङ्कर शस्त्रास्त्रों के डर से ही, सहअस्तित्व की बात कर रहे हैं। यह अनेकान्त का ही राजमार्ग है, जहाँ दोनों देश मिलकर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इसी प्रकार समाज में और हमारे देश में भी अनेकान्त की विचारधारा एवं अनेकान्तिक दृष्टिकोण की अधिक आवश्यकता है। समाज में और हमारे देश में विभिन्न धर्म, विभिन्न जाति, विभिन्न भाषा के लोग रहते हैं। यदि उन विभिन्नताओं में एकता का सूत्र न रहे तो समाज में और देश में शान्ति कायम रहना कठिनतम हो जाता है। यह एकता का सूत्र कायम रखना अनेकान्त दृष्टि से ही हो सकता है। विभिन्नता में एकता रखना अनेकान्त का ही कार्य है। इस एकता के बल पर ही देश विकसित होता है।

भारत में आज तक पारस्परिक संघर्ष हुए हैं, उनमें धार्मिकता की अंध श्रद्धा अधिक प्रेरक रही है। यदि इस क्षेत्र में भी अनेकान्त की भावना आ जाय

तो भविष्य में कभी भी इस प्रकार के संघर्ष होने की नौबत न आ सके। अनेकान्त केवल दार्शनिक चिन्तन एवं कथन की प्रणाली ही नहीं है, अपितु प्रतिदिन जीवन व्यवहार में भी हम अनेकान्त का प्रायोगिक रूप देख सकते हैं, और उसके कथन के अनुरूप कार्य प्रवृत्ति भी देखते हैं। अनेकान्तवाद स्वस्थ चिन्तन की प्रक्रिया के साथ-साथ स्वस्थ आचार की भी प्राथमिक भूमिका है।

जैन दर्शन की विश्व को बड़ी भारी देन अहिंसावाद है, जो कि वास्तव में दार्शनिक भित्ति पर स्थापित अनेकान्तवाद का ही नैतिक शास्त्र की दृष्टि से अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक दृष्टि से यदि अहिंसावाद को ही सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो तो हम अनेकान्तवाद को ही उसका दार्शनिक दृष्टि से अनुवाद कह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि दोनों में निकट सम्बन्ध है।

एक साधारण मनुष्य किसी की जान लेने को ही हिंसा कहेगा। किसी के भावों को आघात पहुँचाने को वह हिंसा नहीं कहेगा, परन्तु एक सभ्य पुरुष तो विरुद्ध विचारों की असहिष्णुता को भी हिंसा ही कहेगा।

विचारों की संकीर्णता या असहिष्णुता ईर्ष्या-द्वेष की जननी है। इस असहिष्णुता को हम किसी अंधकार से कम नहीं समझते। आज जो विश्व में अशांति है, उसका मुख्य कारण यही विचारों की संकीर्णता है। इस संकीर्णता को अनेकान्तवाद मिटाता है।

इन विचारों के प्रकाश में देखा जाय तो अनेकान्तवाद विभिन्न राष्ट्रों के तनाव को कम कर सकता है, और वे शान्ति से सह अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करते हुए पारस्परिक तनावों को भी कम कर सकते हैं।

विरोधी तर्कों में प्रधान तर्क है—

विरोध, संदेह,

एक ही वस्तु में भाव और अभाव परस्पर विरोधी धर्म नहीं रह सकते हैं। जैसे साँप और नेवला, व्याघ्र और बकरी आदि। साँप और नेवले में परस्पर स्वाभाविक विरोध है। व्याघ्र और बकरी में भी भक्ष्य-भक्षक भाव होने से विरोध है। दोनों का एक जगह रहना असम्भव है। उसी प्रकार एक

ही वस्तु में सत्त्व और असत्त्व नहीं रह सकते हैं, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं।

परस्पर विरोधी धर्म एक स्थान पर रहें, तो सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि वस्तु का स्वभाव भावात्मक है या अभावात्मक है।

ये दो तर्क प्रधान हैं। अवशिष्ट तर्क इन्हीं से सम्बन्ध रखने वाले हैं या अप्रधान हैं।

जहाँ तक भाव और अभाव का सवाल है, इनका एक जगह रहना और न रहना सापेक्ष है। इनका विरोध भी सापेक्ष है। दोनों की एक जगह सापेक्ष सत्ता में विरोध नहीं रहता। इस सिद्धान्त को अनेकान्त में विरोध बताने वाले अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं और उसके उदाहरण उनके दर्शनों में मिलते हैं। जैसे संयोग और संयोगाभाव दोनों सापेक्ष विरोधी हैं। एक ही वृक्ष में वानर का संयोग और संयोगाभाव दोनों रहते हैं। इसमें न्याय और वैशेषिक दर्शन विरोध नहीं देखते। शाखावच्छेद से संयोग है, मूलावच्छेद से उसका अभाव भी उसी वृक्ष में है। एकाधिकरण में संयोग और संयोगाभाव दोनों ही रहते हैं और उनमें विरोध नहीं माना जाता। उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्व एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से रहने में कोई विरोध नहीं है। जैसे मनुष्य में सत्त्व और असत्त्व दोनों रहते हैं। हम व्यवहार में देखते हैं, मनुष्य मनुष्य है, पशु नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य मनुष्यता की अपेक्षा से है और पशुता की अपेक्षा से नहीं है। यदि पशुता की अपेक्षा से भी मनुष्य है तो मनुष्य पशु हो जायगा। यदि हम पूछें कि मनुष्य पशु है, तो कोई भी व्यक्ति नहीं कह सकता है कि मनुष्य पशु है। सभी यही कहेंगे कि मनुष्य पशु नहीं है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से इस वाक्य का अर्थ करें तो यह अर्थ हुआ कि पशुप्रतियोगिक अभाव याने पशुता का अभाव मनुष्य में है। मनुष्य मनुष्य है, अर्थात् मनुष्य में मनुष्यता का अस्तित्व है। इस प्रकार अपेक्षा से मनुष्य में सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म रहते ही हैं। जब ये दोनों धर्म एक ही वस्तु में हमारे अनुभव में निरन्तर आते हैं, तो अनुभव सिद्ध वस्तु में विरोध कैसा? इस तर्क से अन्य दर्शनकार भी सहमत हैं। अतः अनेकान्तवाद में विरोध नामक दोष की सम्भावना नहीं है।

दूसरा विरोधी तर्क सन्देह का है। सन्देह में दोनों कोटि प्रधान रहती है।

जैसे रस्सी को देखकर साँप का सन्देह होना। रस्सी है या साँप है। इन दोनों कोटि में अनिश्चय रहता है। इसलिये सन्देह है। अनेकान्त में दोनों (भाव एवं अभाव) धर्मों में अनिश्चय नहीं है। उसमें दोनों धर्म निश्चित ही हैं। वस्तु में भाव एवं अभाव दोनों हैं ही। इसमें सन्देह की कोई भी गुंजाइश नहीं है।

विभिन्न दर्शनों में अनेकान्त दृष्टि-समीक्षा

विभिन्न दर्शनकारों ने जहाँ-जहाँ अनेकान्त दृष्टि अपनाई है, उन स्थलों का उदाहरण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं पर वस्तुस्थिति, कहीं-कहीं पर सिद्धान्त, तथा कहीं-कहीं पर समस्याएँ ऐसी आती हैं कि अनेकान्त के दृष्टि-कोण को माने बिना काम ही नहीं चलता। हम यह निषेध कैसे कर सकते हैं कि भाव एवं अभाव परस्पर विरोधी हैं, इसलिये वे एक ही अधिकरण या आधार या वस्तु में नहीं रह सकते हैं। वस्तुस्थिति हमारी इच्छा से नहीं रहती। अतः यह मानना पड़ता है, और न्याय एवं वैशेषिक दर्शन ने इसे माना है। दोनों ही दर्शन क्यों ? सभी दर्शनों को यह मानना ही पड़ेगा। वस्तु स्थिति से आँख बन्द करें तो नहीं चला जा सकता।

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं और परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं। लेकिन एक ही प्रकृति में ये रहते हैं। यह सिद्धान्त है। इसको अन्यथा कर सकना सांख्य दर्शन की शक्ति के बाहर है। अतः विवश होकर भी मानना पड़ता है और मान लिया गया है।

द्वैत और भेदाभेदवादी वेदान्त को भी इस दृष्टिकोण को अपनाये बिना गति नहीं है। वे इसको मानकर ही अपने सिद्धान्त का विवेचन कर सकते हैं और करते हैं। यह भी सिद्धान्त का मामला हुआ। यहाँ समस्यायें भी ऐसी खड़ी होती हैं कि उनका हल इस दृष्टिकोण को अपनाये बिना नहीं निकल सकता।

चित्ररूप में एक रंग भी है और अनेक रंग भी है। कहा यह जाता है कि एक ही चित्र रूप है। अनेक रूप रहते हुये भी चित्ररूप को एक कहना अनेकान्त के दृष्टिकोण को अपनाने से हो सकता है।

निंबार्क व्यास भाष्य के टीकाकार श्री निवासाचार्य तो इस विरोधाभास

से यह कहकर अपना बचाव कर लेते हैं कि जगत और ब्रह्म के भेदाभेद स्वाभाविक है और श्रुति तथा स्मृति से साधित है, फिर विरोध कैसा ?

विज्ञानभिक्षु, श्री कंठाचार्य आदि उपाधि भेद से इस दृष्टिकोण को अपनाते हैं। वे कहते हैं—'हमारे मत में आ जाइये फिर विरोध नहीं होगा' यह कथन यथार्थ से बलात् मुँह मोड़ना है। सभी अनेकान्त दृष्टिकोण को अपनाते जा रहे हैं और अनेकान्तवाद का विरोध करते हैं। इस नाम से ही यदि विरोध हो तो यह नाम छोड़ दिया जाय। नाम से कोई अर्थ नहीं। अपेक्षा तो इस दृष्टिकोण से है, जिसको सभी दर्शनकार किसी न किसी रूप में अपनाते हैं। भावार्थ यह है कि सत्य कहने का साहस नहीं, केवल विरोध के नाम पर विरोध करना दर्शन क्षेत्र में या व्यवहार में या अन्य किन्हीं भी क्षेत्रों में उचित नहीं कहा जा सकता।

विभिन्न दर्शनकार तत्त्वों के निरूपण में अनजाने ही अनेकान्त की प्रक्रिया को अपनाते हुये अनुभव में आते हैं, तो फिर जैन दर्शन अनेकान्त की प्रक्रिया को अपनाता है तो उसका क्या अपराध है कि अन्य दर्शनकार उसका विरोध करें। बात सिर्फ इतनी ही विशेष है कि अन्य दर्शनकार अनेकान्त का नाम न लेकर अथवा प्रत्यक्ष में अनेकान्त का विरोध कर चुपचाप अनेकान्त की प्रक्रिया को अपनाते हैं और जैन दर्शनकार कहकर अनेकान्त की प्रक्रिया को अपनाता है।

अन्य दर्शनकार भी अनेकान्त की प्रक्रिया को अपनाते हैं तो उनको प्रकटरूप से उसी अनेकान्त की प्रक्रिया को अपनाने के कारण जैनदर्शन का विरोध नहीं करना चाहिये, क्योंकि अन्य दर्शनकारों ने भी एकानेक रूप वस्तु के स्वरूप को मान लिया है।

अनेकान्त द्वारा समन्वय दृष्टि

दर्शन क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, राजनीति के जगत् में, समाज में—प्रत्येक जगह समन्वय दृष्टि अत्यधिक उपयोगी है। उसीसे सारे काम चल सकते हैं, अन्यथा कदम-कदम पर अनेक समस्याएं उठ खड़ी हों और हमारा कदम एक कदम भी आगे न बढ़ सके। इसका विवेचन कई स्थानों पर किया गया है। समन्वय, सहअस्तित्व, सहिष्णुता—ये एक ही वस्तु के

विभिन्न नाम हैं। तात्पर्य तीनों में एक ही है। इनका प्रेरक या प्रयोजक अनेकान्त की मान्यता है। अपनी बात पर हम अड़े रहें, एक ही विचारधारा को मजबूती से पकड़ कर रखें तो समन्वय एवं सहअस्तित्व रह नहीं सकेंगे। उनकी कल्पना भी फिर असम्भव है। समन्वय एवं सहअस्तित्व के लिए हमको अपनी विचारधारा, हमारी मान्यता आदि में कुछ लचीलापन लाना ही पड़ेगा, जिससे दूसरे की बात को सुनकर उसमें के यथार्थ को भी हम प्रत्यक्ष कर सकें। बिना इसके सहअस्तित्व रह नहीं सकता। यह जो लचीलापन आवश्यक है, वह अनेकान्त के दृष्टिकोंण से ही आता है। अनेकान्त दर्शन ने अनेकान्त के अङ्ग नयवाद के द्वारा काफी झगड़े सुलझा लिये। नय का मतलब है एकांगी दृष्टिकोंण।

यह बताया गया है कि मूल रूप से दो नय हैं–द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक। सभी नयों का समावेश इन दोनों नयों में हो जाता है। जहाँ दृष्टि द्रव्य, सामान्य अथवा अभेदमूलक होती है, वहाँ द्रव्यार्थिक नय काम करता है। जहाँ दृष्टि पर्याय विशेष अथवा भेदमूलक होती है, वहाँ पर्यायार्थिक नय कार्य करता है। हम प्रत्येक तत्त्व का इन दो दृष्टियों में विभाजन कर सकते हैं। तत्त्व का कोई भी पहलू इन दो दृष्टियों का उल्लंघन नहीं कर सकता अर्थात् या तो वह सामान्यात्मक होगा, या विशेषात्मक। इन दोनों दृष्टियों को छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता। आचार्य सिद्धसेन ने देखा कि दार्शनिक जगत् में जितना भी झगड़ा होता है, वह इन दो दृष्टियों के कारण ही होता है। कोई दार्शनिक द्रव्यार्थिक दृष्टि को ही सब कुछ मान लेता है तो दूसरा पर्यायार्थिक दृष्टि को ही अन्तिम सत्य समझ बैठता है। इन दोनों दृष्टियों का एकान्त आग्रह ही सारे क्लेश का मूल है। अनेकान्त दृष्टि दोनों का समान रूप से सम्मान करती है[1]। इस प्रकार की दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है।

इस प्रकार कार्य कारण भाव का जो झगड़ा है, वह भी अनेकान्तवाद की

---

१. जेसंतवायदोसे सक्कोल्लु या भणंति सरवाणं
संखाय असव्वाए तेसि सव्वेवि ते सच्चा
तेउ भयण भणीया सम्मदंसण मणुत्तरं होंति
जंभवदुक्ख विमोक्खं दो विन पूरेंति पाडिवकम्।'

—सम्मति तर्क, ३-५०, ५१।

दृष्टि से सुलझाया जा सकता है। कार्य और कारण का एकान्त भेद और एकान्त अभेद ही झगड़े का मूल है। न्यायवैशेषिक आदि दर्शन एकान्तभेद मानते हैं। सांख्यदर्शन दोनों में अभेद मानता है। कारण ही कार्य है अथवा कार्य कारण रूप ही है, यह अभेद दृष्टि भी एकांगी है। आचार्य सिद्धसेन ने कार्य और कारण का यह विरोध द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि के आधार पर दूर किया। द्रव्यार्थिक दृष्टि से कार्य और कारण में कोई भेद नहीं। पर्यायार्थिक दृष्टि से दोनों में भेद है। अनेकान्त दृष्टि का यह राजमार्ग है कि दोनों को सत्य माना जाय। वस्तुतः न कार्य और कारण में एकान्त भेद है और न एकान्त अभेद ही है। यही समन्वय का मार्ग है। असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद दोनों मिलकर ही सम्यग्दृष्टि हैं।

जब हम पर्याय की ओर देखकर द्रव्य को देखते हैं, तब हमें सामान्य केवल सामान्य, अद्वैत केवल अद्वैत दिखाई देता है। जब हम द्रव्य की ओर पीठकर पर्याय को देखते हैं, तब हमें विशेष केवल विशेष, द्वैत केवल द्वैत दिखाई देता है। समन्वयवादी दोनों में समन्वय देखता है और संगति देखता है।

वेदान्त का अद्वैत अनेकान्त का संग्रह नय है। चार्वाक का भौतिक दृष्टिकोण अनेकान्त का व्यवहार नय है। बौद्धों का पर्यायवाद-क्षणिकवाद अनेकान्त का ऋजुसूत्र नय है। वैयाकरणों का शब्दद्वैत अनेकान्त का शब्द नय है। अनेकान्त दर्शन ने इन सब दृष्टिकोणों की सत्यता स्वीकार की है, किन्तु एक शर्त के साथ। शर्त यह है कि इन दृष्टिकोणों के मत समन्वय के सूत्र में ग्रथित हों तो सब सत्य हैं। जब वे अपनी सत्यता प्रमाणित कर दूसरों के अस्तित्व पर प्रहार करते हैं तो सब असत्य है। समन्वय का बोध सत्य का बोध है। समन्वय की व्याख्या सत्य की व्याख्या है। अनंत सत्य एक ही दृष्टिकोण से गम्य और एक शब्द से व्याख्यात नहीं हो सकता।

समन्वयवादी बाह्य और अंतरंग, स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त- दोनों के समन्वय सूत्र को खोजकर वस्तु की समग्रता का बोध करता है।

यही समन्वय का दृष्टिकोण आज जगत् के व्यवहार में अनिवार्य बन गया है। एक देश दूसरे देश से, एक वाद दूसरे वाद से, एक नीति दूसरी नीति से, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से एकदम भिन्न नहीं है। यही भिन्नता की वृत्ति संघर्ष का मूल है। अपितु किसी दृष्टि से अभिन्न भी है। विश्व में कोई दो पदार्थ, दो वाद,

दो व्यक्ति, दो समुदाय ऐकान्तिक रूप से एकदम भिन्न नहीं हो सकते। उनकी भिन्नता में भी कोई आधारभूत अभिन्नता अवश्य रहती है। इसी सनातन सत्य का प्रयोगात्मक रूप अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में आया। हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम के विस्फोट के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। तृतीय विश्वयुद्ध की प्रलयंकारी विभीषिकाओं को सोचते हुये विश्व के समस्तराष्ट्रों ने मिलकर संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की। अंन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में यह महत्त्वपूर्ण अवसर था, जब पूँजीवादी और साम्यवादी जैसी विरोधी विचारधाराओं के राष्ट्रों ने एक साथ बैठने का तथा विश्व साहचर्य के विकास का एक समान धरातल चुना। उग्र मतभेदों में भी क्रियात्मक साम्य का यह एक अद्वितीय संगठन है, उसकी प्रभावशीलता का मूल्यांकन तो इस बात से ही हो जाता है कि विश्व का प्रत्येक राष्ट्र उसका सदस्य बने रहने में ही अपना गौरव एवं सुरक्षितता समझता है। यहीं बैठकर सभी राष्ट्र अपने विचारभेदों में समन्वय का मार्ग ढूँढने का प्रयत्न करते हैं।

●●

ग्रन्थ-सूची

संदर्भित ग्रन्थ-सूची

ग्रंथ का नाम	पृष्ठ संख्या
(संस्कृत, पालि, प्राकृत, मागधी, हिन्दी)	
१—अंगुत्तर निकाय	५, १३१, २८८
२—अमर भारती श्रमण संस्कृति विशेषांक	१०
३—अलंकार चिन्तामणि	२२
४—अष्ट सहस्त्री (विद्यानंद)	३९, ४८, ५०, ८०, १०६, ११६, १२५, १२९, १४९, २२२, २२७, २३४
५—अष्ट शती (अकलंक भाष्य)	१४४
६—अष्ट सहस्त्री विवरण (यशोविजय)	१०६, २१६, २१७
७—अष्टाध्यायी	२५२
८—अमरभारती एप्रिल १९७१, दिनकर का लेख	३०१
९—अमरभारती जून, १९७२	३११
१०—अमरभारती निर्वाण विशेषांक	३३३
११—अनेकान्त व्यवस्था (यशोविजय)	१०२, १०४, १०६

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
२९—कार्तिकेयानुप्रेक्षा (समंतभद्र)	५४
३०—काव्य-प्रकाश	८२
३१—काशिकावृत्ति	२५२
३२—कुन्दकुन्द प्राभृत-संग्रह (प्रस्तावना)	११०
३३—गणधरसार्धशतक (सुमतिगणि)	३१
३४—जैन हितैषी	१५, १८
३५—जैन शिलालेख संग्रह	१७, २२, २४, २५
३६—जैन सिद्धान्त भास्कर	२४
३७—जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार)	३०, ३२, ५९, १६१, ३१५
३८—जैन दर्शन (महेन्द्रकुमार) प्राक्कथन	३१२
३९—जैन दर्शन (डा० मोहनलाल मेहता)	२६७
४०—जैन धर्म (कैलाशचन्द्र शास्त्री) प्रस्तावना	१८१
४१—जैन साहित्य संशोधक	३२
४२—जैन तर्क भाषा	३९
४३—जैन तर्क वार्तिक	१४५
४४—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष	५३, १४७
४५—जैन जगत् समन्वय अंक	३०६, ३०८, ३१५

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
४६—जैन जगत् परिनिर्वाण अंक (डा० प्रभाकर माचवे का लेख)	३२३, ३२४
४७—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा (डा० नेमिचंद शास्त्री)	१३, १४, १६, २५, २७, २६
४८—तर्क भाषा	३६, ४०, ४२
४६—तत्त्वार्थ सूत्र (सिद्धसेन गणि टीका)	५०
५०—तत्त्वार्थ सूत्र व भाष्य (उमास्वाति)	७०, ७६, ८६, ८८, १०२ १०९, ११८, १२२, १२५, १३८, १४४, १५४, २९२
५१—तत्त्वार्थ सूत्र (सर्वार्थसिद्धिटीका)	१०४, ११६
५२—तत्त्वार्थ-राजवार्तिक	८६, ८८, ८६, ६०, ६१, १२६, १६०, १८७, २१६, २२२, २२७, २३६, २३७
५३—तत्त्व संग्रह (बौद्ध दर्शन)	१७०
५४—तीर्थंकर महावीर (डा० भारिल्ल)	५०
५५—तत्त्वोपप्लवसिंह (बौद्ध)	५६, १६९
५६—तैत्तिरीयोपनिषद्	१४०, २७३, २८५
५७—दर्शनसार	१३, १६
५८—धर्म संग्रहणी प्रस्तावना	३२
५९—धर्मबिन्दु (हरिभद्र) प्रस्तावना	३५
६०—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (सिद्धसेन)	१९०

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
६१—दर्शन अनुचिन्तन (महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी)	२६६, २७०, २८१, ३०६
६२—दर्शन दिग्दर्शन (राहुल सांकृत्यायन)	२९६
६३—धवला टीका	५४
६४—न्याय-खंडन-खाद्य (यशोविजय)	११
६५—न्यायावतार (सिद्धसेन)	१२५, १२८, १२६, १३४, १३७
६६—न्यायावतार (विद्याभूषण संस्करण)	२८, ४८, ४६
६७—न्यायावतार प्रस्तावना (डा० वैद्य)	२७, २६
६८—न्याय सूत्र (गौतम)	२३७, २७२
६६—न्यायभाष्य (वात्स्यायन)	४६, १२६, १२७, २१६, २४३, २६६, २७२
७०—न्यायवार्तिक (उद्योतकर)	४६
७१—न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका (वाचस्पति मिश्र)	५६
७२—न्यायकुमुदचंद्र (प्रभाचन्द्राचार्य)	४६, २२२, २२४, ३११
७३—नंदी-सूत्र (मलयगिरि टीका)	६३, ६४, ६७
७४—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली (प्रभाटीका)	१०६, २२०, २२६
७५—नयचक्र (देवसेन)	१२५, १३१, १३२, १३३
७६—न्यायबिन्दु	२६३, २६५

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
९३—प्रशस्तपाद-भाष्य (वैशेषिक दर्शन)	८५, २७०, २७१
९४—प्रमेय-कमल मार्तण्ड (प्रभाचन्द्र)	१२७
९५—प्रमाण-वार्तिकालंकार	१३७
९६—पूर्वी और पश्चिमी दर्शन	१८३
९७—पातंजल योगसूत्र	२७६
९८—पातंजल योगभाष्य	५८, २७६, २९३
९९—पंचदशी	२८२
१००—पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग	२९९, ३००
१०१—पश्चिमी दर्शन (डा० दीवानचन्द)	२९९, ३००
१०२—बौद्ध दर्शन (शर्बेत्सकाय)	३००
१०३—बोधिचर्या	२८८
१०४—बोध पाहुड़ (कुन्दकुन्द)	१८
१०५—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र (समंतभद्र)	१२८, २२७, २३६
१०६—बृहदारण्यकोपनिषत्	२८५
१०७—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	१७२, १७५
१०८—ब्रह्मसूत्र निंबार्क भाष्य	१७७, १७८, २१३
१०९—ब्रह्मसूत्र श्रीकंठ भाष्य	१७८, २९६
११०—ब्रह्मसूत्र श्रीकंठभाष्य की टीका	१७९, २९६
१११—ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य	१८०, २९६
११२—ब्रह्मसूत्र विज्ञानामृतभाष्य	१८१, २९७

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
१२८—मार्गपरिशुद्धि (यशोविजय)	१००, १०१, ११४, १२८
१२९—मुंडकोपनिषत्	१४२
१३०—मीमांसा दर्शन	२७९
१३१—माध्यमिक वृत्ति	२८८
१३२—युक्त्यनुशासन (समंतभद्र)	४८, ८३, ८४, १२८, १४४, १४७, २१९
१३३—रत्नाकरावतारिका	४८, ८३, १२६, १२८
१३४—लघीयस्त्रय	१२०
१३५—वैदिक इंडेक्स	९
१३६—वारस अणुवेक्खा (कुन्दकुन्द)	१३
१३७—वेदवाद द्वात्रिंशिका (सिद्धसेन)	२७
१३८—विशेषावश्यक भाष्य	६४, ६६, १२७, १२९
१३९—विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि	१९५
१४०—व्योमवती टीका (ब्रह्मसूत्रभाष्य)	१७१
१४१—वेदान्तदीप	१७६
१४२—वेदान्तसार	१७७
१४३—वीतरागस्तोत्र (हेमचन्द्राचार्य)	२६२, २७३, २७५
१४४—विनयपिटक	२६९
१४५—श्रमण संस्कृति का विकास एवं विस्तार (डा० पुष्यमित्र)	१०

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
१५८—समयसार (आत्मख्याति टीका)	७८, ७९, १११, ११३, १३२
१५९—समदर्शी आचार्य हरिभद्र (डा० सुखलाल सिंघवी)	३१, ३२, ३४, ३५, ३९
१६०—स्तुतिविद्या (वसुनन्दी)	२३
१६१—सप्तभंगीतरंगिणी (विमलदास)	४८, ५१, १३९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १६२, १८८, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०९, २१९, २२२, २२३, २३४, २६२
१६२—स्याद्वादमंजरी (मल्लिषेण)	४९, ५६, १२६, १२९, १३०, १३७, १३८, १५५, १५७, १५८, १६०, १८८, १९५, २३२, २३४
१६३—स्वयंभू स्तोत्र (समंतभद्र)	४९, ५४, ८१, ८३, ८४, १०५, १२५
१६४—सर्वदर्शन संग्रह	५०, २६७, २८३
१६५—सर्वदर्शन संग्रह (भूमिका)	२८३
१६६—सन्मति तर्क (सिद्धसेन)	५३, ८५, ८६, ९०, ९१, ९२, ९३, १०६, १०७, १२३, १२४, १२९, १३१, १४४, १६१, १८६, २१३, २१५, २१६, २३५, २५५, २५६, ३३६
१६७—समवायांग सूत्र	५९, ६०, १३२

अंग्रेजी ग्रंथ

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
3—Indian Antiquary	18
4—Inscription at Shrawan Belgola	25
5—Gautam the Budha (गुजराती अनुवाद) (Dr. Radhakrishnan)	5
6—German Idiology (Marx Engels)	3
7—Jain Logic and Episto-mology	314
8—The Life of Ramkrishna (Romain Roland)	302

•••

अनेकान्तवाद

एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० राजेन्द्रलाल डोसी